मातृभूमि और स्वराज्यशासन

विषयानुक्रमणिका

*



अथर्ववेद

भाग–दूसरा

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

भूमिका

मातृभूमि और सुयोग्य राज्यशासन

उत्तम राज्यशासनसे प्रजाका सुख बढता है, वह राज्य समृद्ध होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर उत्तम राज्य-शासन कौनसा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आज इस पृथ्वीपर अनेक प्रकारके राज्यशासन हैं। रूसमें साम्यवादी राज्यशासन है, तो अमेरिकामें प्रजातंत्रीय राज्यशासन है। इसीप्रकार अन्यान्य देशोंमें भी विभिन्न राज्यशासन हैं।

प्राचीन समयमें भी विभिन्न राज्यशासनकी प्रणालियां थीं, राज्य, महाराज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, सामन्तपर्यायी राज्य, भौज्य, वैराज्य, आधिपत्यमय राज्य, जान-राज्य आदि अनेक तरहके राज्यशासन हमें वेदों और ब्राह्मण-ग्रंथोंमें देखनेको मिलते हैं। आज जिसप्रकार विभिन्न राज्य-शासन हैं उसीप्रकार वैदिककालमें भी थे। ब्राह्मण-ग्रंथोंमें किस दिशामें किस तरहका राज्यशासन था, इस सबका वर्णन है। इनके अलावा ब्राह्मणोंमें हमें सम्पूर्ण पृथ्वीके एक राज्यकी कल्पना भी देखनेको मिलती है। ऐतरेय-ब्राह्मणका वचन है—

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्॥ (ऐ. ब्रा.)

"समुद्रपर्यंत जितनी पृथ्वी है, उस सब पृथ्वीका राजा एक हो और राज्यशासन भी एक हो"। आज जिसप्रकार संयुक्त-राष्ट्र-संघ (यू. नो) की कल्पना है, वैसी ही "पृथिव्याः एकराट्" की कल्पना है। अलग अलग राज्य हों और वे भी स्वतन्त्र हों, तो उनमें परस्पर युद्धकी सम्भावना बनी रहती है। यह युद्ध होकर मानवताका संहार न हो, इस हेतुसे ऋषियोंने "पृथिव्याः एकराट्" की कल्पना लोगोंके सामने रखी। आजका "संयुक्त राष्ट्र-संघ" भी उसी प्राचीनकालकी कल्पनाका आधुनिक रूप है। इसे अपने उद्देश्यमें कितनी सफलता प्राप्त हुई यह और बात है। पर पृथ्वीपर एक राज्य हो, उसका विधान एक हो, यह कल्पना आजकी ही है, प्राचीनकालमें यह कल्पना मन्त्रद्रष्टाओंके मस्तिष्कमें कभी आई ही नहीं थी, यह कहना सर्वथा असंगत है।

सबकालके ज्ञानी सज्जन संपूर्ण मानवजातिका हित हो, मानवोंका व्यर्थ संहार न हो, इसलिए इसीतरह विचार करते हैं और उससे संयुक्त राज्यशासनकी कल्पना उद्भूत होती है। जैसी कल्पना इस समय उत्पन्न हुई है वैसी ही प्राचीन नेताओंमें भी उत्पन्न हुई थी, जो हम " पृथिव्या एकराट् " में देखते हैं।

" पृथिवीपर एक राज्यशासन हो " यह कल्पना ब्राह्मण-ग्रंथोंमें तो हम देखते हैं, पर इतिहासमें वैसा शासन कभी बना भी था, ऐसा हमें देखनेमें नहीं आता। अतः हम इतना ही कह सकते हैं कि यह कल्पना ऋषियों या उस समयके नेताओंके मस्तिष्कमें उत्पन्न हुई थी, पर वह कार्यरूपमें परिणित नहीं हो पाई।

आज " संयुक्त-राष्ट्र-संघ " (यू. नो.) का अस्तित्व है तो जरूर, पर उसे संसारमें किसी तरहकी सफलता प्राप्त हुई यह कहना कठिन हो है। क्योंकि हर एक राष्ट्रका स्वार्थ बीचमें आता है और उससे मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है। मानव स्वभावही ऐसा है। वह पहिले भी वैसा था और आज भी वैसा ही है।

यहां हमें इतना ही बताना है कि, प्राचीन समयमें इस पृथिवीपर अनेक राज्य थे, उनमें लडाई झगडे होते थे और उनमेंसे " पृथ्वीपर एक राज्य " की इस कल्पनाका आविर्भाव हुआ; पर वैसा संपूर्ण पृथ्वीपर एक राज्य कभी बना नहीं। मानवोंकी बौद्धिक उन्नति राज्य, साम्राज्य और स्वराज्य तक हो हुई। इसके आगे संपूर्ण पृथिवीपर एक राज्यशासनके होनेतक उन्नति नहीं हो पाई।

इस कारण हम केवल राज्य, साम्राज्य और स्वराज्यकी कल्पनाओं ही पृथिवीपर परिणित हुआ हुआ देखते हैं। स्वराज्यका अर्थ वेदोंमें " बहुपाय्य स्वराज्य " है। एक राजाके अनियंत्रित-राज्यशासनको " राज्य " और लोक-नियंत्रित-राज्यशासनको " बहुपाय्य स्वराज्य " कहा जा सकता है। वेदमें ये सब प्रकारके शासन हैं, उनमें " बहुपाय्य स्वराज्यशासन " की महिमा विशेष है।

मातृभूमिपर प्रेम

किसी प्रकारका भी राज्यशासन हो, पर हर राज्यशासनमें जनतामें मातृभूमिके विषयमें प्रेम होना आवश्यक है। वेदमें मातृभूमिका सूक्त इस दृष्टिसे मनन करने योग्य है। किसी भी अन्य धर्मग्रंथमें मातृभूमिकी भक्तिके विषयमें कुछ भी नहीं कहा है। केवल वेदोंमें ही यह सूक्त है और इतना विस्तृत सूक्त है कि हरएक विचारकको इसके विषयमें आश्चर्य प्रतीत होगा।

वेदके मानवधर्मकी पूर्णता इससे स्पष्ट होती है। मानवके जीवन व्यवहारमें जितने पहलू हैं, उतने सब पहलुओंमें उत्तम उपदेश वेद देता है। इस पुस्तकमें पाठक मातृभूमि और राज्यशासनके विषयके साथ संबंध रखनेवाले सब विषय देख सकते हैं।

प्रथम भागमें जैसे " ब्रह्मविद्या " के सूक्त दिये हैं, उसी तरह इस द्वितीय भागमें " मातृभूमि और राज्यशासन " विषयके साथ संबंध रखनेवाले सब सूक्त दिये हैं—

१ " मातृभूमि "– माता भूमि, विराट्, राष्ट्रीदेवी, राष्ट्रसभाकी राजाके लिये अनुमति।

२ " राजा "– राजाका कर्तव्य, राजाकी स्थिरता, राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि, राजाका राज्याभिषेक, राजाके बनानेवाले, राजाका चुनाव, विजयी राजा, राजाकी राज्यपर पुनः स्थापना।

३ " राजाका धर्म "– क्षत्रियका धर्म, प्रजाका पालन, ब्रिद्वानोंके पालक और रक्षक, राष्ट्रका संवर्धन तथा संरक्षण करना।

४ " दुष्टोंका नाश "– दुष्टनाश, शत्रुदमन, दुष्टोंका संहार, सेना संमोहन, पापसे बचाव, दुःखविमोचन, विजय प्राप्ति।

५ " विजयकी प्राप्ति "– अभ्युदयकी प्रार्थना, पराक्रमसे विजय, विजयकी प्रार्थना, कर्म और विजय, वर्चः-प्राप्ति, ज्ञान और शौर्यकी ओजस्विता, तेजस्वितासे अभ्युदय, तेजस्विताकी प्राप्ति, अभ्युदयकी दिशा।

६ " संरक्षण "– सुरक्षा, बलप्राप्ति, आत्मशुद्धि, उत्तम और श्रेष्ठ बनना, यशस्वी होना, निर्भयता, कल्याण, पवित्रता, शुद्धता, उत्तम मार्गसे जाना।

७ " आनन्द "– पुष्टि, सुख, ज्ञान, बन्धनसे मुक्ति, क्रोधका शमन, सिद्धि।

८ " युद्ध-साधन "– युद्धके साधन, रथ, दुंदुभि, राजाकी स्थिरता, शूरवीर।

इतने शीर्षकोंके अन्तर्गत करीब ११२ सूक्त और एक हजार मंत्र इस प्रकरणमें हैं। इन मंत्रोंके विचार करनेसे वेदके राज्यशासन-प्रकरणका पूर्ण रीतिसे ज्ञान हो सकता है। उदाहरणके लिये कुछ मंत्र यहां बताते हैं—

मातृभूमिके धारक-गुण

मातृभूमिका धारण किन गुणोंसे होता है, इस विषयमें मातृभूमिके सूक्तके प्रथम मंत्रमें इस तरह कहा है—

सत्यं बृहद् ऋतं उग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥ (अथर्व. १२।१।१)

" सत्य, सरलता, उग्रता, दक्षता, धर्मनियमके पालन करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करना, ज्ञान और यज्ञभाव ये गुण मातृभूमिका रक्षण करते हैं। मातृभूमिको स्वतंत्र रखनेके लिये प्रजाजनोंमें इन गुणोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। जहांके प्रजाजन इन गुणोंसे संपन्न होंगे, वह मातृभूमि स्वतंत्र, तेजस्विनी उज्वल तथा कीर्तिमती हो सकती है। यह मातृभूमि पराक्रमी पुरुषोंकी " जननी " है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ॥ (अथर्व. १२।१।५)

" जिस मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वज बडे बडे पराक्रम करते रहे, और जिस मातृभूमिसे देवोंने असुरोंको दूर किया था।" इस इतिहासकी याद यह मंत्र हमें दिला रहा है। इससे प्राचीन इतिहासका स्मरण होता है और इससे मातृभूमिके विषयमें प्रेम बढता है और ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होता है कि अपनी मातृभूमिके विषयमें हमें भी कुछ करना चाहिये, जो हमारे प्राचीन पूर्वजोंके अनुसार हो।

अजीतोऽहतो अध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥
(अथर्व. १२।१।११)

" अजेय होकर, युद्धमें न मरकर, व्रण आदि रहित होकर मैं अपनी मातृभूमि पर अध्यक्ष होकर विराजूं।" इस तरह अपनी मातृभूमिमें अध्यक्ष होकर अच्छा कार्य करूं। ऐसे विचार मनुष्य मनमें धारण करें।

त्वज्जाताः त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वयेमे पृथिवि पञ्च मानवाः ॥ (अथर्व. १२।१।१५)

" हे मातृभूमि ! हम सब पांचों मानव तुझसे उत्पन्न हुए और तेरे ही अन्दर भ्रमण करते हैं।" इस मंत्रसे पञ्चजनोंके संगठनकी उच्चभावना सूचित होती है। तथा—

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्यात् योऽभिदा-
सात् मनसा यो वधेन । तं नो भूमे रंधय ॥
(अथर्व. १२।१।१४)

" हे पृथिवि ! जो हमसे द्वेष करता है, जो सैन्य भेजकर हमसे युद्ध करता है, जो मनसे हमें दास बनानेका इच्छुक है, उन सबका नाश कर।"

ऋषियोंका स्मरण

पूर्व समयमें अपनी मातृभूमिमें उत्पन्न हुए हुए महात्मा ऋषियोंका स्मरण भी इस सूक्तमें किया है—

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
(अथर्व. १२।१।३९)

" जिस मातृभूमिमें पूर्व समयमें भूतकालका इतिहास बनानेवाले बडे ऋषि हुए थे।" इस तरह प्राचीन कालके ऋषियोंके विषयमें उत्तम प्रकारसे स्मरण किया है।

मातृभूमिके विषयमें उत्तमभाषण

अपनी मातृभूमिके विषयमें सदा उत्तम भाषण ही करना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥
(अथर्व १२।१।५६)

" जो ग्राम, अरण्य, सभा, संग्राम और समिति हैं, उनमें हम तुम्हारे विषयमें अच्छा ही बोलें।"

दीर्घं नः आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ (अथर्व. १२।१।६२)

" हमें दीर्घ आयु प्राप्त हो, हम उत्तम ज्ञानी बनें और मातृभूमिके लिये अपनी बलि दें।"

इस तरह अपनी मातृभूमिके विषयमें कितने उच्च विचार वेदमें बताये हैं, पाठक इनका विचार करें और अपनी मातृभूमिके विषयमें ये ही विचार सदा मनमें धारण करें, तथा मातृभूमिकी सेवा करके कृतकृत्य होकर अपने जीवनको सार्थक करें।

वैदिककालमें अनेक शासन-पद्धतियां प्रचलित थीं। उनमें प्रथम " वि-राट् " पद्धतिका शासन सामने आता है। उस विषयमें वेद यह कहता है।

वैराज्यकी व्यवस्था

विराड् वा इदम् अग्र आसीत् तस्या जातायाः
सर्वं अबिभेद् इयमेवेदं भविष्यति इति ।
(अथर्व. ८।१०।१)

" विराट् ही प्रथम था। उससे सबको भय हुआ कि यदि

सदा यही विराट् रहेगा तो कैसे शासन चलेगा ? इस विराट्का क्या अर्थ है और उससे प्रजायें भयभीत क्यों हुईं, इसका समाधान निम्न है—

" विराट् (वि-राज्) " का अर्थ " राजा नहीं " । राजाकी विरोधी अवस्था, राजाहीन स्थिति । प्रारंभमें राजा नहीं था । लोग ही अपना सब कारोबार करते थे । ग्रामकी जनता मिलकर अपने ग्रामकी सब व्यवस्था करती थी । सब ग्राम ऐसे ही जनशासित थे । राजशक्ति नहीं थी, जो सबका शासन कर सके । यह राजविहीन अवस्था देख कर सज्जनोंको भय होने लगा, कि ऐसी ही राजविहीन स्थिति रहेगी, तो जनताकी उन्नति किस तरह हो सकेगी ? यह भय सज्जनोंके मनमें उत्पन्न हुआ और यह भय योग्य भी था । *सोचते सोचते ग्रामसभायें स्थापित करनेका विचार* निश्चित किया, जिससे—

सा उदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्
सा उदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्
सा उदक्रामत् साऽमन्त्रणे न्यक्रामत् ।
(अथर्व. ८।१०।८-१२)

" वह जनशक्ति उत्क्रान्त होकर-ग्रामसभामें परिणित हुई । वह जनशक्ति और अधिक उत्क्रान्त होकर राष्ट्रसमितिमें परिणित हुई, अन्तमें वह जनशक्ति अत्यधिक उन्नत हुई और मंत्रिमण्डलमें परिणित हो गई । "

इस तरह ग्राममें ग्रामसभा, राष्ट्रमें राष्ट्रसमिति और मंत्रिमण्डल स्थापित हुए और राज्यशासन चलने लगा और इन सभा समितियोंका जो अध्यक्ष था, उसीको राजा बननेका मान अन्तमें प्राप्त हुआ । इस तरह " विराट् " अवस्थासे " राजा " के शासन होनेतक प्रजाशक्तिके उन्नतिका क्रम यह था । इसीका नाम " राष्ट्री " शक्ति है । यह राष्ट्रकी जनशक्ति है यह राजामें केन्द्रित रहती है । इस विषयमें कहा है—

राष्ट्री देवी

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ॥ १ ॥
यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि,
तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ॥७॥ (अथर्व. ४।३०)

" मैं राष्ट्रशक्ति हूं । मैं धनोंको एकत्रित करनेवाली हूं । मैं पूजनीयोंमें पूजनीय हूं । जिसको चाहती हूं उसको मैं उग्र-वीर बना देती हूं, उसको ब्रह्मा और उत्तम बुद्धिमान् ऋषि बनाती हूं । मेरा अपमान करनेवाले नाशको प्राप्त होते है, हे श्रद्धावान् मनुष्य ! तू यह सुन जो मैं स्वयं कहती हूं । मैं ही इस राष्ट्रपर पालन-कर्ताको नियुक्त करती हूं । "

यह राष्ट्रशक्तिका कथन है । राष्ट्रशक्ति कोई मनुष्य नहीं, जो मनुष्यके समान बोल सकती हो । पर यहां आलंकारिक रीतिसे राष्ट्रशक्तिको मनुष्यके रूपमें बोलता हुआ दिखाया गया है, जो मनुष्योंको बोधप्रद हो सकता है । राष्ट्रकी जीवित और जाग्रत शक्तिसे ये कार्य होते हैं । जगत्में जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत हैं, वे ही विशेष कार्य करते हुए *नजर आते हैं । इसका कारण स्पष्ट है । अस्तु । यह राष्ट्र* शक्तिका प्रभाव ऐसा महान् है ।

राष्ट्रसभाकी अनुमति

राष्ट्रशक्तिका अर्थ है राष्ट्रकी जनताकी संघशक्ति । यह राष्ट्रकी सभामें एकत्रित हुई होती है । राष्ट्रके ज्ञान-विज्ञान-संपन्न होने पर यह शक्ति प्रभावित होती है, अन्यथा यह शक्ति प्रभावित नहीं होती । इन राष्ट्रसभाओंका प्रभाव कितना बड़ा होता है, वह देखिये—

सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । (अथर्व. ७।१२।१)

राजा कहता है- " सभा और राष्ट्रकी समिति मिलकर मेरा संरक्षण करें, ये राजाकी आज्ञासे बनाई जाती हैं, इस लिए ये राजाकी दुहिताएं हैं, अर्थात् राजाकी आज्ञामें ये म रहकर स्वतंत्रतासे राज्यव्यवहार करती हैं । अतः राजाका भी ये रक्षण करती हैं । " राष्ट्रसमिति और ग्रामसभा इनका सामर्थ्य इतना है कि इनकी अनुकूलता सम्पादन करके ही *राजा राजगद्दी पर स्थिर रह सकता है, अन्यथा नहीं ।* इतनी शक्ति राजसभाओंकी वैदिक समयमें थी ।

राजा कैसा हो

राष्ट्रका संरक्षण करनेके लिये कोई अच्छा शासक राजगद्दी पर होना चाहिये । उस शासकमें गुण ये होने चाहिए-

इंद्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः
सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु
सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ (अथर्व. ७।९१।१)

" राजा (सु-त्रामा) प्रजाका उत्तम संरक्षण करनेवाला

हो, (स्वर्वां) अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाला हो, (अयोभिः) सरक्षण शक्तियोंसे युक्त हो। (सुमृडीकः) प्रजाको उत्तम सुख देनेवाला हो, (विश्ववेदाः) सब धनों और ज्ञानोंसे युक्त हो। वह शत्रुओंको बाधा पहुचावे और हमारे लिए निर्भयता करे। हम उत्तम पराक्रमके अथवा धनके स्वामी बनकर रहें।"

ये राजाके गुण हैं। राजा ऐसा हो। राजाकी सुव्यवस्था ऐसी हो कि प्रजा उसपर निर्भर होकर सुखी और धनी बने।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः
शिवाभिः अद्य परि पाहि नो गयम्। (अथर्व ७।८४।१)

"सब रोगोंको दूर कर, मनुष्योंके कल्याण करनेके साधनोंसे हमारे घरकी सुरक्षा हो।"

राज्यकी सुव्यवस्थासे प्रजा रोगमुक्त होनी चाहिये और स्वर्वत्र सुरक्षितता रहनी चाहिये। उसका लक्षण यह है—

अपानुदो जनं अमित्रयन्तम्। (अथर्व ७।८४।२)

"शत्रुता करनेवाले लोगोंको दूर करे।" समाजमें शत्रु न रहें इसप्रकार सुरक्षाका प्रबन्ध राजाको करना चाहिये, तथा—

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्
शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीची
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। (अथर्व ६।८८।३)

"राजा अपने कर्तव्यपर स्थिर रहे, कर्तव्यभ्रष्ट न हो, शत्रुओंका नाश करे, शत्रुता करनेवालोंको नीचे गिरा देवे। सब दिशाओंमें रहनेवाले लोग एक उत्तम विचारके हों। राजाको स्थिरताके लिये राष्ट्रसमिति स्थापित हो।"

राजाकी स्थिरता राष्ट्रसभाकी अनुकूलतासे ही होती है, यह यहां तात्पर्य है।

राजाके निर्माता

प्रजाजन ही राजाके निर्माता हैं। ग्रामके लोग ग्रामसभाके सदस्य चुनते हैं, राष्ट्रके लोग राष्ट्रसमितिके सदस्य चुनकर देते हैं और ये सदस्य अपनेमेंसे मन्त्रिमडल बनाते हैं और यह मन्त्रिमडल एक शूरवीरको नियुक्त करके उसे राजगद्दी पर बिठलाता है।

ये राजानो राजकृतः सूताः ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं
सर्वान् कृण्वु अभितो जनान्॥ (अथर्व ३।५।७)

"जो शासक हैं, जो राजाको बनानेवाले लोग हैं, जो सूत और ग्रामके नेता हैं, इन सबको राजाके अनुकूल रखना चाहिए।"

इनके अनुकूल रहने पर ही राजा यहांपर सुरक्षित रह सकता है। राजाकी शक्ति प्रजाजनोंकी अनुकूलता पर ही अवलंबित रहती है। इसी विषयमें और देखिये—

त्वां विशो वृणतां राज्याय
त्वां इमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ (अथर्व ३।४।२)

"हे राजन! ये चारों दिशाओंमें रहनेवाले जो पञ्चजन हैं, वे सब राज्यके शासनाधिकारके लिये तुझे चुनें। बलवान् बनकर तू राज्यके उच्च स्थान पर विराजमान हो और वहांसे हमें धन विभक्त करके दे।" हमें योग्य रीतिसे धन प्राप्त हो ऐसी सुव्यवस्था कर। तथा और देखिये—

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी॥ १॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः॥२॥
(अथर्व १।२१)

"प्रजाका पालक राजा प्रजाजनोंका कल्याण करनेवाला हो, वह शत्रुका वध करे, ताकि वे शत्रु स्वतन्त्र न रहें और वे कभी उन्नत न हों। सैन्यसे हम पर जो चढाई करते हैं उनको नीचे गिरा दे। हमारे शत्रुओंको राजा परास्त करे।"

राजाका कर

राज्यशासन चलानेके लिये व्यय होता है। यह व्यय प्रजा अपनी आमदनीसे देती है। इसको 'कर' कहते हैं। इस विषयमें कहा है—

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य
षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविः तस्मात् प्र मुञ्चति
दत्तः शितिपात् स्वधा॥ (अथर्व ३।२९।१)

"राजा प्रजासे उनकी आमदनीका सोलहवां भाग कर के रूपमें लेते हैं। नियामक राजाके राष्ट्रसभाके जो सदस्य हैं, वे इस करका अनुमोदन करते हैं। यह (अविः) सरक्षक कर है, यह प्रजाको विनाशसे बचाता है।"

यहां आमदनीका सोलहवां भाग कर रूपमें लेनेका विधान है। स्मृतियोंमें प्रजाकी आमदनीका छठा भाग लेनेका विधान है। वेदके समयमें १६ वें भागसे राजाका कार्य चलता था, पर स्मृतियोंके समयमें उसी कार्यको करनेके लिये छठे भागकी

आवश्यकता हुई। अर्थात् किसीको प्राप्ति १००] रु हुई तो वैदिक समयमें ६] रु करके रुपये लेते थे। और स्मृतियोंके समयें १६] रु. लेने लगे। आज धनिकोंसे सौमें ८०] या ९०] रु. तक लेनेकी आवश्यकता इस समयके राज्यशासकोंको प्रतीत होती है। समयका यह परिवर्तन है।

दुष्टोंका नाश

'ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे
द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ (अथर्व ८।४।२)

" जो ज्ञानसे द्वेष करता है, जो कच्चा मांस खाता है, जिसकी दृष्टिमें क्रूरता है, जो यह क्या है ? यह क्या है ? कहकर सब खा जाता है ऐसे क्रूरकर्मा लोगोंके साथ द्वेष करो।" ये लोग समाजमें उपद्रव पैदा करनेवाले हैं। तथा—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥
(अथर्व ८।४।२२)

" उल्लूके समान जो अज्ञानी हैं, भेडियेके समान जो क्रोधी हैं, कुत्तेके समान जो आपसमें झगडते हैं, चिडियेके समान जो अतिकामी हैं, गरुडके समान जो घमंडी हैं, गीधके समान जो लोभी हैं, उन सबका नाश कर और हमें सुरक्षित रख।" ये छः मनोविकार हैं, जिन्हें काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और मत्सर कहते हैं। मनुष्योंको इन विकारोंसे दूर रहना चाहिये। समाजमें भी ऐसे लोग कम होने चाहिये। राजाके नियन्त्रणसे यह किया जा सकता है। राजदण्डके भयसे यह नियन्त्रण राष्ट्रमें रखा जा सकता है। इन छः दुर्गुणोंसे जो दूर रहते हैं, वे ही सज्जन हैं। समाज वही अच्छा है जिसमें ये छः प्रकारके दुर्गुणी संख्यामें कम हों और सद्गुणी संख्यामें अधिक हों।

वधदण्ड

राज्यशासन दुष्टोंको वधदण्ड दे सकता है। इस विषयमें ये मन्त्रभाग देखने योग्य हैं—

अघ्निः हतं म्योपतं। अशसं तर्हणं वधं वर्तयतम्।
द्रुहः भङ्गुरावतः रक्षसः हतम्।
पिशुनेभ्यो वधं शिशीते। (अथर्व ८।४)

" क्रोधी, पापी, द्रोही, विनाशक, चुगली करनेवाले, राक्षसी वृत्तिवाले, इनको वध दण्ड देना चाहिये। तथा—

यो नः स्वो यो अरणः सजात
उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥
यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः।
देवाः तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥
(अथर्व १।१९)

" जो अपना स्वजातीय है, जो परकीय या हीन है, जो नीच है, जो हमें दास बनाता है जो हमारा सौतेला है और सगा भाई है जो हमें शाप देता है और सदा हमसे द्वेष करता है, सब देव उनका नाश करें। सत्यज्ञान मेरा कवच हो।"

इस तरह शत्रुके नाश करनेके विषयमें वेदमें कहा है। शत्रुओंके नष्ट हो जाने पर ही राष्ट्र सुखी हो सकता है, निर्भय हो सकता है और उन्नतिके कार्य करनेमें दत्तचित्त रह सकता है।

शत्रुसेनाका संमोहन

शत्रुकी सेनाको समोहित करके उसका नाश करना वैदिक युद्धनीतिके अनुसार योग्य है। देखिये—

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवत् ॥ १॥
इन्द्रः सेनां मोहयामित्राणाम् ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्तु ओजसा।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥
(अथर्व ३।१)

" वह शत्रुकी सेनाको मोहित करे, शत्रुकी सेनाको हस्तरहित करे, और शत्रुसेनाको मोहित करे और सैनिक उनका वध करे। उनकी आंख अग्नि बिगाडे और इस तरह शत्रुसेना पराभूत हो जाये " और अपनी विजय हो। और देखिये—

असौ या सेना मरुतः परेषा
अस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन
यथैषां अन्यो अन्यं न जानात् ॥ (अथर्व ३।२।६)

" यह शत्रुकी सेना स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आ रही है, उस सेनाको तमसास्त्रसे बींधो, जिससे कि एक सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके, ऐसी घबराहट उनमें पैदा हो। ताकि उनके नष्ट हो जानेपर अपनी विजय हो। यह युद्धकी नीति है।

पापीभावनाको दूर करो

राष्ट्रमें अथवा व्यक्तिमें जो भी दोष होते हैं वे पापभावनासे ही होते हैं। इसलिये राज्यशासन द्वारा ऐसा प्रबंध

होना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें पापीभावना न्यून होती जाय और पुण्यभावना अधिकाधिक बढे। इससे राष्ट्रकी उन्नति अवश्य होगी। इसलिये वेदमें पापभावको दूर करनेके लिये अनेक आदेश दिये हैं जो राष्ट्रहितके पोषक हैं, देखिये-

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥१॥
यदि जाग्रत् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥
(अथर्व ६।११५)

" जानते हुए अथवा न जानते हुए हमने जो पाप किये हों। हे देवो! उन पापोंसे तुम मिलकर हमें मुक्त करो। यदि जागते हुए अथवा सोते हुए मैं पाप करूं तो उस पाप प्रवृत्तिसे मुझे उसीप्रकार मुक्त करो जिसप्रकार पशुको बंधनसे।

अभ्युदयके लिये

अभ्युदयके लिये वेदके आदेश बडे अच्छे हैं। वेद कहता है कि मानवोंको अभ्युदय अवश्य प्राप्त करना चाहिये। इस संबंधमें यह मंत्र मनन करने योग्य है—

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम्।
(अथर्व १७।१।१)

" अत्यंत सामर्थ्यवान, अत्यंत बलवान, नित्य विजयी, शत्रुको हटानेवाले, महाबलिष्ठ, बलसे दिग्विजय करनेवाले, अपने निज सामर्थ्यसे शत्रुको जीतनेवाले, गौओंको प्राप्त करने वाले धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, प्रशंसनीय यशवाले प्रभुकी मैं प्रार्थना करता हूं जिससे मैं आयुष्मान् होऊं। "

यह प्रभुकी प्रार्थना है, इन्द्रकी प्रार्थना है। इसमें इन्द्रके उन्हीं गुणोंको कहा है कि जो विजय और अभ्युदयके साथ संबंध रखनेवाले हैं। इन गुणोंका सतत विचार करनेसे मनुष्य इन शुभ गुणोंसे गुणवान् बन सकता है और अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। इस प्रार्थनामें जो गुण कहे हैं, वे गुण साधकको अपने अंदर धारण करने और बढाने चाहिये। ऐसा करनेसे क्या होता है वह इसी सूक्तमें कहा है, देखिये-

प्रियो देवानां भूयासम् ॥२॥
प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥३॥
प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥ (अथर्व १७।१)

" मैं देवोंका प्रिय बनूं, मैं प्रजाओंको प्रिय होऊं और मेरे समान जो लोग हैं उनका भी मैं प्रिय बनूं। ' यही अभ्युदयका स्वरूप है। सब लोगोंके अंदर जिसके विषयमें प्रेम हो वही अभ्युदयको प्राप्त हुआ हुआ मनुष्य है।

मनुष्य विजय चाहता है अत एव उसको पराक्रम करना चाहिये। पराक्रमके बिना विजय असंभव है। अत कहा है—

पराक्रमसे विजय

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज
यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥
बृहत् ते जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यं।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान
शक्रो दस्यूनां अभिधाय सेनया ॥७॥
(अथर्व ८।८)

' सेनाके साथ रहनेवाले महान् इन्द्रका जाल भी महान् ही है। हे इन्द्र! उससे शत्रुओंको सब ओरसे अपने आधीन कर, जिससे इनमेंसे एक भी न छूट सके। हे शूर इन्द्र! सहस्रों द्वारा संपूजित और सैकडों सामर्थ्यवाले तेरा जाल बडा है। उस जालसे घेर कर अपनी सेना द्वारा इन्द्र शत्रुओंकि सकडों, हजारों और लाखों तथा करोडों सैनिकोंको मारता है। '

यह है इन्द्रका पराक्रम। ऐसे पराक्रम करनेसे इन्द्र विजयी होता है। इससे सिद्ध होता है कि यदि हम भी वैसा पराक्रम करें, तो हमारी विजय हो सकती है। पराक्रम ही विजयका मूल है। अत मनुष्य पराक्रम करनेकी अभिलाषा धारण करें और विजयी हों।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्र
स्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥ (अथर्व ५।३।१)

" युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होता रहे। हम तुझे प्रदीप्त करके अपने शरीरको पुष्ट करें। चारों दिशाएं मेरे सम्मुख नम्र होकर रहें। तुम अध्यक्षके साथ रहकर हम संग्रामोंमें विजय प्राप्त करें। '

वीरका तेज हरएक कार्यमें प्रकाशित हो, शरीर हृष्टपुष्ट और बलवान् हो, शक्तिसे शरीर संपन्न हो। चारों दिशाओंमें यह वीर पराक्रम करे और चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग इस वीरके सामने अपना सिर झुकावे ऐसा इसका प्रभाव हो। हरएक युद्धमें इसकी विजय होती रहे। और देखिये—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजित् भूयासं अश्वजित् धनंजयो हिरण्यजित् ॥
(अथर्व. ७।५०।८)

"पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है और मेरे बायें हाथमें जय है। मैं गौओं और घोडोंको जीतनेवाला, सुवर्ण तथा धनका विजय करनेवाला होऊं।"

इस मन्त्रमें जो आत्मविश्वास बताया है, वह प्रत्येक मनुष्य सदा मनमें धारण करे। "मेरे एक हाथमें पुरुषार्थ है और दूसरे हाथमें विजय है।" यह विचार सदा मनमें रहे। आत्मविश्वासका यह विचार है जो मनको उत्साहित करता है और कार्यकर्ताको विजयी यशकी ओर ले जाता है। इस विचारको मनमें स्थिर करनेके लिये आवश्यक है कि हमारा ज्ञान और कर्मकी कुशलता विशाल हो, इस विचारको मनमें स्थायी रखनेके लिये मनुष्य अपनी भरपूर तैयारी करे और कहे कि मेरे एक हाथमें पुरुषार्थ है और दूसरे हाथमें विजय है।

ज्ञान और शौर्य

यदि विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो ज्ञान और शौर्य ये दो गुण जरूर चाहिये। इस विषयमें कहा है—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु
जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तां अधरे भवन्तु
ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यात्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
(अथर्व. ३।१९)

"मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा यह वीर्य और बल तेजस्वी है। मेरा तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न हो, जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं उनकी विजय हो। मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी बनाता हूं, मैं इन प्रजाजनोंका बल, वीर्य और ओज तेजस्वी बनाता हूं। मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं। हमारे शत्रु नीचे गिरें, हमारे शत्रु अवनत हो जायें। जो हमारे धनवानों और विद्वानोंपर चढाई करके उनको कष्ट देते हैं उन शत्रुओंका मैं नाश करता हूं। मैं ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और अपने लोगोंको उन्नत करता हूं।"

राष्ट्रहितैषी मनुष्यको ऐसे विचार मनमें धारण करने चाहिये। उन्हें अपने लोगोंका उद्धार करने और शत्रुओंको नीचे गिरानेका यत्न करना चाहिये। अपने राष्ट्रके लोग उठें और शत्रुके सैनिक विनष्ट हो जायें। ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे शत्रु बढ न सके, शत्रुकी शक्ति सदा क्षीण होती रहे। अपनी हर प्रकारकी शक्ति बढे और शत्रुकी शक्ति क्षीण हो। वीरका जो चातुर्य है उसका उपयोग इस प्रकारकी आयोजनाओंके लिये होना चाहिये।

राष्ट्रकी प्रतिष्ठा ऐसे पराक्रमके कार्योंसे बढती है। राष्ट्र अपनी शक्तिसे बढता है। जनताकी उन्नतिपर राष्ट्रकी उन्नति अवलंबित रहती है। इसलिये वेदकी शब्द-योजना इस बातकी सूचना साक्षात् या परंपरासे वारवार देती है।

उन्नत राजाका स्वरूप

राज्यशासन जो करता है वह राजा होता है, वह उन्नतिको प्राप्त होकर किस मर्यादातक प्रतिष्ठित होता है, उसका विचार नीचे दिये मन्त्रोंमें किया है—

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म
इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वां-
स्तान् रन्धय अस्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥
एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु
निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजे-
न्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥ २ ॥
अयमस्तु धनपतिर्धनानां
अयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन् इन्द्र महि वर्चांसि धेह्य-
वर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥ (अथर्व. ४।२२)

"हे इन्द्र! इस क्षत्रियको बढा। इसको प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान् कर। इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और स्पर्धाके समय इसके सब शत्रुओंको नष्ट भ्रष्ट कर। यह राजा क्षत्रियोंके गुणोंकी साक्षात् मूर्ति हो। इसके सब शत्रुओंको नष्ट कर। यह राजा सब प्रकारके धनोंका स्वामी हो। यह राजा प्रजाजनोंका उत्तम पालक हो। हे इन्द्र! इस राजाको बडे बडे तेज दे और इसके शत्रुको निस्तेज कर।"

राजामें कौनसे गुण विशेष रीतिसे होने चाहिये इस बातका विशद वर्णन इन मन्त्रोंमें किया गया है। क्षात्रगुण सबसे पहिले अधिक चाहिये। इससे ही शत्रुओंको दूर किया जा सकता है। बढा हुआ बल उसमें होना चाहिये। निर्बल, अशक्त अथवा रोगी मनुष्य उत्तम राजा नहीं हो सकता।

शत्रुओंको वह अपने ज्ञान और क्षात्रके बलसे दूर करे और अपनी ओर सब प्रजाका प्रेम आकर्षित करे। क्षात्रगुणोंकी वह मूर्ति हो। राज्यशासनके लिये सभी आवश्यक गुण उसमें भरपूर हों। वह सब धनोंका स्वामी हो। उसका खजाना कभी खाली न हो, वह सदा भरपूर भरा रहे। सब प्रजाजन उसको प्रेमपूर्वक अपना राजा मानें। प्रजामें उसके विरोधी दल न खडे हों। उसके प्रतिपक्षी निस्तेज हों और वह ऐसे कर्म करे कि उसका तेज सदा बढता ही जाय।

राजाको ऐसे गुणोंसे युक्त होना चाहिये। राजा अपने शुभ गुणोंसे सब प्रजाका मन अपनी ओर आकर्षित करे। क्योंकि प्रजाकी अनुमतिसे ही तो उसे राजगद्दीपर रहना है। इसलिये जिसपर सब प्रजा प्रेम करे वही राजा राष्ट्रपर स्थायी रह सकता है।

आत्मशुद्धि

राजाको पवित्र आचरणवाला होना अत्यन्त आवश्यक है। भले ही सब गुण हों पर आचरण शुद्ध न हो, तो सबके सब गुण दुर्गुण ही बन जाते हैं। इतना महत्व आत्मशुद्धिका है अतः कहा है—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १॥
पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ २॥

(अथर्व. ६।१९)

"विद्वज्जन मुझे पवित्र करें। मननशील ज्ञानी लोग अपने मनसे और बुद्धिसे मुझे पवित्र बनावें। सब भूत मुझे पवित्र करें। पवित्र आचरण करनेवाला मुझे पवित्र करे। कर्म, बल और दीर्घ आयुके लिये पवित्र आचरण करनेवाला ज्ञानी मुझे पवित्र करे। इस कल्याणका विस्तार हो।"

राजा निर्दोष बने, राजाके आचरण और कार्य व्यवहारमें किसी तरहका दोष और पाप न रहे। सब विद्वज्जन इसप्रकार शुद्धि करनेमें राजाकी सहायता करें। ज्ञानी लोगोंका यह कर्तव्य ही है कि वे पवित्रता करनेमें सहायता करें। जहां दोष हो वह जानकर, उस दोषको दूर करनेमें सब ज्ञानी लोग सहायक बनें। शरीर, मन, इन्द्रियोंमें जो दोष हों, तथा राष्ट्रके व्यवहार करनेमें जो दोष होता हो, वह दूर होना चाहिये। सार्वजनिक आचरण परिशुद्ध होना चाहिये। जो राज्यके अधिकारी हों, वे तो परिशुद्ध आचरणवाले ही होने चाहिये। क्योंकि उनका ही आदर्श जनताके सामने रहता है।

सबसे श्रेष्ठ बनना

जिस तरह पवित्र बनना यह ध्येय है, उसी तरह सबसे श्रेष्ठ भी बनना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

समुद्र ईशे स्रवतां अग्निः पृथिव्या वशी।
चन्द्रमा नक्षत्राणां ईशे त्वमेकवृषो भव ॥ २॥

(अथर्व. ६।८६)

"नदियोंका स्वामी समुद्र है, पृथिवीको वशमें रखनेवाला अग्नि है, चन्द्रमा नक्षत्रोंका स्वामी है, इस तरह तुम भी बलवान् बनो।"

अहमस्मि यशस्तमः। (अथर्व. ६।३९।३)

"मैं अधिक यशस्वी होऊं।" सबसे अधिक यश मेरा हो, यह महत्वाकांक्षा है। सर्वाधिक यश पवित्र आचरणसे मिल सकता है। हरएक इस तरहकी महत्वाकांक्षा अपने मनमें धारण करे और इसके अनुरूप बननेके लिए वह प्रयत्नशील भी हो। तथा—

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु
यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु
प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ (अथर्व. ६।५८।१)

"धनवान् इन्द्र मुझे यशस्वी करे, दोनों द्यु और पृथिवी मुझे यशस्वी करें, सविता देव मुझे यशस्वी करे। दक्षिणा देनेवालेका मैं प्रिय होऊं।" सब देव मेरे यशस्वी होनेमें सहायक हों यह प्रार्थना है। और—

एवा विश्वेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम।

(अथर्व. ६।५८।२)

"हम सब देवोंमें यशस्वी हों।" सर्वत्र हमारा यश बढे। जहां जाय वहां हमें यश मिले। सर्वत्र हम यशस्वी हों। परमेश्वरकी प्रार्थना यशकी प्राप्तिके लिये इस तरह करनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे यशस्वी होनेमें देव भी हमारे अनुकूल रहें।

निर्भयताकी इच्छा

सब राज्यव्यवस्था इसीलिये है कि सब प्रजाजन निर्भय होकर आनन्दसे रहें। इस हेतुसे कहा है—

अराजुः इन्द्रो अभयं नः कृणोतु
मन्यभ शत्रुनभि यातु मन्युः ॥ २॥

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चात् अनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥
(अथर्व. ६।४०)

" शत्रुरहित इन्द्र हमें निर्भय करे । राजाओंका क्रोध दूसरे स्थानमें जाय । नीचेसे, ऊपरसे, पीछेसे और सामनेसे अर्थात् सब ओरसे हमें निर्भयता प्राप्त हो । " किसीसे हमें भय प्राप्त न हो । हम सदा निर्भय हो कर रहें ।

राष्ट्रमें निर्भयता होनेपर ही सब प्रकारकी उन्नतिके कार्य किये जा सकते हैं । मनुष्य सर्वत्र निर्भय होकर विचरें ऐसी राष्ट्रमें स्थिति होनी चाहिये ।

उत्तम मार्गका अवलंबन

सब लोग उत्तम मार्गका अवलंबन करें, जिससे सबको यश और निर्भयता प्राप्त हो, इस विषयमें यह प्रार्थना है—

ये पन्थानो बहवो देवयाना
अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति
तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥
(अथर्व ६।५५)

' जो मार्ग देवोंके जाने आनेके हैं, जो द्यु और पृथिवीके बीचमें हैं, उनमें जो मार्ग उत्तम समृद्धि लाता है, उसपर सब देव मुझे चलावें । " अर्थात् मैं उत्तम मार्गसे चलूं और अधिक कल्याण प्राप्त करूं । राक्षसोंके और पिशाचोंके मार्गसे मैं न जाऊं । देवोंके मार्गोंमें जो उत्तमसे उत्तम मार्ग है उससे मैं जाऊं और उन्नतिको प्राप्त करूं और कल्याणमय अवस्थामें मैं रहूं ।

मनुष्यकी इच्छा यदि उन्नत होनेकी हो, तो उसे अन्दर और बाहरसे पूर्णरूपेण शुद्ध होना चाहिए, इसलिये कहा है—

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जने-
ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम
मा नस्तस्मात् एनसो देव रीरिषः ॥
(अथर्व. ६।५१।२)

" साधारण मनुष्य जो कोई दुराचार दिव्यजनोंके विषयमें करते हैं और बिना जाने तेरे धर्मको तोडते हैं, उस पापसे हम सबको नष्ट न कर । "

उन्नति करनेकी इच्छावाले मनुष्यको धर्मके उत्तम नियमोंका पालन करना ही चाहिये, अन्यथा उन्नतिकी आशा करना अनुचित है । राज्यशासनके द्वारा भी जनताके हितके लिये ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए लोग सदाचरणकी ओर ही प्रवृत्त हों और असदाचरणकी ओर कभी न जायें ।

राज्यको सुरक्षाके लिए सैन्य रखना ही पडता है । तथा युद्ध करनेकी हरतरहसे तैयारी रखनी पडती है । बिना सैन्यके अन्तर्बाह्य शत्रुसे अपने राज्यका बचाव नहीं किया जा सकता । इसलिये युद्धका रथ, दुन्दुभी आदि साधन रखनेही पडते हैं—

त्रिहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मसि
अवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ (अथर्व. ५।२१।१)

" हे दुन्दुभे ! तू शत्रुओंमें हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदासीनता उत्पन्न कर । द्वेष, ग्लानि, भय शत्रुओंमें बढे । इन शत्रुओंका पराभव कर । "

दुन्दुभिके शब्द सुनकर शत्रु पराभूत और भयभीत होकर भाग जाएं । वे युद्धभूमिमें स्थिर न रह सकें । अपनी दुन्दुभीका शब्द शत्रुके अन्तःकरणमें भय उत्पन्न करे अर्थात् अपनी तैयारी ऐसी हो कि जिसको देखकर शत्रु डर कर भाग जाय ।

सूर्यचिन्हका ध्वज

वैदिक समयका ध्वज सूर्य चिन्हका था । इस विषयमें नीचे लिखा मंत्र देखिये—

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा ॥ (अथर्व. ५।५१।१२)

" ये देव सेनाएं सचेत रहती हैं और इनका ध्वज सूर्य चिन्हका है । ये सेनाएं शत्रुपर विजय प्राप्त करें । "

राजाकी स्थिरता

राष्ट्रपर राजा स्थिर रहे, इसलिये उसमें विशेष गुण चाहिए, वे शुभ गुण ये हैं—

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु
मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥
(अथर्व. ६।८७)

" सब प्रजाजन 'यही राजा रहे' ऐसी इच्छा करें । राजाके शासनसे राष्ट्रकी गिरावट न हो । राजा पर्वतके समान सुस्थिर रहे, वह कभी अवनत न हो । राजगद्दीपर स्थिर रहे और राष्ट्रकी उन्नति करनेका प्रयत्न करे ।

राजाका राज्यशासन ऐसा हो कि जिससे राष्ट्रकी उन्नति ही होती रहे, कभी राष्ट्रकी गिरावट न हो । ऐसा राजा राष्ट्रपर सुस्थिर रह सकता है और ऐसे राजाको राजगद्दीपर रखनेके लिये प्रजाजन भी उत्सुक रहते हैं ।

इसप्रकार " मातृभूमि और स्वराज्यशासन " विषयक इस दूसरे भागका परिचय है । इस परिचयको देखकर पाठक समझ सकते हैं कि इस विषयका स्वरूप कैसा है ।

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय मण्डल (पारडी)



अथर्ववेद

भाग-दूसरा

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

मातृभूमिका वैदिक-गीत

कांड १२, सूक्त १

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- भूमिः ।)

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ — (बृहत् सत्यं) अटल सत्यनिष्ठा (ऋतं) यथार्थ ज्ञान, (उग्रं) क्षात्र तेज, (तपः) धर्मानुष्ठान, या धर्मका पालन, (दीक्षा) हरएक कामके करनेमें चतुराई, दक्षता, (ब्रह्म) बड़ा ज्ञान, (यज्ञ) यज्ञ दान अथवा त्याग ये गुण (पृथिवीं) भूमि, देश या राष्ट्रका (धारयन्ति) पालन पोषण और रक्षण करते हैं । (भूतस्य) प्राचीन और (भव्यस्य) भविष्यके तथा बीचमें आनेवाले वर्तमान समयके सब पदार्थोंकी [पत्नी] पालन करनेवाली ऐसी (सा पृथिवी) यह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिए (उरुं) बड़ा भारी (लोकं) स्थान (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता या अधिकार बना रहे, उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है- सत्यप्रियता, उद्योगशीलता, महत्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उत्साह, वस्तुस्थितिका उत्तम ज्ञान, धैर्य, साहस और तेजस्विता, धर्मनिष्ठा, इंद्रियोंका निग्रह, उत्तम ग्रंथोंका पढना और व्याख्यान सुनना, शान्त स्वभाव और अदाम्भत्व, परोपकारिता, ईश्वरभक्ति, अङ्गीकार किये हुए कार्यमें दक्षता, नियमानुसार चलनेका अभ्यास, खूब धनसंचय, सर्व सहायक पदार्थोंका विपुल संग्रह, आपसमें एक दूसरेका सत्कार करना, एकतासे रहना, दुःख और आपत्तिमें पडे हुए लोगोंकी सहायता करना, यज्ञ अर्थात् स्वार्थत्याग करना, मातृभूमिपर अटल निष्ठा रखना इत्यादि । जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं, वे ही अपने राज्यको संभाल सकते और नया राज्य प्राप्त कर सकते हैं । इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख करके यह प्रार्थना की गयी है कि- हे मातृभूमि ! हम पूर्वोक्त संपूर्ण उत्तम गुणोंसे युक्त होकर तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तू अपने आधारसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके संपूर्ण पदार्थोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है । हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं अतः तू भी हमारी कीर्ति बढानेवाली हो ॥ १ ॥

*

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्या) जिस हमारी मातृभूमिके (मानवाना) मननशील मनुष्योंके (व [-म-] ध्यत) मध्यमें (प्रवत) नीचता उच्चता रहनेपर भी परस्पर (बहु) बहुत ही (समं) समता (असंबाधं) और ऐक्य या मैत्रीभाव है, (या) जो (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्या) रोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (औषधी) वनस्पति (बिभर्ति) धारण करती है वह मातृभूमि (नः) हमारी (प्रथता) कीर्ति या यशको विस्तृत (राध्यता) करे ॥ २ ॥

(यस्या समुद्र) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धु) अनेक नद नदी, (आप) झरने झील और ताल तलैयां बहुत हैं, (यस्या) जिस मातृभूमिमें (अन्न) सब भांतिके अन्न और फल तथा शाक इत्यादि बहुतायतसे उपजते हैं (यस्या इदं प्राणत्) जिसमें ये सजीव (एजत् जिन्वति) प्राणी चलते फिरते हैं, जिसमें (कृष्टय) खेती करनेवाले मनुष्य, शिल्पकर्मविशारद कारीगर तथा उद्योगशील जन (संबभूवु) संगठित होते हैं, (सा) इस तरह की (भूमि) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपेये) समस्त भोग ऐश्वर्य (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

(यस्या) जिस हमारी मातृभूमिमें (कृष्टय) उद्यमशील तथा शिल्पचातुरोमें निपुण निज परिश्रमसे खेती करनेवाले (संबभूवु) हुए हैं (यस्याः पृथिव्या चतस्र प्रदिशः) जिस भूमिमें चार दिशायें और चार विदिशायें (अन्न) चावल गहूं आदि उपजाती हैं (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे (प्राणत् एजत्) प्राण धारण करनेवालों और चलने फिरनेवालोंका (बिभर्ति) धारण-पोषण करती है (सा न भूमि) वह हमारी मातृभूमि हम सबका (गोषु अपि अन्ने दधातु) गौओं और अन्नादिसे धारण-पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिस हमारे राष्ट्र या देशके मनुष्योंमें परस्पर द्रोह नहीं है प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है। विशेषकर हमारे नेता लोगोंमें अर्थात हमारी सब प्रकारकी रक्षा करनेवाले लोकाग्रणियोंमें परस्पर एक्य मत है और वे एकत्र हो मिलकर सब काम करते हैं। जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पुष्टिकारक रोगविनाशक अनेक औषधियां और सब तरह की वनस्पतियां पैदा होती हैं, वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारी कीर्ति और यशको दिगन्तरमें फैलावे ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुएं, बावली, नहर झील इत्यादि खेतीको सींचनेके बड़े बड़े साधन हैं और जिस भूमिमें सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है। जिससे सब प्राणीमात्र सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशलमें कुशल हैं, किसान लोग खेतीके काममें प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्योगी हैं वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वदा उत्तम उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली होवे ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अत्यन्त उद्योगी तथा खेती-बाड़ीमें प्रवीण और परिश्रमी लोग होते आये हैं और जिस भूमिको चारों दिशा और विदिशाओंमें उत्तम धन धान्य उत्पन्न होता है जिसके कारण सम्पूर्ण पशुपक्षी, वनस्पति और अन्य जीवधारियोंका उत्तम प्रकारसे पालन, पोषण और संरक्षण होता है वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वदा गाय, घोड़े और अन्न इत्यादि देनेवाली हो ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥
यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

अर्थ— (यस्यां) जिस हमारी मातृभूमिमें (पूर्वजनाः) बल, बुद्धि, वीर्य और ऐश्वर्यसे सम्पन्न पुराने समयके आर्य लोग (विचक्रिरे) विक्रम, पराक्रमयुक्त कर्तव्य अच्छी तरह करते आए हैं, (यस्यां देवाः) जिसमें विद्वान् और वीर (असुरान्) हिंसानिरत शत्रु अर्थात् राक्षसी स्वभाववाले लोगोंको (अभ्यवर्तयन्) जीतते आए हैं। जो (गवां अश्वानां वयसः च) गौवें, घोड़े और पशुपक्षियोंको (वि-ष्ठाः) विशेष सुख देनेका स्थान है, (सा नः पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि हमको (भगं) ऐश्वर्य और (वर्चः) तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान (दधातु) देवे ॥ ५ ॥

जो (विश्वंभरा) सबका पोषण करनेवाली भूमि (वसुधानी) सोना, चांदी, हीरा, पन्ना आदि अनेक रत्नोंकी खान है, (प्रतिष्ठा) सब वस्तुओंकी आधारभूत (हिरण्यवक्षा) सुवर्ण आदिकी खानें जिसके वक्षस्थलमें हैं ऐसी (जगतः) सभी जगम, जीव या पदार्थोंको (निवेशनी) बसानेवाली (वैश्वानरं) भांति भांतिके मनुष्योंके समूहसे भरे हुए राष्ट्र या देशको (बिभ्रती) धारण करती हुई हमारी (भूमिः) मातृभूमि (अग्निं) अग्रगामी, नेता (इन्द्र-ऋषभो) शत्रुओंका नाश करनेवाले शूरवीर और ज्ञानियोंके लिए तथा (नः) हमारे लिए (द्रविणे) धन (दधातु) धारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

(अस्वप्नाः) निद्रा, तन्द्रा, आलस्यसे रहित (देवाः) विद्वान् वीर और कुशल जन (विश्वदानीं) सब प्रकारके पदार्थोंको देनेवाली और हमारे लिये (मधुप्रियं च दुहां) मधुर प्रिय हितकर पदार्थोंको दुहनेवाली (यां पृथ्वीं भूमिं) बड़ी या विस्तृत हमारी जिस मातृभूमिको (अप्रमादं) प्रमादरहित हो (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (सा) वह भूमि (नः) हमको (वर्चसा) शूरता, वीरता, ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे (उक्षतु) पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ — जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने - ब्राह्मणोंने अपने ज्ञानद्वारा, क्षत्रियोंने अपनी वीरता द्वारा, वैश्योंने अपनी वाणिज्य-कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरीसे अनेक बड़े बड़े पराक्रम किये थे; जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर, वीर, व्यापारी और कारीगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियोंको भी उत्तम निवास - स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढ़ानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंको धारण करनेवाली, सब पदार्थोंको आश्रय देनेवाली, सुवर्ण आदिकी खान अपने अन्दर रखनेवाली, सभी स्थावर जंगम जीवों या पदार्थोंको स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंसे युक्त राष्ट्र या देशकी उन्नतिमें सहायता देनेवाली, मातृभूमि हमारे नेता, ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमको सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥ ६ ॥

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दोष रहित सब कार्योंमें चतुर और उद्यमी, परोपकारी, विद्वान्, शूर और धनिक लोग सब पदार्थोंको देनेवाली जिस विस्तृत भूमिकी प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और प्रिय तथा हितकारी पदार्थोंसे हमें पूर्ण सुसंपन्न करे और हममें ज्ञान, शूरता और धन उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥
यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

अर्थ— (या) जो भूमि (अग्रे) पहले (अर्णवे) समुद्रमें (सलिलं अधि) जलके भीतर (आसीत्) थी, (यस्याः पृथिव्याः हृदयं) जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग (अमृतं इव) अमर स्थानके सदृश (सत्येन) सत्य संकल्पके बलसे (आवृतं) व्याप्त है, जो भूमि (परमे व्योमन्)महत् आकाशमें है, (मायाभिः) कुशलताओंके साथ (मनीषिणः) मननशील विद्वान् (यां) जिसको (अन्वचरन्) अच्छी तरह सेवा करते आये हैं, (सा नः भूमिः) वह हमारी भूमि (उत्तमे राष्ट्रे) उत्कृष्ट राष्ट्रमें (त्विषिं) तेज या दीप्ति, (बलं) शूरता, वीरता, शारीरिक बल अथवा सैन्यबल (दधातु) स्थापित करे ॥ ८ ॥

(यस्यां) जिस भूमिमें (समानीः) समवृष्टिवाले (परिचराः) सब ओर जानेवाले परिव्राजक संन्यासी (आपः) जलकी भांति (अहोरात्रे) रात दिन (अप्रमादं) सावधान रहकर (क्षरन्ति) परिभ्रमण करते हैं, (अथो) और जो (भूरि-धारा) अनेक तरहके (पयः) खाने तथा पीनेकी वस्तु-भोज्य या पेय, दूध, घी इत्यादि (दुहां) देती है, (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हमारे (वर्चसा) तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि (उक्षतु) बढावे ॥ ९ ॥

(यां) जिस भूमिको (अश्विनौ) अश्विगण भर्ता और हर्ता शूरवीरने (अमिमातां) नापा, (यस्यां विष्णुः) जिसमें पालकने (विचक्रमे) भांति भांतिका पराक्रम दिखाया, (इन्द्रः) शत्रुविनाशक (शचीपतिः) शक्ति- पति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुरुषने (यां आत्मने अनमित्रां) जिसको अपने लिए शत्रुरहित किया, (सा नः माता भूमिः) वह माताके समान हमारी मातृभूमि (पुत्राय पयः) जैसे माता पुत्रको दूध देती है उसीप्रकार (पुत्राय मे) हम सब पुत्रोंको (विसृजतां) खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ— जो भूमि पहिले समुद्रके गर्भमें थी। जिसके बाहर, भीतर परमेश्वर व्याप्त है, जो आकाशमें अमर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगमें, गुप्त प्रयत्नोंसे तथा कुशलतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता, विद्वत्ता, शूरता, शक्तिमत्ता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मेघोंका जल प्राणिमात्रको एक समान मिलता है, वैसे ही जिनका उपदेश सबके लिये एक समान होता है ऐसे परोपकाररत संन्यासी जिस भूमिमें उत्तम आचरण न छोडते हुए सदैव एक समान संचार करते रहते हैं और जो भूमि हमें सब प्रकारके अन्न-जल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि अपनी तेजस्विताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

लोगोंका पोषण करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिसकी सदैव भलाई किया करते हैं, जिसमें पालन करनेवाले बडे बडे पराक्रम करते हैं और ज्ञानी शूर पुरुष जिसे अपना मित्र समझते हैं, वह हमारी भूमि, जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसीप्रकार हमें संपूर्ण उपयोगके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥
यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥
यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् । सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥१३॥

अर्थ— हे (पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वता॰ अरण्यं च ते) मातृभूमि! तेरे पहाड, बर्फसे ढके पर्वत और वन तुझे (स्योनं) सुखके देनेवाले (अस्तु) हों, उन पर्वतोंमें शत्रु न रहें, वे शत्रुरहित हों, इसलिये (बभ्रुं) सबके भरण पोषण करनेवाली (कृष्णां) कृषिकर्मके उपयुक्त, (रोहिणीं) वृक्षादिकोंको उपजानेवाली, (विश्वरूपां) सब तरहका रूप धारण करनेवाली, (ध्रुवां) स्थिर (पृथिवीं) बडी विस्तृत लम्बी चौडी (इन्द्र-गुप्तां) वीरोंसे रक्षित इस (भूमिं) मातृभूमिका (अजितः) जिसे शत्रुओंने नहीं जीता, (अहतः) युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुंची, (अक्षतः) कहींपर किसी अंगमें जिसके घाव नहीं हुआ, (अहं अध्यष्ठाम्) ऐसा मैं अधिष्ठाता या स्वामी होऊं ॥ ११ ॥

हे (पृथिवि यत् ते मध्यं) भूमि! जो तेरे मध्यमें है (यत् च नभ्यं) जो नाभिस्थानमें है, (ते याः ऊर्जः) जो तेरे बलयुक्त या अन्न आदि पोषणयुक्त पदार्थ हैं, उनकी रक्षाके लिए जो (तन्वः) शरीरधारी अर्थात् मनुष्य (संबभूवुः) आपसमें संगठित हुए हैं, (तासु) उनके समाजमें (नः) हमको (अभिधेहि) स्थापित कर और इस तरह (नः पवस्व) हमारी रक्षा कर, (भूमिः) भूमि हमारी (माता) माता है (अहं) हम उस (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवीके पुत्र हैं, [नरकसे या दुःखसे जो त्राण या रक्षा करे वह पुत्र है। भूमि! हम तेरे दुःखको दूर करनेवाले होनेके कारण हम तेरे पुत्र है।] (पर्जन्यः) जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाला मेघ हमारा पिता अर्थात् शस्यसंपत्तिसे पालन करनेवाला है (स उ नः) वह हमारा निश्चयसे (पिपर्तु) पालन करे ॥ १२ ॥

(यस्यां भूम्यां वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदियां रची जाती हैं। (यस्यां विश्व-कर्माणः) जिसमें उन्नतिके काम करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें भले लोगोंका सत्कार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, (यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्) जिस पृथ्वीमें पहले (ऊर्ध्वाः) बडे लम्बे, (शुक्राः) वीर्ययुक्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वरवः) पलाेय यूप खडे किए जाते हैं, जहां अच्छे अच्छे उपदेश (मीयन्ते) कहे जाते हैं, (सा नो भूमिः वर्धमाना) वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई जाकर, हम लोगोंकी (वर्धयतु) उन्नति करे ॥ १३ ॥

भावार्थ— हे मातृभूमि! तुझपर जो पहाड और बरफसे ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटे बडे जंगल हैं, उनमें तेरे शत्रु कभी न रहें, तू शत्रुरहित होकर सदैव सबका पोषण करनेवाले उपजाऊ उत्तम वृक्षादिसे युक्त, स्थिर और वीरोंद्वारा रक्षित हो, ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुझपर हम शत्रुओं द्वारा पराजित न होते हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहें और महान् पदवीको प्राप्त हों, राष्ट्रको अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

हे मातृभूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो भी पदार्थ हैं उन सबकी और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुःखसे छुडानेवाले हैं, इस पर्जन्य (मेघ) द्वारा धान्यादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम सबका वह पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥ १२ ॥

जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमिमें लोग सदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विशेष कर उन्नतिकारक तथा बलोत्पादक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार उत्साह देनेवाले भाषण और उपदेश सदैव किये जाते हैं। हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिका कारण बने ॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन । तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥
त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥
ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥
विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् । शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

अर्थ— हे (पृथिवि यः नः द्वेषत्) मातृभूमि ! जो हमसे द्वेष करता है, (यः पृतन्यात्) जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध या कत्ल कर हमें कष्ट पहुंचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरि) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि ! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुझमें ही पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुझपर ही चलते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको (त्वं बिभर्षि) धारण करती है (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मनुष्योंके लिये (अमृतं) जीवनका हेतुभूत (ज्योतिः) तेज (उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः) उदित हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (आतनोति) फैलाता है, (इमे) ये हम लोग (पंच मानवाः) पांच प्रकारके मनुष्य (तव) तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे (नः पृथिवि ताः) हमारी मातृभूमि ! हम (समग्राः) सब लोग तेरी (प्रजाः) प्रजायें एकत्र हो (मधु वाचः) मधुर प्रेमपूर्ण वाणियां (संदुहतां) बोलें, (मह्यं धेहि) हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

(विश्वस्वं) सब (ओषधीनां मातरं) वनस्पति, वृक्ष, लता आदियोंकी माता (ध्रुवां पृथिवीं) विस्तीर्ण, लम्बी, चौडी, स्थिर (धर्मणा) सत्य, ज्ञान, शूरता, वीरता आदि धर्मसे (धृतां) पालित पोषित (शिवां) कल्याणमयी (स्योनां) सुखको देनेवाली इस (भूमिं) मातृभूमिकी हम (विश्वहा) सदा (अनुचरेम) सेवा करें ॥ १७ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे शब्दों द्वारा द्वेष करते हैं, जो सेना ले हमपर चढाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये उद्यत हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम लोग तुझसे उत्पन्न होकर तेरे ही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान् सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता है; ये हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें, वह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो; झूठ अहितकारी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंको एकत्र होकर आपसमें प्रेमसे मीठे वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं; जो बडी लम्बी चौडी और स्थिर है; विद्या, शूरता, सत्य, स्नेह आदि सदाचार और सद्गुणयुक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं; जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है; उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे। महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु। अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥
अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्। अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥
अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

अर्थ— हे मातृभूमि ! हम सबका (महत् सधस्थं) एक साथ मिलकर रहनेका स्थान होनेसे तू (महती बभूविथ) बडी होती रही है। (ते) तेरा (एजथुः वेपथुः) हिलना डोलना (महान्) बडा (वेगः) वेग या गतियुक्त होता है। इस प्रकारकी (त्वां) तेरी (महान् इंद्रः) शत्रुके नाश करनेवाले बडा ज्ञान, बल, उत्साह, ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर वीर (अप्रमादं) निरलसभावसे (रक्षति) रक्षा करते है। (भूमे) हे मातृभूमि ! (सा) वह तू (संदृशि) चमकती हुई (हिरण्यस्य इव) सोनेकी तरह (नः प्र रोचय) हमें तेजयुक्त कर, हममें (कश्चन) कोई भी आपसमें (मा द्विक्षत) वैरभाव न रखे ॥ १८ ॥

(भूम्यां) पृथिवीके मध्यभागमें (अग्निः) अग्नि है; (ओषधीषु) ओषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है, जिन ओषधियोंके सेवनसे अन्न पचता है, दीपन अर्थात् भूख लगती है, (आपः) जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह (बिभ्रति) विद्युत्के रूपमें अग्निको धारण करता है। (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें (अग्निः) अग्नि है, (पुरुषेषु) मनुष्योंके (अन्तः) भीतर जठराग्निके रूपमें (अग्निः) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गौ, घोडे आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

(दिवः) आकाशमें (अग्निः) सूर्यके रूपमें अग्नि ही (आतपति) ताप और प्रकाश देता हुआ तप रहा है। (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) विशाल (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है। (हव्यवाहं) होम की हुई आहुतिको ले जानेवाले (घृत-प्रियं) घीको प्यार करनेवाले (अग्निं) भौतिक अग्निको ऋतुओंके बदलनेपर रोगोंके नाशके लिये (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) प्रज्वलित करते हैं ॥ २० ॥

(अग्निवासाः) अग्निसे व्याप्त होनेके कारण उसके (असितज्ञूः) काले धुएँसे जानी जानेवाली यह (पृथिवी) पृथिवी है, वह (मां) मुझको (त्विषीमन्तं) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) कर ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एकत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंके रहनेके लिए तेरा विस्तार पर्याप्त है; तू आकाशमें हिलते डुलते हुए गतिसे जाती है वह गति बहुत ही तेज है; ज्ञानी शूर, धीर, उत्साही और ऐश्वर्यशाली, शत्रुका नाश करनेवाले वीर पुरुष ही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनाडी और भीरु नहीं कर सकते; तू स्वर्ण सोनेके समान तेजस्वी है; उसीप्रकार हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्पर द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं। उस अग्निके कारण भूमि, ओषधि, वनस्पति, जल (मेघादिक), पत्थर, मनुष्य, गाय, घोडे इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी दीखते हैं, उसीप्रकार हम मनुष्य जो उन सब पदार्थोंके भोक्ता हैं, अपने बहु धर्मको रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्निको शरीरमें प्रज्वलित कर सबसे अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नामकी एक बडी भारी अग्नि है। उत्तम हुए द्रव्यको हवनद्वारा चारों ओर फैलानेके लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये मनुष्य जिस अग्निमें घृत आदिसे होम करते हैं। उसी अग्निमें हम भी दिन रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति और यशको बढानेवाली हो ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् । भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ॥
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥
यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥
यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥
यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः । यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ॥
कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

अर्थ — मनुष्य जिस भूमिमें (भूम्यां अरंकृतं) अलंकृत सुसंस्कृत (हव्यं) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ (देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं। इससे जिस भूमिमें (स्वधया अन्नेन) उत्तम अन्न खानेपीनेकी वस्तुसे (मर्त्याः मनुष्याः) मरणधर्मा मनुष्य (जीवन्ति) जीते हैं। (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) देवे और वही भूमि (मा) मेरी (जरदष्टिं) अच्छी वृद्धि या उन्नति (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि ! यस्ते गन्धः संबभूव) पृथिवी ! जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होता है, (यं) जिस गन्धको (ओषधयः बिभ्रति) ओषधियां धारण करती हैं, (यं) जिसे (आपः बिभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धर्वाः) सूर्य और (अप्सरसः च) किरणें धारण करती है, (य गन्धं) जिस गन्धको प्राणी (भेजिरे) भोगते हैं (तेन) उस सुगन्धिसे (मा) मुझको (सुरभिं) सुगन्धियुक्त (कृणु) कर। (नः) हम लोगोंमें (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

हे (पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं) जो तुम्हारी गन्ध कमलमें (आविवेश) प्रविष्ट हुई है, (अग्रे) पहिले (यं गन्धं अमर्त्याः) जिस गन्धको वायु आदि देवताओंने (सूर्यायाः) उषाके (विवाहे) विवाहके समय (संजभ्रुः) धारण किया था (तेन मां सुरभिं कृणु) उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। (कश्चन) कोई भी (नः) हम लोगोंसे (मा द्विक्षत) द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे (भूमे) भूमि ! (वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु यः ते गन्धः भगः) वीरपुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें जो तेरा गन्ध युक्त तेजोमय कान्तिरूप है, (यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु) जो घोडोंमें, चौपायोंमें, हाथियोंमें, (यत् वर्चः) जो तेज है, (कन्यायां) बिना ब्याही कन्याओंमें जो तेज है, (तेन) उस दिव्य तेजसे (अस्मान् अपि) हमें भी (संसृज) संयुक्त कर। (कश्चन मा द्विक्षत) हममें कोई किसीसे द्रोह न करे ॥ २५ ॥

भावार्थ — जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करके वायु और जल आदिको शुद्ध करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृष्टि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुझमें उत्तम सुगन्धि है, वह ओषधि और वनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको सूर्य अपनी किरणोंसे तेज करते हैं। हमें उस उत्तम सुगन्धिसे भूषित कर और हमारे बीच कोई आपसमें किसीसे भी वैर न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है, सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। हममें कोई किसीसे द्वेष न करे। हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बढे और सब समाजके लिये हितकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री, पुरुषोंमें, हाथी, घोडे, चौपाये आदिमें, ब्रह्मचारियों, ब्रह्मचारिणी कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी यथायतसे ही हो। हममें कोई भी किसीसे द्रोह न करे ॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता । तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा । पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥
उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः । पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥
विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥
शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः । पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥ ३० ॥

अर्थ— जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला, पर्वत, पत्थर और धूलिपूर्ण (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या, अनेक विज्ञान और वीरतासे (धृता) भलीभांति रक्षित हुई, (संधृता) अच्छी तरह योग्यताके साथ धारण की हुई है, (तस्यै हिरण्यवक्षसे) सोनेकी खानोंवाली उस भूमिको हम (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

(यस्यां) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेड़ और लता आदि (विश्वहा) सदा (ध्रुवा) स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वधायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है, उस (धृतां) धारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई, (पृथिवीं अच्छ) पृथिवी की हम मुख्यतया (आवदामसि) प्रशंसा गाते हैं ॥ २७ ॥

(उदीराणाः) चलते फिरते (उत आसीनाः) बैठे हुये (तिष्ठन्तः) खड़े हुए (दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां प्रक्रामन्तः) दाहिने या बायें पांवसे टहलते हुए हम (भूम्यां मा व्यथिष्महि) इस भूमि पर किसीको दुःख न दें ॥२८॥

(विमृग्वरीं) विशेष खोजनेके योग्य (ब्रह्मणा) परमात्मासे (वावृधानां) बढ़ाई गई (ऊर्जं) बल बढ़ानेवाली (पुष्टं) पुष्टि करनेवाली (घृतं अन्नभागं च) घी और खानेके पदार्थ अन्न आदि (बिभ्रतीं) धारण करनेवाली (पृथ्वीं) लम्बी चौड़ी (क्षमां) प्राणिमात्रके निवास योग्य (भूमिं) मातृभूमिसे (आवदामि) प्रार्थना करते हैं । हे (भूमे) हमारी मातृभूमि ! (त्वां) तेरा (अभिनिषीदेम) हम आसरा लें ॥ २९ ॥

हे (पृथिवि ! नः तन्वे) भूमे ! हमारे शरीरकी शुद्धिके लिए (शुद्धा आपः) निर्मल जल (क्षरन्तु) बहा करें। (यः नः) जो हमको (अप्रिये) अनिष्ट है या प्रिय नहीं है (सेदुः) उसे अलग कर । (पवित्रेण) पवित्र कर्मसे (मा उत्पुनामि) अपनेको मैं पवित्र करता हूं ॥ ३० ॥

भावार्थ— जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्णरत्नादिक बहुतसे अमूल्य पदार्थ हैं, उस मातृभूमिको हम नमस्कार करते हैं । जबतक ज्ञान, वीर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर होकर रहते हैं जो सबने अनेक ऊपर कहे हुए गुणोंसे भरी पूरी है और सबका आधार है, हमसे अच्छी तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवीकी हम प्रेमसहित स्तुति गाते हैं ॥ २७ ॥

हम किसीके दुःखका कारण न बनें ॥ २८ ॥

जिसके ऊपर की सतहकी तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अनन्त शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिसे धारण किया है, बल बढ़ानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उत्पन्न करती है, लम्बी चौड़ी और प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥२९॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो । जो कोई हमारा अप्रिय करनेकी इच्छा करे अथवा अनिष्ट करे, उसके साथ हम भी वैसा ही वर्ताव करें और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥
मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥
यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् । उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

अर्थ— हे (भूमे) मातृभूमि ! (याः ते प्राचीः) जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, (याः उदीचीः) जो उत्तरकी दिशा है, (याः ते प्रदिशः) जो तेरी उपदिशा अर्थात् अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनोंकी दिशाएं हैं, (याः ते अधरात्) जो तेरे नीचे हैं, (याः ते पश्चात्) जो तेरे पृष्ठभागमें या पीछे हैं (ताः) उन सब दिशाओंमें (चरते) चलने फिरनेवाले (मह्यं स्योनाः भवन्तु) मुझे लोग सुख देवें । (भुवने) इस देशमें (शिश्रियाणः) रहनेवाले हम (मा निपप्तं) कहीं भी नीचे न गिरें ॥ ३१ ॥

हे (भूमे ! पश्चात् नः मा नुदिष्ठाः) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, (मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा नुदिष्ठाः) जो तुम्हारे पूर्व है, उत्तर है, या नीचे है, वे भी हमारा नाश न करें, (स्वस्ति) हमारा कल्याण हो । (परिपन्थिनः) शत्रु लोग हमें (मा विदन्) न जानें, (किञ्च) उन शत्रुओंके (वधं) वधके लिये (वरीयः) हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ वीर हो (यावय) जाय ॥ ३२ ॥

(भूमे मेदिना) हे हमारी मातृभूमि ! अपने प्रकाशसे आनंद देनेवाले (सूर्येण) सूर्यकी सहायतासे (यावत् ते अभि विपश्यामि) जहांतक सब ओर हम तुम्हारे विस्तारको देखते हैं, (तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट) वहांतक मेरी उमर बढने पर भी मेरी इंद्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमर तक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे (भूमे) हमारी मातृभूमि ! (यत्) जब (शयानः) सोते हुए (दक्षिणं सव्यं पार्श्वं) दाहिने और बायें (अभिपर्यावर्ते) करवट ले (यत् त्वा) जब तुमपर (प्रतीचीं) पश्चिमकी ओर पांव कर (उत्तानाः पृष्टीभिः) पीठ नीचे कर (अधिशेमहे) शयन करें, उस स्थानमें (सर्वस्य प्रतिशीवरि) सब लोगोंको सहारा देनेवाली (भूमे नः मा हिंसीः) हे हमारी मातृभूमि हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएं और उपदिशाएं हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें, इसीप्रकार तेरे हितके लिए यत्न करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहां कहीं रहें अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा अधःपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुंचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे नेता लोग सदा हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी स्थिति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जिस समय हम तेरे ऊपर विश्राम करनेके लिये दाएं, बाएं अथवा सीधे तेरे ऊपर सोवें उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिससे कि हम बेखटके सोवें और कोई हमारा घात न कर सके ॥ ३४ ॥

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म विमृग्वरी मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥
ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥
याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् । शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥
यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते । ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

अर्थ— हे (भूमे) हमारी मातृभूमि (ते) तुममें (यत् विखनामि) हलसे जोतकर हम जो बोवें (तत् क्षिप्रं रोहतु) वह जल्द उगे और बढ़े। (विमृग्वरि) हे विशेष खोजनेके योग्य मातृभूमे ! (ते) तुम्हारे (मर्म) नाजुक स्थानोंमें किसी तरहकी क्षति या चोट न पहुंचे और (ते अर्पितं) तुम्हारा अर्पित (हृदयं) मन या चित्त (मा) दुःखित न हो ॥ ३५ ॥

हे (पृथिवी भूमे) विस्तृत मातृभूमि ! (ते ग्रीष्म वर्षाणि शरत् हेमन्तः शिशिरः वसन्त) तुममें जो गरमी, बरसात, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त (ऋतवः ते हायनीः) ये छ ऋतु वर्षभरमें (विहिताः) स्थापित की गई हैं ये और (अहोरात्रे) दिन तथा रात (नः दुहातां) हमको सुख देनेवाले पदार्थ देवें ॥ ३६ ॥

(या विमृग्वरी) जो विशेष खोजनेके योग्य है, (विजमाना अपसर्पं) जो हिलती हुई चलती है, (ये अप्सु) जो मेघोंमें (अन्तः अग्नय.) बिजलीके रूपमें अग्नि है वे (यस्यां आसन्) जिसमें हैं, ऐसी हमारी मातृभूमि (देवपीयून्) देवोंके हिंसक (दस्यून्) ज्ञानमार्गके उच्छेदक अनार्योंके नाशकर्ता (शक्राय) समर्थ (वृष्णेन) वीर्ययुक्त और (वृषभाय) सिंचन करनेवालेको (दध्रे) धारण करती है और शत्रुको,(पराददती) दूर करनेवाली वह मातृभूमि (इन्द्रं वृणाना) इन्द्र अर्थात् वीरको वरती है स्वीकार करती है, (वृत्रं न) वृत्र या अनार्यको नहीं ॥ ३७ ॥

(यस्यां सदो) जिस भूमिमें घर हैं (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्थात हवनके पदार्थ सुरक्षित रह सकते हैं (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यज्ञस्तम्भ बनाये जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋत्विजः) जिसमें यजुर्वेदके जाननेवाले ब्राह्मण यज्ञ करने या करानेवाले (यस्यां ब्रह्माणः ऋग्भिः साम्नाः च अर्चन्ति) जिसमें ऋग्वेद और सामवेदके जाननेवाले ब्राह्मण ब्रह्मा बन परमात्माका पूजन करते हैं और (सोम पातवे) सोमपानके लिये (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! जहां तुम ऊंची नीची हो उसे सम करके जो हम बोवें वह जल्द उगे और बढ़े। तुम्हारे ऊंचा नीचा रहनेसे हमारे अधःपात और गिर जानेकी संभावना है, सो तुम्हारे लिये यत्न करते हुए मर्मस्थानमें चोट या क्षति न पहुंचे और तुम्हारी उन्नतिके लिये जो अपना तन, मन अर्पित किये हुए हैं वे कभी दुःखित न हों, हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥ ३५ ॥

हे मातृभूमि ! छ ऋतु होनेके उत्तम गुण तुम्हारेमें ही हैं और किसी देशकी भूमिमें छ ऋतु नहीं होती। जो वर्षकी ये छ ऋतुयें अपने अपने समयमें अपने फल फूल आदिसे हमें सुख देती रहें, तब उन ऋतुके रात और दिन सब भांति हमें सुहावने हों ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि ऐसी है कि इसे जितना ही खोजते रहो इसमें लाभदायक सार वस्तु मिलती रहें, हिलते, डोलते, चलते मेघोंमें बिजलीके आकारमें अग्नि जिसमें है वह हमारी मातृभूमि सज्जनोंको दुख देनेवाले दुष्टोंका ज्ञानी वीरोंके हितके लिये नाश करती है, वह हमारी मातृभूमि शत्रुनाशक वीरोंको ही अपनेमें धारण करती है ॥ ३७ ॥

जहां वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने बार बार यज्ञ किया है, इससे सिद्ध हुआ कि यह हमारी मातृभूमि पवित्र यज्ञ भूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥
सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे । भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः । युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥
यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

अर्थ— (यस्यां पूर्वे भूतकृतः) जिस भूमिमें पहिले अद्भुत काम करनेवाले (ऋषयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थदर्शी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र आदि (यज्ञेन) यज्ञसे या संस्कार दान मान आदि उत्तम कार्योंसे तथा (तपसा) धर्मसे (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहे हैं ॥ ३९ ॥

(सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (यत् धनं) जो धन हम (कामयामहे) चाहते हैं वह हमें (आदिशतु) दे, (भगः) ऐश्वर्यसंपन्न लोग अपने ऐश्वर्यसे शूर वीर पुरुषोंके (अनुप्रयुङ्क्तां) सहायक हों और (इन्द्रः) इन्द्र शत्रुका नाश करनेवाले वीरोंका (पुरोगवः) नेता होकर (एतु) शत्रु पर चढाई करे ॥ ४० ॥

(यस्यां भूम्यां मर्त्याः) जिस भूमिमें मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं, (नृत्यन्ति) नाचते हैं, (व्यैलबाः) विशेष प्रेरित वीर लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, (यस्यां आक्रन्दः) जिसमें घोडोंके हिनहिनानेका शब्द होता है, (दुन्दुभिः च वदति) नगाडा बजता है (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (सपत्नान्) शत्रुओंको (प्रणुदतां) दूर भगा दे । वह (पृथिवी) भूमि (मा) हमें (असपत्नं) शत्रुरहित (कृणोतु) करे ॥४१॥

(यस्यां व्रीहियवौ) जिसमें चावल, जौ, गेहू आदि अन्न बहुत उपजते हैं, (अन्नं) खानेके पदार्थ जहां अधिकतासे हैं, (यस्यां इमाः पंच कृष्टयः) जहां पांच प्रकारके लोग विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और नौकर रहते हैं, (वर्षमेदसे) बरसात होनेसे जहां अन्न आदि अच्छे उपजते हैं, (पर्जन्यपत्न्यै) पर्जन्य अर्थात् वर्षासे जिस भूमिका पालन होता है, उस (भूम्यै नमः अस्तु) मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

(यस्याः देवकृताः पुरः) जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये या बसाये हैं, (यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते) जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहसे करते हैं, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक (विश्वगर्भां) सब पदार्थोंके पैदा करनेवाली (पृथिवीं) उस हमारी मातृभूमिको (आशां आशां) प्रत्येक दिशाओंमें (रण्यां) रमणीय करे ॥४३॥

भावार्थ—हमारी मातृभूमि ऐसी है जिसमें अतीन्द्रियार्थदर्शी, सज्जनोंकी रक्षाके लिये बडे बडे काम करनेवाले, धर्मानुष्ठान और ज्ञानमार्गसे सुशोभित मनुष्य हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जितने सुखको हम इच्छा करें उतना मातृभूमि हमें दे । ऐश्वर्य और धनसम्पन्न लोग अपने ऐश्वर्य और धनसे वीरोंकी सहायता करें और वीर पुरुष धुरीण होकर धैर्यके साथ शत्रुओंका नाश करनेके लिये आगे बढें ॥ ४० ॥

जिस भूमिमें आनन्दके बाजे बज रहे हैं, जहां लोग प्रसन्नतासे नाचते हैं, गाते हैं और वीर लोग वीरताके उत्साहमें भरे अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए युद्ध करते हैं, घोडे जहां हिनहिनाते हैं, नगाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंका नाश करके हमें शत्रुरहित करे ॥ ४१ ॥

जहां चावल, गेहू, जौ आदि तथा और और खानेके पदार्थ बहुत होते हैं, जहां विद्वान्, शूर, व्यापारी, कारीगर तथा सेवक लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य आनन्दसे बसते हैं, जिस भूमिमें नियमित समयमें वृष्टि होकर सम्पूर्ण धान्यादिक उत्पन्न होनेसे लोगोंका योग्य पालन होता है, उस मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

जिस मातृभूमिमें देवोंद्वारा बसाये अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे उद्योगोंमें सदैव लगे रहते हैं, अर्थात् जो घनी बसी है, कोई भाग जिसका सूना और उजाड नहीं है, जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस भूमिको प्रजाका पालक पूर्ण करे अर्थात् वहां विद्याका अधिक प्रचार करे और यह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौन्दर्यसे सुसंपन्न रहे ॥ ४३ ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥
ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥
ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः । पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय ॥ ५० ॥
यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

अर्थ— (गुरुभृत्) भारी पदार्थको अपनी ओर खींचनेवाली और (मल्वं) धारण करनेकी शक्ति (बिभ्रती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्यके (निधनं) मरणको (तितिक्षुः) सहती हुई यह (पृथिवी) भूमि (वराहेण) उत्तम जल देनेवालेको (संविदाना) अच्छी तरह पाकर अर्थात् अच्छी बरसातवाली होकर (सूकराय) अच्छी किरणवाले (मृगाय) अपनी किरणोंसे अपवित्रताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहीते) घूमती है ॥ ४८ ॥

(पृथिवि ये ते वने हिताः) हे हमारी मातृभूमि ! जो तेरे वनमें रहनेवाले (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले मांसाहारी जीव (आरण्याः पशवः मृगाः) वनके रहनेवाले चतुष्पाद तृणभोजी मृगादिक (चरन्ति) चरते फिरते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) वन्यपशु, पागल कुत्ते (ऋक्षीकां) भालू, भेडिये आदि हिंसक पशुओंको (इतः अस्मत् अपबाधय) यहां हमसे दूर रख ॥ ४९ ॥

हे (भूमे ये गन्धर्वाः) मातृभूमि ! जो हिंसक आततायी हमारे वध करनेको उद्यत हैं (अप्-सरसः) कर्मपराङ्मुख आलसी हैं, (ये चारायाः) जो निर्धन हैं (किमीदिनः) पर धनके हरनेवाले हैं, (पिशाचान्) मांस खानेवाले हैं, (रक्षांसि) राक्षसी स्वभाववाले हैं, उन (सर्वान् अस्मत् यावय) सबको हमसे दूर हटा ॥ ५० ॥

हमारी यह मातृभूमि है (यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि पक्षिणः संपतन्ति) जहां दो पांववाले जीव हंस, गरुड आदि पक्षी उडते हैं, (यस्यां मातरिश्वा वातः) जिसमें आकाशमें बहनेवाली या संचार करनेवाली हवा (रजांसि कृण्वन्) धूल उडाती हुई (वृक्षान् च्यावयन्) पेडोंको जडसे उखाडती हुई (ईयते) बहती है। (तस्य वातस्य प्रवां उपवां) उस वायुकी गतिका (अर्चिः) तेज या प्रकाश (अनुवाति) अनुसरण करता हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

भावार्थ— गुरु पदार्थको अपनी ओर खींचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, भले और बुरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनोंके मरणको जो सह लेती है। अच्छा जल बरसानेवाले मेघसे युक्त सूर्य जिसकी अपवित्रताको अपनी किरणोंसे हटा देता है, ऐसी हमारी मातृभूमि विशेष प्रकारसे सूर्यके चारों ओर घूमती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तेरे हिंस्र जीव, शिकारी जानवर, चौपाये, भेडिये, पागल कुत्ते, भालू इत्यादि हैं; उन सबको हमसे दूर रख ॥ ४९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन हरनेवाले, मांसाहारी, असमयवादी नास्तिक और आततायी हैं, उनको दूर कर ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें सर्वदा आकाशमें हंस आदि पक्षी आनन्दमें उडते हैं, जहां धूलिको उडाते हुए, पेडोंको उखाडते हुए- वायु बेरोकटोक सपाटेसे बहता है और जंगलकी अग्नि जहां जोरोंसे भभकती है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥
द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥
अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् । अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥
अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

अर्थ—(यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च) जिस भूमिमें तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन (संहिते) इकट्ठे होकर (अहोरात्रे) दिन और रात (अधिविहिते) बनाते हैं, (सा पृथिवी भूमिः) वह विस्तृत भूमि (वर्षेण वृतावृता) वृष्टिसे ढकी हुई (भद्रया) कल्याणके साथ (प्रिये धामनि-धामनि) हितकारी स्थानोंमें (नः) हमको (दधातु) स्थापित करे ॥ ५२ ॥

(द्यौः) प्रकाशमय आकाश (पृथिवी) भूमि (अन्तरिक्षं) आकाश और पृथ्वीके बीचका स्थान (अग्निः सूर्यः) अग्नि और सूर्य (विश्वे देवाः च) सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजयी या व्यवहारचतुर (इदं) ये सब (मे) मुझको (मेधां) धारणाशक्तिवाली बुद्धि और (व्यचः) तेज (संददुः) अच्छी तरह दें ॥ ५३ ॥

(अहं सहमानः) मैं शत्रुओं, सर्दी, सुख, दुःख, सह लेनेवाला (नाम) यश और प्रतिष्ठासे (उत्तरः) उत्कृष्टतर (भूम्यां) भूमिकी (आशां आशां) हरएक दिशाओंमें (विषासहिः) विशेष विजयी, (अभीषाट्) सब ओर पराक्रम करनेवाला (विश्वाषाट्) सब शत्रुओंका नाश करनेवाला (अस्मि) हूं ॥ ५४ ॥

हे (देवी) दिव्य मातृभूमे ! तू (यत्) जब (पुरस्तात्) पहिले (देवैः) देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगोंके द्वारा (प्रथमाना) प्रख्यात होकर (उक्ता) प्रशंसित हुई, तब (व्यसर्पः) विशेष उत्कर्षको पहुंची। (तदानीं) तब तुझे (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (सुभूतं महित्वं) बड़ी प्रतिष्ठा (अकल्पयथाः) प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तेरी प्रतिष्ठा (त्वा) तुझमें (आविशात्) अब भी पहलेकी सी हो ॥ ५५ ॥

(ये ग्रामाः) जो गांव या नगर (यत् अरण्यं) जो वन (याः सभा) जो राजसभा न्यायसभा, धर्मसभा आदि (ये संग्रामाः) जो युद्ध (याः च समितयः) जो बड़ी बड़ी परिषदें (अधिभूम्यां) हमारी भूमिमें (सन्ति) हैं (तेषु) उन सबमें (ते) तुम्हारे बारेमें (चारु वदेम) अच्छा कहें ॥ ५६ ॥

भावार्थ— जिस भूमिमें ठीक प्रमाणसे रात और दिन होते हैं और उनकी सदा एकसी व्यवस्था रहती है, वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमें हितकर स्थानोंमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

स्थावर व जंगम, चेतन व अचेतन सब पदार्थोंकी सहायतासे हमारी बुद्धि बढे और कीर्तिरूपी चारों ओर व्यापक हो ॥ ५३ ॥

मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके शत्रु विनाश करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तयार हूं। और प्रयत्नसे सब शत्रुओंको परास्त करूंगा। एक भी शत्रु रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि ! पहलेके लोग जब तुम्हारी स्तुति करते थे, उस समय तुम्हारी कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, वही तुम्हारा यश अब भी वैसा ही फैले ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारेमें जहां जहां नगर, वन, सभा, परिषद्, संग्राम किंवा मनुष्य एकत्र हों, वहां वहां हम तुम्हारी प्रशंसा करें। अर्थात् कभी तुम्हारे अहितकी बात न करें ॥ ५६ ॥

अश्वं इव रजो दुधुवे वि तान् जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥
यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा । त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥
शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती । भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥
यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥

अर्थ— (यात्) जब (पृथिवीं) भूमिमें कोई अन्यायसे (आक्षियन्) आकर बसे, तब (तान् जनान्) उन रहनेवाले मनुष्योंको (अश्वः रजः इव वि दुधुवे) जिसप्रकार घोडा अपने शरीरको हिलाकर शरीरकी धूलको झाड देता है, उसीप्रकार यह भूमि झाड दे अर्थात् नष्ट कर दे । वह भूमि (मन्द्रा) प्रसन्न, (अग्रेत्वरी) अग्रभागमें चल जानेवाली, (भुवनस्य गोपा) संसारकी रक्षा करनेवाली (वनस्पतीनां ओषधीनां च गृभिः) वनस्पति और औषधियोंको ग्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

(यत्) मैं अपने राष्ट्र या देशके सम्बन्धमें जो (वदामि) कहूं (तत् मधुमत् वदामि) वह हितकर और मधुर शब्दोंमें ही कहूं (यत् ईक्षे) जो देखता हूं (तत्) वह सब (मा) मेरा सहायक हो, (अहं त्विषीमान्) मैं प्रकाशमान्, तेजस्वी, दीप्तिमान् और (जूतिमान्) ज्ञानवान् होकर (अन्यान्) दूसरे, जो हमारी भूमिको दुह लेते ह (अवहन्मि) उनका नाश करता हूं ॥ ५८ ॥

(शन्तिवा) शान्तिकारक (सुरभिः) सुगन्धियुक्त (स्योना) सुख देनेवाली (कीलालोध्नी) अन्नको देनेवाली (पयस्वती) बहुत जलवाली (मे पृथिवी भूमिः पयसा सह) हमारी भूमि भोग्य पदार्थोंके साथ हमें (अधी ब्रवीतु) कहे - हमारी सहायता करे ॥ ५९ ॥

(यत्) जब (विश्वकर्मा) विश्वकर्माने (रजसि अर्णवे) अन्तरिक्षके (अन्तः प्रविष्टां यां) भीतर प्रविष्ट जिस भूमिको (हविषा) अन्नादि पदार्थोंसे (अन्वैच्छत्) ऊपर निकाला, तब (गुहा निहितं) गुप्तस्थानमें रखे हुए (भुजिष्यं पात्रं) भोजनके योग्य अन्न आदि (मातृमद्भ्यः) मातृभक्तोंके (भोगे) उपभोगके लिये (आविः अभवत्) प्रकट हुए ॥ ६० ॥

भावार्थ— युद्धमें विजयी होकर जहांपर सेनाके घोडों के चलनेसे धूलि उडकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है। अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना संघकर एकत्रित होते है, तब उस संघसे जो फलस्वरूपमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति सबको आनन्द देनेवाली, सब देशका संरक्षण करनेवाली और औषध आदि भक्ष्य पदार्थ देनेवाली होती है । इसलिये उसे मातृभूमिके संपूर्ण भक्त सर्वदा ध्यानमें रखें ॥ ५७ ॥

हम जो कुछ भी भाषण करें वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी हो, जो कुछ हम आंखोंसे देखें वह भी मातृभूमि के लिये ही सहायक हो, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्पण हों, । हम तेजस्वी और बुद्धिमान् हों, जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका दोहन करें उनका हम नाश करें ॥ ५८ ॥

शान्ति, सुख, अन्न, पानी आदि की देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली हो, इस तरह हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहां सब तरहके उद्योग करनेवाले कुशल पुरुष मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये कटिबद्ध होते हैं, वहां मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रखा हुआ तथा परसा हुआ थाल (जो केवल भक्तों ही के लिये है) आकर उनके सामने प्रकट होता है। अर्थात् उनके उपभोगके सारे पदार्थ उन्हें सहज ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥
उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् । संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥

अर्थ— हे मातृभूमि ! (त्वं जनानां अदितिः) तू लोगोंको सुख न देनेवाली (कामदुघा) इच्छित पदार्थोंको देनेवाली (पप्रथाना) स्तुतिके योग्य (आवपनी) जिसमें अच्छी तरह बोनेसे बहुत अन्न उपजता है (असि) ऐसी है, (यत् ते ऊनं) जो तुममें कमी है (तत् ते ऋतस्य) सत्यमयी तेरे उस कमीको (प्रथमजाः) सृष्टिके आदिमें प्रकट हुआ हुआ (प्रजापतिः) परमेश्वर (आपूरयाति) पूर्ण कर देता है ॥ ६१ ॥

हे (पृथिवि ते प्रसूताः) भूमि ! तुममें उत्पन्न हुए सब लोग (अनमीवाः) रोगरहित (अयक्ष्माः) क्षय-रोगरहित (अस्मभ्यं उपस्थाः) हमारे पास रहनेवाले (सन्तु) हों, (नः आयुः दीर्घं भवतु) हमारी उमर बड़ी हो, हम बहुत दिन जीवें (वयं प्रतिबुध्यमानाः) हम ज्ञान विज्ञानयुक्त होकर (तुभ्यं बलिहृतः स्याम) तुझे बलि, करभार, देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! (भद्रया) कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे (मा) हमें (सुप्रतिष्ठितं निधेहि) सुस्थिर कर, (दिवा) प्रतिदिन (संविदाना) सब बातको जाननेवाली (कवे मां) हे क्रान्तदर्शिनी भूमे ! हमें (भूत्यां श्रियं धेहि) पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको सुख देनेवाली है, इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली है, इसलिये जो तेरे में कमी हो उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तुझमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, सुआरोग्य, दीर्घायु, बुद्धिमान्, ज्ञानसंपन्न रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ को बलि देनेमें उद्यत रहें, सब भांति तेरा हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिमान् कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्यको तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त करानेवाली हो ॥ ६३ ॥

मातृभूमिका वैदिक-गीत

जिस देशमें जो लोग रहते हैं वह उनकी 'मातृभूमि' कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भारतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लंडभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माताके रक्त-मांस आदिसे बच्चोंकी देह बनती है, उसी तरह मातृभूमिमें उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और वनस्पतियोंसे उस देशके मनुष्योंके शरीर बनते हैं। इसलिये उस देशको अपनी मातृभूमि समझना उस देशके निवासियोंका कर्तव्य होता है।

परमेश्वरका यह नियम है कि माताके दूधपर बच्चोंका ही अधिकार रहता है, क्योंकि माताके स्तनोंमें जो दूध परमेश्वर उत्पन्न करता है, वह उस मातासे उत्पन्न होनेवाले बच्चोंके

लिये ही होता है। बच्चेका पालन उसकी माताके दूधसे ही होना चाहिये। माताका दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और यह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालककी माताका भी दूध जबरदस्तीसे पियेगा और दूसरे बच्चेको भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वरके नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके बालक दूसरे देशके बालकोंको परतन्त्र बनावें और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियोंको न देकर अपने ही सुखके लिये उपयोग करें, तो यह उनका बहुत बड़ा अपराध होगा। किसीको भी भूलना नहीं चाहिये, कि जो स्थिति माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी भी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम होता है। रात्रिके समय यदि कोई चोर आकर उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाये, तो न्यायी सरकार ऐसे चोरको पकडकर सजा देती है, क्योंकि अपने अपने पूर्वजोंसे चली आई घरकी वस्तु पर सबका अधिकार स्थिर रखना ही न्यायका उद्देश्य होता है। चोरका उस पर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पानेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुम्बका रहता है, उसी तरह देश यह एक बड़ा घर है और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि उस राष्ट्रस्वरूप घर पर दूसरे देशोंके बलवान् लोग मिलकर हमला करें और वहांकी वस्तुओंपर अपना अधिकार बतावे, तो वास्तवमें एक घर पर हमला करनेवाले डाकूके समान ही यह अपराध है। अपितु यह कहना चाहिए कि यह एक साधारण डाकूके अपराध की अपेक्षा कहीं भयंकर अपराध है। यह सिद्ध करनेकी ज्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके बडे बडे तत्त्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राजकारभार तत्त्वज्ञानियोंके हाथमें न होनेसे बलवान् लोग इस तरहकी राष्ट्रीय लूटमारको अपराध नहीं समझते और इस बडे अपराधीको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यहां यह दिखलाना नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलना आवश्यक है या नहीं। यहां तो हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चेका, घरपर उस घरके मालिकका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चोंका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है। इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, कंद, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते हैं, इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमि पर गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग माता पर भी गाने गाते हैं और दूसरोंको उत्साहित करते हैं।

यह अनुभूत है कि माता और मातृभूमिके विषयमें लिखे हुए काव्य नैसर्गिक प्रेम उपजाते हैं। काव्यके भिन्न भिन्न रसोंमें प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवताके काव्यमें जैसा प्रेमरस भरा रहता है, वैसा अन्य किसी काव्यमें नहीं। माता क्या है? एक असीम प्रेमकी मूर्ति। उसके प्रेमके लिए अन्य कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती, उसका प्रेम वास्तवमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमको कोई उपमा देनी ही हो, तो वह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

वह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेमसे ही प्रत्येक मनुष्यका पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माताकी या मातृभूमिकी रक्षामें शरीर निछावर करनेतक को मनुष्य तैयार रहता है।

यह असीम प्रेमही है जिससे प्रेरित होकर सब देशके लोगोंने अपनी जन्मभूमिके गीत बडे भक्तिभावसे बनाए हैं। मातृभूमिके लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशोंमें यह प्रथा है कि आनंदोत्सवमें, विजयोत्सवमें देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीतका गान करते हैं।

इस प्रकारका कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियोंमें है या नहीं, इसके विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान् यह बतलाते हैं कि "भारतवासियोंका एक राष्ट्र कभी भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें इस विस्तृत देशके बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्वकी कल्पना भी न थी तो यह सच हो सकता है।" परन्तु उन विद्वानोंका यह मत सर्वथा निराधार एवं तर्कहीन है, क्योंकि हममें प्रारंभसे ही राष्ट्रीयताकी कल्पना थी, यह ऋषियोंके कालसे आजतक चली आयी है और उसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें कांडका पहला सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्तके विषयमें हम यहां लिख रहे हैं, उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं, यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है, देखिए—

१ ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्। (सायणभाष्य)

(अथर्व १२।१।१)

"ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये।" अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेशकी रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो, तब इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षासे इस सूक्तका निकट संबंध है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये अर्थात् राष्ट्रकी रक्षाके निमित्त ही किया जाता है। इसका विचार और अधिक करनेके लिये नीचे और प्रमाण देते हैं।

२ पार्थिवीं भूमिकामस्य। (नक्षत्रकल्प १७)

"पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला वीर पार्थिवी महाशांतिके करनेके समय इसका उपयोग करे।" देशमें या राष्ट्रमें अशांतिके उत्पन्न होनेपर उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे वेदमें "पार्थिवी महाशांति" कहा गया है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें करनी पड़ती है। ऐसे समयमें इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्पकर्ताका कहना है। "भूमिकामः अर्थात् भूमिकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें शांति स्थापन करनेकी इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसे वह काम करते समय इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। इस सूक्तके पाठसे मातृभूमिके हितका काम करनेमें उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य दृतिकर्मणि। (कौशीतकी सूत्र ५।२)

"(भौम) प्रदेशके या राष्ट्रके (दृतिकर्म) आदरके लिये जो काम करना है, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये।" "दृति" का अर्थ है "आदर"। "दृतिकर्म" का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीयमहोत्सव या विजयोत्सवके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं—

१ पुष्टिकामः।

२ मौक्तिकयाग्रकामः।

३ मणिहिरण्यकामः। (सायणभाष्य अथर्व० १२।१)

"पुष्टिकी इच्छा करनेवालेको, धनकी इच्छा करनेवालेको और रत्न, सुवर्ण आदिकी इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये।" तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका पायन उस समय करना चाहिये, जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। अत. राष्ट्रगीतके समान इस सूक्तका भी उपयोग ऐसे ही अवसरों पर किया जाना चाहिए, यह उपरोक्त सूत्रकार एवं भाष्यकारोंके कथनका तात्पर्य है।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्वके ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे "वास्तोष्पति" नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। "वस्तु" पर पतित्वका या मलकियतका हक बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त "वास्तोष्पति" गणमें हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्तका पाठ उस समय करना चाहिए कि जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त "वास्तोष्पति" गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उक्त बातोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्तकी महत्ता दिखाई देगी और विशेषरूपसे विदित होगा कि मातृभूमिका यह वैदिक गीत एक प्रकारका राष्ट्रीगीत ही है, जिसे राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमिकी कल्पना

इन बाहरी प्रमाणोंका विचार करके अबतक हमने मातृभूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अब भीतरी प्रमाणका विचार करके देखेंगे कि इस सूक्तके विचार कहांतक राष्ट्रीयमहत्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमिकी कल्पना है, वह किस प्रकारकी है। जो लोग समझते हैं कि हमारे पूर्वजोंमें "मातृभूमि" की कल्पनातक नहीं थी, वे इन वचनोंका विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान हैं। उससे यह भी सिद्ध हो जाएगा कि मातृभूमिकी कल्पना सर्वप्रथम ऋषियोंकी है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व. १२।१।१२)

"भूमि मेरी माता है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूं।" हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एक ही माताके पुत्र हैं, अतएव हम सब आपसमें बंधु हैं। प्रत्येक देशके निवासीको यही भाव मनमें लाना चाहिये। मातृभूमिके महत्वके गौरवके विषयमें ऋग्वेदका यह मंत्र द्रष्टव्य है—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽ-
मध्यमासो महसा वि वावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ ६ ॥
(ऋग्वेद ५।५९।६)

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय । (ऋग्वेद. ५।६०।५)

" (पृश्नि-मातरः) मातृभूमिको माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ.) श्रेष्ठ है, न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबका दर्जा समान है। वे सब (उत्-भिदः) अपने ऊपर आई हुई आपत्तियोंको भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु हो हैं। अपने (सौभगाय) धनको बढानेके लिये (सं-वावृधुः) वे सब मिलकर प्रयत्न करते है। "

इस मंत्रमें " पृश्नि-मातरः " अर्थात् भूमिको माता माननेवाले सत्पुरुषोंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले होते हैं। उनमें उच्चनीच भाव नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उद्धारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें बन्धुप्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति करते हैं। मातृभूमिको अपनी माता माननेसे लोगोंके आचरणमें भी समानता आ जाती है, यह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। मातृभूमिको अपने व्यवहारका केन्द्र माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंमें यह बात इतने साफ तौरसे बतलाई है। इसका कारण यह है कि वैदिक ऋषियोंको यह बतलाना है कि इससे आगे आनेवाले लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बढे और वे अपनी उन्नति करें। उसी तरह—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः । (ऋग्वेद १।१३।९)

" (मही) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा ये तीन सुख देनेवाले देवता हैं। वे हर-समय अंत करणमें रहें। "

इस मंत्रकी तीन देवताओंमें मातृभूमिको भी स्थान दिया है। तीन देवताओंका संबंध स्पष्ट करके बतलानेकी यहां आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह इतना स्पष्ट है कि वह एकदम समझमें आ सकता है। इन सब मंत्रोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि हमारे धर्मग्रंथोंमें मातृभूमिके महत्व और श्रेष्ठत्वका कितना वर्णन किया हुआ है, इसीके बारेमें और बातें देखनेके पहिले यह मंत्र द्रष्टव्य है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥
(अथर्व० १२।१।६३)

" हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! मुझे कल्याणमय अवस्थामें स्थापित कर " अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर। इसमें " भूमे मातः " आदि पदोंसे मातृभूमिकी योग्यता जानी जा सकती है। इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ९ ॥
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ॥ ४० ॥
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्ना-
नसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
(अथर्ववेद १२।१)

" यह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे। यह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे। यह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे। यह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे। यह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे। यह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे। "

पिछले सबबका ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें 'भूमि' शब्द 'मातृभूमि' के अर्थमें आया है। " मातृभूमि हमारे लिये यह करे, यह करे " आदि रचना काव्यमय अलंकार है। इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि " मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले। " क्योंकि प्रत्येक काव्यमें इस तरह की आलंकारिक याचना रहती है। उन सब प्रार्थनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदरका भाव भिन्न रहता है। इस विषयमें यह मंत्र मननीय है—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥
(अथर्ववेद १२।१)

" यह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको बहुत दूध देवे। " यह मंत्र कितना अच्छा और आलंकारिक है। माता और पुत्रका संबंध दूध पीनेसे ही शुरु होता है। माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं। गायका दूध हम सब पीते हैं, इसलिये गाय हमारी माता है। भूमिका अन्नरस

आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये यह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है। उपरोक्त मंत्र भागके 'मेरी माता मुझे ही दूध देवे, मातृभूमिमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हमें ही मिलें, कोई दूसरा उन्हें हमसे छीन न ले,' आदि वर्णन अच्छे एवं बोधप्रद हैं अतः विचारणीय भी हैं।

अब कोई यह भी कह सकता है कि "भूमि या हमारी भूमि" आदि शब्दोंसे "हमारी राष्ट्रभूमि" यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमिके बारेमें हमारे धर्मग्रंथोंमें पूर्णरूपसे वर्णन दिया हुआ है। यह संदेह योग्य है, उसके निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सम्मुख रखते हैं–

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।
(अथर्व० १२।१।८)

"वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढावे।"

इसमें "उत्तमे राष्ट्रे" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकही है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् "हमारी मातृभूमिमें" तेज और बल की बाढ होवे। "हमारी मातृभूमिमें" या "हमारे राष्ट्रमें" आदि शब्दोंका अर्थ यही है कि "हम लोगोंमें" या "हमारे देशबांधवों" में। यह बात साधारण विचार करनेवाला भी जान सकता है। परन्तु "हम लोगोंमें" या "देशबांधवोंमें तेज और बल बढे" यह कहनेसे यह कहना कि "हमारे राष्ट्रमें या हमारी मातृभूमिमें तेज और बल बढे" उच्च भावना प्रदर्शित करता है।

इसी मंत्रके "उत्तमे राष्ट्रे" (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं. राष्ट्रभक्तोंकी दृष्टिसे राष्ट्र किस दशामें होना चाहिये, यह इन शब्दोंसे स्पष्ट है। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों कीयह आकांक्षा होनी चाहिये कि "हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रोंमें उत्तम हो।" "तर, तम 'तुलनात्मक उच्चता बतानेवाले प्रत्यय हैं। 'उत्, 'उत्तर और उत्तम" उच्चता की तीन सीढियां बतलाते हैं। "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है। राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रोंमें अति उत्तम हो। इस इच्छासे प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युच्च कोटिका बनानेमें शक्ति भर प्रयत्न करें। उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रकी स्वतंत्रता या परतंत्रता में ही देशवासियोंको सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु देशवासियोंका लक्ष्य होना चाहिये कि वे किसी निश्चित उच्चतम कोटिपर पहुंचे और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें।

इस मंत्रका विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्तमें केवल मातृभूमिकी ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्रके बारेमें भी स्पष्ट भाव हैं और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रोंके आगे रहे, यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है। इस प्रकार अपना वैदिक धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाला है और वह इस आदर्शको स्पष्ट शब्दोंमें जनताके सन्मुख रखता है।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनोंमें होते हुए भी हमारे राष्ट्रमें राष्ट्रीय भावना यथोचित रीतिसे जागृत नहीं है। पर इसका कारण हमारे धर्मका अयोग्य होना नहीं है, अपितु धर्मकी ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातोंकी ओर ध्यान देना ही है। जिस वेदमें ये उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले वचन हैं, उसके प्रति लोगोंमें जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है। लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरहके स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमिके गीतोंमें हैं। उन गीतोंको देखनेसे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरूसे ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है, वह अपने धर्मका एक मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति

हम लोगोंमें धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष्य हो रहा है, यह अनेक उदाहरणोंसे स्पष्ट हो सकता। अध्यात्म ज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरेसे संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा। अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारको छोडकर किसी गुफामें जाकर बैठनेका प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राजकारणसे कोई संबंध नहीं है। इस विरोधके देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रीय भक्तिका निकट संबंध है,' तो उसे कौन सच कह सकता है ? हम इस बातकी सिद्धिके लिए इतिहाससे एक दो उदाहरण देते हैं।

अर्जुन युद्धभूमिमें उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्त्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारीकी थी। पर युद्धके

प्रारम्भ होनेके समय ही वह मोहमें पड गया और जंगलमें जाकर तपश्चर्या करनेके लिये तैयार हो गया। वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया। यह भगवद्गीताका उपदेश सुनकर अर्जुनका मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारनेके लिए तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचन्द्रजीका है। रामचन्द्रजीको विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर यह भ्रम हुआ कि " सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थसे कुछ नहीं हो सकता। " इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थके काम करने छोड दिये। तब वसिष्ठ ऋषिने उन्हें वेदान्तशास्त्रका–अध्यात्मशास्त्रका–उपदेश दिया। इस उपदेशके बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये। इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसोंका नाश किया, संपूर्ण भरतखंडके ३३ कोटी देवोंको बंदिवाससे मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र कर दिया और इस प्रकार आर्य क्षत्रियोंका यश उज्ज्वल किया।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके स्वराष्ट्रके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराजको भी एक दो समय उदासीनताने आ घेरा था और वह रामदासस्वामी और संत तुकारामके उपदेशसे दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहासमें हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छाके विरोधी नहीं हैं। इसके अलावा जिस मातृभूमिके वैदिक गीतके बारेमें हम विचार कर रहे हैं, उसके आगेके और पीछेके सूक्तोंमें भी अध्यात्म विषयका प्रतिपादन है—

यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेदके १२ वे काण्डका प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं, वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम कांड—

सूक्त दूसरा	केनसूक्त (केन उपनिषद्का विषय) ब्रह्मविद्या।
सूक्त ३ से ६	तक शत्रुका नाश करना।
सूक्त ७ और ८	ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)।
सूक्त ९	शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना।
सूक्त १०	गौ माताका रक्षण। गौको दुःख देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश कांड—

सूक्त १	ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)।
सूक्त २	रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)।
सूक्त ३	ओदनसूक्त (भात, अन्न)।
सूक्त ४	प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)।
सूक्त ५	ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पालन करना)।
सूक्त ६	कालचक्रवर्णन।
सूक्त ७	उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)।
सूक्त ८	ब्रह्मसूक्त (शरीरमें प्रविष्ट होने वाले ब्रह्मका सूक्त)।

सूक्त ९ और १० युद्धकी तैयारीका सूक्त।

द्वादश कांड— सूक्त १ मातृभूमिका वैदिक गीत।

इन सूक्तोंके क्रममें युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकाण्डमें ऐसा दो वार निर्देश है। ग्यारहवें काण्डमें अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदिके बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्धकी तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टरूपसे मालूम होता है कि पूर्वकालमें " ब्रह्मज्ञानके बाद ही स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा। " वाचकोंको यह कथन कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझनेके लिये और यह जाननेके लिये कि हमारा कथन ठीक है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहां देते हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
(अथर्ववेद कांड १० सू २)

" अष्ट चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूज्य देव है, उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। " इस हृदयस्थानीय ब्रह्मके वर्णनके बाद अगले सूक्तमें शत्रुको छिन्नभिन्न करनेके मंत्र हैं—

सेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः।
(अथर्व० १०।३।१)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥ (अथर्व० १०।६।१)

" दुष्ट शत्रुओंका नाश करना शुरु करो। दुष्ट शत्रुका सिर मैं तोडता हूं। " इस सूक्तके बाद ७ और ८ वें सूक्तोंमें फिर वेदान्तका वर्णन है—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चंद्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
(अथर्व० १०।७)

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
(अथर्व० १०।८)

" चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन करता हूं। नौ द्वारके कमलमें जो देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं। " इस ब्रह्म-वर्णनके बाद उसीके आगेके सूक्तका पहला मंत्र इस प्रकार है—

बाधापतामपि नह्या मुखानि
सपत्नेषु वज्रमर्पयेतम् ॥ (अथर्व० ११।९।१)

" पापी लोगोंका मुंह बंद करो और यही शस्त्र शत्रुपर फेंको। " इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तोंका क्रम है। उन सूक्तोंका विषय यहां नहीं बतलाते। केवल ११ वें काण्डमेंके आठवें सूक्तका एक मंत्र यहां देते हैं और बाकीके प्राण और ब्रह्मचर्यके सूक्तोंमेंका वर्णन विस्तार भयसे छोड देते हैं।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
(अथर्व० ११।८)

" इसलिये इस (पुरुष) पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि जिस तरह गायें अपने बाडेमें रहती हैं, उसी तरह सब देवता इसीके आश्रयसे रहते हैं। " इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तके आगेका सूक्त इस तरह है—

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत
संनह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वितिष्ठध्वम् ॥२६॥
(अथर्व० ११।९)

" मित्रो ! तैयारी करो, उठो। इस युद्धमें जीतनेके बाद अपने अपने देशको जाओ। " उसी तरह—

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्।
विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥ (अथर्व० ११।१०)

" शत्रुकी सेनामेंसे हजारों मुर्दे युद्धभूमिमें पडें। " इस तरहका वर्णन अध्यात्मज्ञानके बाद कई बार आया है।

इसे अचानक काकतालीय-न्यायसे आया हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि यह तीन जगह इसी तरह आया है। राम और अर्जुनके उपदेशके समय भी यही हुआ है। इसलिये " अध्यात्मज्ञानके बाद स्वातन्त्र्यके लिये युद्ध " होना स्वाभाविक है। इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है। इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बारेमें यह लेख लिखा गया है, वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्त्वका है क्योंकि वह युद्धके समय आया हुआ है।

इस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही देखना चाहिये कि अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका युद्धादि राष्ट्रीय बातोंसे क्या संबंध है।

[१] अध्यात्मज्ञान

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इंद्रिय और शरीरके सब अंगोंको आत्माका आधार है। ये सब बडी शक्तियां हैं, इन शक्तियोंका ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

ये सब शक्तियां हममें हैं। हम बिल्कुल क्षुद्र नहीं है। हमारे आधीन ये बडी बडी शक्तियां हैं। उनको चलानेवाले हम हैं। यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञानसे मालूम होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको क्षुद्र और निर्बल समझता है, वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने पर स्वत को सुबल और समर्थ समझने लगे तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये रामचन्द्रजी जो अपनेको दैवाधीन और परतंत्र समझते थे, वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होने पर दैवको भी अपने आधीन समझने लगे और अपने पुरुषार्थसे विपरीत दैवको भी अपने मनके अनुसार बनानेमें समर्थ समझने लगे। यह शक्ति अध्यात्मज्ञानसे प्राप्त हो सकती है।

[२] ब्रह्मज्ञान

विश्वव्यापी सच्चिदानंद शक्तिका अस्तित्व स्थिर और चर सबमें एकसा है। इस ज्ञानसे सब संसारकी तरफ देखनेकी दृष्टि बदल जाती है।

प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह ऐसी आकांक्षा धारण करे कि " मेरे राष्ट्रमें मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो। " यदि अनकूल परिस्थिति न हो तो उसे प्राप्त करनेमें वह कठिन परिश्रम करे। मनुष्यको अपने घरमें व्यवहार करनेमें जैसी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, उसीप्रकार स्वदेशमें भी रुकावटें न हों। लोगोंको अपने अपने देशमें पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देशवासियोंकी उन्नतिमें विघ्न बाधाएं न डालें। अपने अपने घरमें हरएक मालिक हो। अपने देशमें हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलनाही चाहिये। दूसरोंको तो हमारे देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले, पर हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय, ऐसी परिस्थिति कभी नहीं आने देनी चाहिए। यह ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

राष्ट्रकी उन्नतिके लिए राष्ट्रभक्तोंमें एकता अत्यावश्यक है। बिना ऐक्यके सामुदायिक कार्यका सिद्ध होना असंभव है। सब लोग इस बातको मानते तो हैं किन्तु यह नहीं जानते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देशमें किसप्रकार साध्य होगी ? लोगोंका कथन है कि हमारे देशमें भिन्न भिन्न धर्मके लोग हैं, अनेक भाषाएं और विविध जातियां हैं। रीति-रिवाजोंमें भी अनेक भेद हैं। ऐसी दशामें एकता हो ही कैसे सकती है ? यह कहकर लोग निराश होकर चुप बैठ जाते हैं। ऐक्यके लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं, त्यों त्यों फूट ही बढती जाती है। एकताके लिये प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह अधिकाधिक फूटका ही फल देता है। इसी कारण राष्ट्रभक्त घबरा गये हैं। ऐसे समय निम्नलिखित वैदिक राष्ट्रगीतका मन्त्र बहुत ही विचारणीय एवं बोधप्रद होगा।

जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रंधारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ (अथर्व० १२।१।४५)

" (वि-वाचसं) अनेक भाषा बोलनेवाली और (नानाधर्माणं) नाना धर्मोंसे युक्त जो जनता है उसे (यथा ओकसं) एकही घरके समान धारण करनेवाली मातृभूमि धनकी हजारों धारायें उसीप्रकार मुझे दे; जिसप्रकार उछलकूद न करनेवाली गाय दूध देती है, । "

राष्ट्रकी प्रगति तभी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मोंको माननेवाले एवं विविध रीति रस्मोंपर चलनेवाले लोग एक ही कुटुम्बके एकही घरमें रहनेवाले भाइयोंके समान एकही देशमें रहें। (वि-वाचसं जनं) अनेक भाषा-भाषी लोगोंके रहते हुए भी और (नाना-धर्माणं जनं) विविध धर्मके अनुयायी होते हुए भी उन सबकी एक माता-सबकी आदि माता यही मातृभूमि है, इससे सबको चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर ही उसके सम्मुख खडे हों। मातृभूमिकी उपासना करनेमें भाषाका भेद, प्रांतका भेद, धर्मका भेद या जातिका भेद आडे नहीं आना चाहिये। सब लोगोंको चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब (यथा ओकसं) एक ही घरमें रहनेवाले एक ही कुटुम्बके लोग हैं।

एक ही घरके लोगोंमें कुछ बडे, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गोरे, कुछ सावले, कुछ न गोरे न सांवले, कुछ बूढे, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियां रहती हैं। एक ही घरके लोगोंमें इतने भेद रहते हैं ! ! ! इनमेंसे प्रत्येक यदि कहे कि " मैं अन्य सबसे भिन्न हूं " तथा अपनी भिन्नताके कारण उसने कुटुम्बके हितकी ओर दृष्टि न दी, तो उस घरका, उस कुटुम्बका नाश होनेमें देर ही क्या ? इसके विरुद्ध यदि उस घरके निवासी उस कुटुम्बके घटक क्षुद्र भेदोंको भूल जावें और अपने मनमें यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंबका हित हो, तो यही घर नन्दनवनके समान आनंदसे भरा हुआ दीखेगा। जहां कहीं मनुष्य हैं वहां भेद आवश्यक ही होंगे। किन्तु मनुष्यका धर्म यही है कि क्षुद्र भेदोंको गौण समझकर सब मिलकर अपने घरका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका हित करें। राष्ट्रगीतमें यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके घटक जिस समय आपसी क्षुद्र भेदोंको प्रधानता देकर आपसमें लडते झगडते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेदभावोंको मिटाकर वे सब मिलकर देशहितका कार्य करनेमें लग जाते हैं, तब उनकी शक्ति बढती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देशमें या राष्ट्रमें भाषा, जाति, वंश, धर्म आदि अनेक कारणोंसे अनेक भेद तो होते ही हैं। आज संसारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं, जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नाम-निशान न हो। परन्तु विचारशील राष्ट्रके लोग इन भेद-भावोंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्र-हित ही उनका लक्ष्य है। बस, अपने लक्ष्यपर दृष्टि रखकर वे एकतासे उसीकी प्राप्तिमें लग जाते हैं। आपसमें लडाई झगडा करनेवाली जातियां भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्र-पर आपत्ति आई है, तो वे आपसी झगडे छोड देती हैं, आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रीय आपत्तिका सामना करती हैं। परिणाम यही होता है कि उस आपत्तिसे वे बच जाती

है। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रीय हितकी ओर नहीं देखते, जिन्हें राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्त्वके मालूम होते हैं, वे क्षुद्र भेदभावोंमें ही फंसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदोंके रहते भी जो अभेदका अनुभव करते हैं, वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

केवल हमारे भारतमें ही सब मनुष्य भेदभावोंके शिकार हैं, यह बात नहीं, अन्यान्य देशोंका भी यही हाल है। तब क्या इस देशके निवासियोंको उचित है कि वे ही अपने भेदोंको सदा बढाते रहें और इससे अपने शत्रुको मदद दें? क्या भारतवासी इस महत्त्वकी बातका विचार न करेंगे? जो लोग सदैव यही चिल्लाते रहते हैं कि "प्रथम आपसी भेदभावोंको मिटा दो" उन्हे स्मरण रखना चाहिये, कि ऐसा समाज जिसमें भेदभावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था, न अब विद्यमान है और न भविष्यत्‌में भी इसके होनेकी संभावना है। किसी भी देशमें किसी भी समय जो बात कभी न हुई, वह इस देशमें इस समय कैसे हो सकती है? सब देशोंमें एक बात साध्य हुई है और वह है आपसी भेदोंको मर्यादाका उल्लंघन न करने देना। बस, यही बात हमारे देशमें भी साध्य हो सकती है। अतएव उचित यही है कि लोग असाध्यको साधनेके प्रयत्नमें न लगें, अपितु साध्य बातोंको ही करें और अपनी उन्नति करें।

भारतवर्षमें तीन धर्म विद्यमान हैं, (आर्य) हिंदु, मुसलमानी और ईसाई। इन तीन भिन्न धर्मोंके रहते हुए भी सबको मिलकर मातृभूमिकी उपासनाके लिए तैयार होना चाहिये। यह तो सर्वथा असंभव है कि तीनों धर्म सदाके लिये नष्ट हो जांय। इन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना "अभिन्न राष्ट्रधर्म" देखें। जातिभेद, भाषाभेद, वर्णभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंका सदाके लिए नष्ट होजाना यदि संभव भी माना जाय, तो भी उसमें इतना अधिक समय लगेगा कि इसका कोई अन्दाजा भी नहीं लगाया जा सकता। अतएव हरएक मनुष्यको, हरएक व्यक्तिको यही सीखना चाहिए कि अनेक भेदोंके रहते भी उन्हें भूलकर एक घरके, एक कुटुंबके भाइयोंके समान एकतासे रहें। इस मंत्रका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रभक्त उसपर ध्यान दे। अब आगेका मंत्र देखिए—

असंबाधं बध्यतो मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति।
पृथिवी न प्रथतां राध्यतां नः॥ (अथर्व० १२।१।२)

"जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें उच्चता, नीचता और समताके संबंधमें (बहु अ-संबाध) बहुत ही निर्वैरता है अर्थात झगडे नहीं हैं और जो नाना गुणोंसे युक्त औषधी उत्पन्न करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथतां) कीर्ति वा ख्याति बढावे।"

विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हित कैसे करना चाहिये यह बात यह मंत्र बताता है। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि आत्माके न्यूनाधिक विकासके कारण तथा उनकी व्यवहार कुशलताकी न्यूनाधिकतासे उनमें ऊंच, मध्यम आदि भेदोंका रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नहीं कि सब मनुष्य समान योग्यताके व बिल्कुल एकसे बनें। ऐसी असमानता रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनका ध्यान अभेदकी ओर ही हो।

मंत्रमें 'अ-सं-बाध' शब्द है। वह अतीव महत्त्वका है। गौण भेदोंको यदि प्रधानता दी जाय तो एक समाजके मनुष्योंका दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरेको मिटाकर स्वयं ही जीवित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातियोंमें 'संबाध' उत्पन्न होता है। परस्पर विरोध करने ही का नाम 'संबाध' है। संबाधका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब तक समाज दूसरे समाजको बाधा पहुचाता है, एक जाति जब दूसरी जातिको कष्ट पहुचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति-जातिमें, समाज-समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात बतलानेके हेतु मंत्रमें कहा है—

'यस्या मानवानां बध्यतः बहु असंबाधम्।'

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्वैर भाव है।' वही मातृभूमि अपने सुपुत्रोंको उत्तम धन दे सकती है। परन्तु जिस भूमिके लोग आपसमें वैर भाव रखते हैं, वहांकी जनता आधा पेट रहती है। कोई ऊंचा हो, कोई ज्ञानी हो, कोई अज्ञानी हो पर शरीरसे वह हृष्टपुष्ट हो। सबको चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणाधिक्यके घमण्डसे उन्हें गुणहीनोंको वा न्यून गुणवालोंको न दबाना चाहिये। कुछ लोग गूंगे हों और कुछ वाचाल हों, तो दोनों मिलकर, आपसमें न लडकर दोनोंको अपनी शक्तियोंका मेल करना

चाहिये और उन्हें मातृभूमिकी वेदीपर चढा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्वतः) उच्चता, (समं) समता और (प्रवतः) नीचता रहती है, वह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहती। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातोंमें नीचा होगा। एक विद्वान् यदि ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उसका दर्जा कम भी हो सकता है। यदि कोई शक्तिशाली पहलवान् हो, तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके घमण्डसे और बलवान् शक्तिके घमण्डसे एक दूसरेके सिर न फोडें, बल्कि दोनोंको चाहिए कि वे मिलकर देशके शत्रुओंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि अनेक भेदोंके रहते भी अभेदभावसे अपना मार्ग निकालें। जो मनन करनेमें समर्थ हैं उसीको मानव कहते हैं। मनन करनेवाला झगडे उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर झगडे कम करता है और उन्नतिके मार्गसे आगे जाता है। जो अपनी परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके झगडे ही बढाते हैं, वे दो पैरवाले होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढनेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मग्रंथका क्या दोष ? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्यका उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि अपने देशके प्रति हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे *सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। यह मातृभूमि सबका पोषण करती है*—

> त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्या-
> स्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
> तवेमे पृथिवि पंच मानवा
> येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन् सूर्यो-
> रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

" हे मातृभूमि ! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझ पर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपाद और चतुष्पादका पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम मानवोंको प्रतिदिन उगनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है। "

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि ' हम सब मनुष्य भूमातासे (त्वत्-जाताः) ही उत्पन्न हुए हैं और उस पर ही घूमते फिरते हैं। ' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। *प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है।* तभी वह राष्ट्रकी उन्नतिके योग्य कार्य करनेमें समर्थ होता है। मातृभूमि हमारी आलंकारिक या काल्पनिक माता नहीं, अपितु वास्तविक माता है। यह विचार जितना जीवित होगा, उतनी ही दृढ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा कर सकेगा।

हमारे देशमें जो जातीय झगडे होते हैं उनका कारण यह *है कि इस देशके निवासी नहीं समझते कि वस्तुतः हम सब* मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथके हितकी वृद्धि रखते हैं। सबका जो एक राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई चिन्ता ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निवासियोंमें किसी भी जातिके लोग न रखें, इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि ' हम सब मातृभूमिके बालक हैं। ' आपसी फूटकी यह एक अक्सीर दवा है। मनुष्य किसी भी धर्मके या पंथके रहें, या उनमें जाति और वर्णके कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न हो; यदि वे एक राष्ट्रधर्मसे बंध जायेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपादोंका और अन्य चतुष्पादोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टिसे भी यदि देखें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिकी भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकानकी रक्षा करते हैं, अपनी जमीनकी रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होता है। क्योंकि यही मातृभूमि मनुष्योंको और पशुपक्षियोंको अन्न, उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमिकी रक्षा न करेंगे, तो वह किसी दूसरेके आधीन हो जावेगी और तब हमारी आफत होगी, हमारे भूखों मरनेकी नौबत आ जायेगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने योग्य समयमें मातृभूमिकी रक्षा नहीं की, अतएव अब कष्ट सहने पड रहे हैं।

इस आपत्तिके समय भी हम आपसी झगडोंको नहीं भूलते, और एकतासे मातृभूमिकी सेवा करनेको तैयार नहीं होते। गत कालमें हम लोगोंने जो गलतियां कीं सो तो हो चुकीं। उनके बारेमें अब कोई कितना ही क्यों न कहे, वे बदल नहीं सकतीं। परंतु उन गलतियोंका फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वेही भूलें करना और प्रतिदिन आपसी भेदभावोंको बढाना भयंकर भावी आपत्तिका चिन्ह है।

सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही धारणा हरएक मनुष्यमें होनी चाहिए। हमारी वर्तमान गिरी दशामें अथर्ववेदके ये अनमोल उपदेश रत्न–ही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतना ही नहीं वे हमारा यश चारों दिशाओंमें फैला सकते हैं।

यहां तकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे किया जा सकता है और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले पृष्ठोंसे यह स्पष्ट होगया होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके उच्च तत्त्वोंका जैसा समावेश है, वैसे तत्त्व अन्य किसी देशके राष्ट्र-गीतमें नहीं है। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीत-पर और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिके लिए प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, पहाडों एवं अन्यान्य स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्त्वके कारणसे ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा। किसी महत्त्वकी पुण्यमयी घटनासे संबंध हो, या उसका किसी महात्मासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष घटनासे उसका संबंध हो। अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है—

देवोंद्वारा बसाए हुए स्थान

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा-
माशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ (अथर्व. १२।१।४४)

" हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और जिसके खेतोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिको परमेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनावे।"

(यस्याः देवकृताः पुरः) " जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं " वाले भावसे जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बनाए हैं, हमारे नगरोंसे देवोंका संबंध है, देवोंका देवत्व हमारे नगरोंमें है। इसप्रकारका जीवित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें भी मनमें प्रेम जागृत होगा।

इतिहासमें ऐसा उल्लेख है कि हमारी भारतभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे हुआ है। भगवान् श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्या और रामेश्वरसे है। श्री कृष्णजीका संबंध गोकुल, वृंदावन तथा द्वारकासे है। इंद्रका संबंध इंद्रप्रस्थसे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इसप्रकार अनेक नगरोंसे देवोंका संबंध है। नदियां, तालाब, सरोवर, पर्वत शृंग, गुफाएं आदि स्थानोंसे देव देवताओंका वा पुण्य पुरुषोंका संबंध रहा है। इसका वर्णन ग्रंथोंमें भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंको भी कथा–पुराण आदिके अध्ययनसे मालूम हो सकता है। गौरीशंकर और कैलासके पर्वत शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरके साथ है। बद्रीकेदारके आश्रमका संबंध नर–नारायण नामक ऋषिमुनियोंसे है। मातृभूमिकी दृढ भक्तिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्रीपुरुषोंको विदित होवे।

कुछ शिक्षित लोग कहेंगे कि " यह अंधविश्वास किस लिए? बिलकुल व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।" बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक लाभके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर बताए गए संबंधोंका भी विचार हो तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इसलिए नहीं कि माता सुंदर है, या माता दूध देती है। यह प्रेम करता है क्योंकि " मातृदेवो भव " के अनुसार माता एक देवता है। बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य भावनाके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदलेकी आशा न रख जो प्रेम किया जाता है, वही दिव्य प्रेम है, वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिका प्रेम भी इसीप्रकार अकृत्रिम, निःसीम, आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। लोगोंमें अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न हो इसलिए उपर्युक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवोंसे है।

जो ज्ञानीलोग आर्थिक या व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे मातृभूमिकी भक्ति करते हों, वे भले ही वैसा करें। उसमें

किसीको आपत्ति नहीं। परंतु सब जनता उस कोटिकी ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें भी मातृभूमिके प्रति विशेष प्रेम उत्पन्न हो, इसी गरजसे सबको मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवोंसे या ऋषियोंसे है।

प्रतापगढ तथा सिंहगढसे शिवाजी महाराजका संबंध, चित्तौडगढसे महाराणा प्रतापसिंहका संबंध, झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका संबंध, गढ मंडलासे रानी दुर्गावतीका संबंध, परळीसे स्वामी रामदासका संबंध और इसीप्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगढका या अन्य किसी उस स्थानका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्यसे संपूर्ण भारतके हृदयमें चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्टकृत्यका जवाब पूछनेको तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिका बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको भुलानेमें दक्ष रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम अलाहाबाद रखा, सहस्रतीर्थका नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्डको मटन कहा, बाबा महर्षिका नाम तोडदिनेसि कर डाला, श्री शंकराचार्यके स्थानको तख्त-ए-सुलेमान कहा और इसीप्रकार हजारों शहरोंके और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजोंका राज्य हुआ, तब उन्होंने धवलगिरीके गौरीशंकरका नाम मौंट एवरेस्ट रख दिया और सिमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजोंके अंग्रेजी नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसलमानोंने मंदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलात्कारसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग धर्मांतर करा रहे हैं। वे प्राय प्रत्येक देवस्थान और तीर्थस्थानमें आकर उसकी निंदा करते हैं। इसका भी कारण यही है कि जिससे अपने देशके स्थानोंका हमारा अभिमान नष्ट हो जाय।

विजेता मुसलमान हों, अंग्रेज हों या जापानी हों उनका सबका स्वभाव एकहीसा होता है। जिन लोगोंके हृदयसे मातृभूमिकी भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूकते नहीं। मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति रखनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सर्वत्र जागृत रहना चाहिये। जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा, तबतक विदेशी जेताओंके पैर जम नहीं सकते। यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेता जीती हुई पादाक्रांत जनताको मातृभूमिके प्रेमके सब चिन्ह जल्दी मिटानेका प्रयत्न करते हैं। संसारके इतिहाससे वाचक इसकी पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं।

ऊपरके मंत्रमें और दो बातें ध्यान देने योग्य हैं— (१) लोग अपने अपने क्षेत्रमें ध्यानसे काम करें। और (२) देशके निवासीको चारों दिशाएं रमणीय मालूम हों। अपने ही देशकी चारों दिशाएं हमको रमणीय नहीं मालूम होतीं, इसका कारण हमारे अन्दर अपनी मातृभूमिके प्रति स्वाभिमानकी कमी है। स्वाभिमानी लोगोंको सब दिशाएं रमणीय मालूम होती हैं। यह कहना कि ' सब दिशाएं हमें रमणीय दिखें ' ' हम स्वाभिमानी हों ' कहनेके बराबर है।

देशके नगरोंके प्रति अपनेपनका भाव बहुत महत्त्वका है, इतर धर्मावलम्बियोंमें बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति अपनेपनके भाव नहीं है। इससे उन्हें भारतदेश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होता। इससे राष्ट्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका बड़ा भारी नुकसान हुआ है।

ऋषि—ऋण

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

" जिस मातृभूमिमें पूर्वके ज्ञानियोंने, देशका भूतकाल बनानेवाले ऋषियोंने सत्र और यज्ञ करके तथा तप करके सप्त (गाः) भूमियोंका उद्धार किया " वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे देशका भूतकालका इतिहास बनानेवाले तपस्वी ऋषि थे। देशवासी यदि इस बातका विश्वास करें तो उन्हें प्राचीन कालके दिव्य समयका निश्चय होगा। पूर्वकालके दिव्यत्वका एवं उत्तमताका निश्चय हो जानेपर उन्हें इच्छा होगी कि भविष्यकाल भी ऐसा ही उज्ज्वल हो और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे। जिनका भूतकाल तेजस्वी है, उनका भविष्यकालभी तेजस्वी हो सकता है, यदि उसके लिए प्रयत्न किया जाए तो।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने हमारे प्राचीन इतिहासमें बडे बडे महान् कार्य किये, अत्यन्त तपस्वी और बडे थे। हमारा इतिहास जंगली लोगोंका नहीं है, किंतु महान् तपस्वी ऋषि मुनियोंके प्रशस्ततम कार्योंसे उज्ज्वल हुआ हुआ है। हमारी राष्ट्रभूमिके सब लोगोंमें राष्ट्रभूमिके प्रति प्रेमभाव उत्पन्न हो। इसके लिए आवश्यक है कि ऊपरकी भावना मनमें स्थिर हो।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत अनेकानेक दृष्टियोंसे वाचकोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्र-गीतके प्रति वाचकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञसे राष्ट्रकी उन्नति और राष्ट्रकी जागृति करते थे। वर्तमान संक्षिप्त यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन सत्र और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता। पहलेके वैदिककालके यज्ञ और सत्र आजकलके समान छोटेसे मंडपोंमें नहीं होते थे। उनके मंडपोंका विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। प्राचीनकालके यज्ञोंका स्वरूप आजके यज्ञोंसे बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अपने परिश्रमसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मन्त्रोंमें " भूतकाल बनानेवाले ऋषि " कहकर उनका सन्मान किया है। इसीके संबंधका निम्नलिखित अथर्ववेदका मंत्र देखिये-

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
(अथर्ववेद १९।४१।१)

" लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया, उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ। अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें।"

इसमें यह बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई? पाठक देख लें कि ऋषि 'भूतकाल बनानेवाले' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषिऋण है। उसे चुकानेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजोंने भी किये उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगेके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

देव-ऋण

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं
वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५॥

" हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंको भगाया, जो गौव, घोडे और पक्षियोंको अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।"

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें बडे बडे प्रयत्न किये, अनेक लडाइयां कीं, अनेक चढाइयां कीं और खुले मैदानमें लडाइयां कीं, इतना सब काम करके अपनी मातृ-भूमिका यश उज्ज्वल किया। हमारे पूर्वजोंका यह प्राचीन और उज्ज्वल इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम लोगोंका बर्ताव उस इतिहासके योग्य है? उन समरविजयी पूर्वजोंके वंशज होनेसे हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्तिको शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए।

जिस देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भगाया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा, वही देश इतने वर्षोंतक पराधीनताके बंधनोंमें जकडा रहा कितने शोकको बात है! प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और त्यों किया। ये बातें केवल झूठे अभिमान और गर्वके लिए नहीं कही जातीं। उनके कहनेका उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कार्योंसे हमें स्फूर्ति मिले और हम भी वैसा ही कार्य करें। हम लोगोंको चाहिए कि उस उद्देश्यकी पूर्ति हम लोगोंसे कहां तक हो सकी है।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रन्थोंमें लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे देशोंके धर्मग्रंथोंमें तो है ही नहीं, पर उन लोगोंके अन्य किसी ग्रंथमें भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रकी उन्नतिके विषयमें लापरवाह हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रके हितके लिये तत्पर हैं। इस दशाको देखकर कैसा भारी आश्चर्य होता है!! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है। उसमें उदात्त विचारोंसे लबालब भरे हुए दिव्य मंत्र हैं। ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्यमें राष्ट्रीयताका भाव ही नहीं और यह भाव हमारे लिए परकीय है इस प्रकारकी समझ रखने-वाले हममें हैं। अस्तु। वस्तुस्थिति जैसी है वैसी हमने जनताके सम्मुख रख दी है। " जहां उपजता है वहां बिकता नहीं और जहां बिकता है वहां उपजता नहीं " की कहावत यहां चरितार्थ होती है। और देखिये—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः॥
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

" जिस भूमिको माप अश्विनीकुमारोंने की, जिस भूमिमें

भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्रने जिसे अपने लिए शत्रुरहित किया, वही हमारी मातृभूमि, जैसे माता अपने बालकको दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोगके पदार्थ देवे।"

इस मन्त्रमें स्पष्ट शब्दोंमें बतलाया है कि देवोंने इस मातृभूमिके लिये क्या क्या किया। अश्विनीकुमारोंने देशदेशान्तरोंके क्षेत्रोंको नाप की, देशोंकी सीमाएं निश्चित कीं, जमीन नापी और इसप्रकार मातृभूमिकी सेवा की। भगवान विष्णुने जो पराक्रम किये वे सबको विदित ही हैं। इन्द्रने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमिको शत्रुके कब्जेसे छुडाया। इसप्रकार अन्यान्य देवताओंने भी इस मातृभूमिके लिए जो कुछ बन सकता था किया। उसमें कुछ कसर न रखी। देव और असुरोंके युद्धमें हजारों देववीरोंने इस मातृभूमिके उद्धारके लिए युद्धक्षेत्रमें अपना बलि-दान किया और इस भूमिको स्वतंत्रताका सौभाग्य प्रदान किया। वही देवोंका व्रत हमें भी चलाना चाहिए। देवोंके द्वारा निश्चित किए मार्गपर ही हम लोग भी चलें। यह जानकर कि हम लोगोंके लिये देवोंने तथा उस समयके पुरुषोंने क्या क्या किया, हमें उनके ऋणसे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिऋण कौनसा है सो बतला दिया गया, देवऋण कौनसा है सो भी बतला दिया गया। इन ऋणोंसे मुक्त होनेके लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए। प्रत्येकको सोचना चाहिए कि हम ऋणमुक्त होनेकी चेष्टा कर रहे हैं या नहीं। इस देवऋणके बारेमें एक और मंत्र देखने योग्य है—

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा
भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

"देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती और आलस न करते करते आए हैं, वह मातृभूमि हम लोगोंको तेज और मीठा शहद आदि खानेके पदार्थ देवे।"

(अ-स्वप्नाः देवाः) आलस न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते आए हैं। आलस न करते सदैव काम करनेवाले उन देवोंके सन्मुख खडे होनेमें आलसी लोगोंको शरम आनी चाहिए। न थकते हुए, विश्रांति न लेते हुए हम लोगोंके लिए जिन देवोंने ऐसा भारी परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्यके बदलेमें हम लोगोंने क्या किया? उनका स्वातन्त्र्यरक्षाका कार्य क्या हम लोगोंने चलाया है? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगोंने राष्ट्रोन्नतिका कार्य सदैव ही रखनेका भी निश्चय किया है?

ऊपरके मन्त्रमें यह भी कहा है कि (देवाः अप्रमाद रक्षन्ति) देव गलती न करते हुए रक्षा करते हैं। देवोंने गलती न करते हुए मातृभूमिका रक्षण किया, इसीसे तो वे दानवोंसे छुटकारा पा सके। असुरोंने अनेक बार देवोंको चिरकालकी पराधीनताकी बेडीमें जकड देना चाहा। रावण, बली और इनके सदृश अन्य राक्षसोंने इस प्रयत्नमें कुछ भी कसर न रखी। किंतु ऐसे सब अवसरोंपर देवोंने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा की, अपनी स्वाधीनता बचाए रखी और असुरोंको भगा दिया। गलती न कर दक्षतासे कर्तव्य करनेकी जो दीक्षा देवोंने हमें दी, क्या हमें उसका अभ्यास सावधानीसे न करना चाहिये? स्वदेशके कार्यमें हम लोगोंकी दक्षता क्या वैसी है, जैसी होनी चाहिए? हम लोग निरे हठके कारण पग पग पर क्या भारी भूलें नहीं कर रहे हैं? वास्तवमें राष्ट्रकार्यके लिए आत्मसमर्पण करनेको हमें सदैव तैयार रहना चाहिये। किंतु आत्मसमर्पणका समय आनेपर उसकी ओर ध्यान न देनेवाले कितने ही लोग हममें हैं।

विद्वानोंका ऋण

ऋषियोंका राष्ट्रकार्य हम देख चुके। देवोंने क्या किया सो भी देख लिया। हमें अब देखना है कि मननशील बुद्धिमान् पुरुषोंने कौनसा कार्य करके राष्ट्रकी सेवा की—

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां
मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

"हमारी जो मातृभूमि आरम्भमें समुद्रके नीचे थी और जिसकी सेवा मननशील विद्वानोंने अनेक प्रकारके काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करावे।"

इस मन्त्रका "यां मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः" यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे अतिशय महत्त्व रखता है। इसका "माया" शब्द अतीव महत्त्वका है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैतमतका मायावाद नहीं है। माया शब्दके कई अर्थ हैं— "(१) कुशलता, कामकी कुशलता, कौशलसे किया हुआ कारीगरीका काम, चातुर्य, (२) कपट दावपेंच जिनकी आवश्यकता राजनीतिमें है, शत्रुको धकमा देनेकी विद्या।" ये सब अर्थ माया शब्दके ही हैं। इन दोनों अर्थोंसे माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मननशील लोग समयको देखकर कुशलतासे, चतुराईसे, कपटसे वा राजनीतिके नियमोंसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं। यही इस मन्त्रका आशय है।

इसप्रकार देव, ऋषि और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमिकी सेवा की है। जो मार्ग ऋषि, देव और अन्य बड़े बड़े ज्ञानी लोगोंने दिखा दिया, उसी रास्तेसे हमें जाना चाहिए। तभी हमारी भलाई होगी। हमपर तीन ऋण हैं; ऋषि-ऋण, देव-ऋण और अन्य ज्ञानियोंका ऋण। हमें इन ऋणोंको देखना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस लेखके वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्यका संबंध ऋषि-कालकी बड़ी विभूतियोंसे मिलाते हैं। हमारा अखण्ड राष्ट्रीय कर्तव्य ऋषियोंने आरंभ किया, देवोंने उसकी वृद्धि की और अन्य विद्वानोंने उसे बढाया। इस त्रिवेणी-संगममेंसे वह हमारे पास आया है। इसीसे हमें उसे आगे चलाना चाहिये। उसे चलाना हमारा आवश्यक कर्तव्य हो है। यदि हम उस कार्यको नहीं चलाते तो ऋषि और देव हमसे जवाब पूछेंगे। हरएकको यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

लोग इस मंत्रके उपदेशपर अच्छी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे विलक्षण और उच्च राष्ट्रीय धर्मका उपदेश करता है; और वे उसके अनुसार आचरणके लिए तत्पर हों। हमारे राष्ट्रको संसारके राष्ट्रोंमें उच्चसे उच्च स्थानपर पहुंचानेकी जवाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सर्वदा तैयार रहना चाहिए।

मंत्रोंकी संगति

यहां इस विवरणको समाप्त करते हुए हम इस सूक्तके मंत्रोंकी संगति पर थोडासा विचार करते हैं। इस सूक्तमें कुल ६३ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथमके मंत्रमें मातृभूमिका धारण किन गुणोंसे होता है यह बात कही है, इसलिए यह मंत्र सबसे अधिक महत्त्वका है। प्रत्येक राष्ट्रभक्तको उचित है कि वह इस मंत्रको देखे, विचारे, मनन करे और इन गुणोंको अपने अंदर बसाकर अपने आपको मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये सुयोग्य बनावें।

द्वितीय मंत्रमें जो राष्ट्रके लोगोंके अन्दर आपसकी एकता चाहिये, तथा आपसी झगडे नहीं चाहिए इत्यादि महत्वपूर्ण उपदेश कहे हैं, उन्हें सदा स्मरण रखना चाहिए। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें सामान्यतया भूवर्णन है, परंतु उनमें (कृष्टयः संबभूवुः) किसानोंकी सम्पन्नताका जो वर्णन है वह सनातन महत्वका विषय है।

पंचम मंत्रमें पूर्वजोंके पराक्रमों (पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) को स्मरण करनेकी जो सूचना दी है वह आबालवृद्धोंके द्वारा कभी भूलना-योग्य नहीं है। जो अपने पूर्वजोंका महत्वपूर्ण इतिहास नहीं जानते वे निःसंदेह आगे बढ नहीं सकते। इस कारण यहां यह उपदेश दिया है। सातवें मंत्रमें भी (अस्वप्न भूमिं अप्रमादं रक्षन्ति) आलस्यरहित होकर मातृभूमिकी रक्षा करनेका महत्वपूर्ण उपदेश है। इसका पंचम मंत्रके साथ संबंध देखकर पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

मंत्र ६ और ७ में मातृभूमिका मनोहर वर्णन है। नवम मंत्रमें उदारचरित संन्यासियोंके संचारसे सर्वत्र ज्ञानप्रसार होकर सब प्रजाजनोंके अन्तःकरण ज्ञानविज्ञानके द्वारा शांतिसे भरपूर होनेका बोधप्रद वर्णन है। दशम मंत्रमें इन्द्र और विष्णुके पराक्रमोंका जो कथन है, वह ५ वें और ७ वें मंत्रके साथ मिलाकर पढना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण गंभीरता ध्यानमें आ सकती है। ११ वें मंत्रमें (अजीतो अहतं पृथिवीं अध्यष्ठां) ' मैं अजेय होकर मातृभूमिका अधिष्ठाता बनूं ' यह उत्कर्षपूर्ण महत्वाकांक्षा राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यमें उत्पन्न होनी चाहिये, ऐसा जो सूचित किया है वह विशेष ही उत्तम संदेश है।

१२ वें मंत्रमें ' माता भूमि और उसका मैं पुत्र हूं ' यह मातृप्रीति और वत्सलका प्रेम सूचित करनेवाला वाक्य पढकर प्रत्येक पाठक प्रेमसे सद्गदित होंगे इसमें संदेह नहीं है। १३ वें मंत्रमें यज्ञका संदेश पाठक देखें। १४ वें मंत्रमें वीरोचित भाषा बडी क्षात्रतेज बढानेवाली है। ' जो हमारा नाश करेगा, उसका नाश हम करेंगे और आगे बढेंगे ' इसे पढकर किसमें वीरता न बढेगी? १५ वें मंत्रमें एकही मातासे उत्पन्न हुए पांच मानवजातियोंकी अभेद्य एकताका सुंदर वर्णन है। १६ से १८ तकके मंत्रोंमें (भूमिं विश्वहा अनुचरेम) ' हम मातृभूमिकी प्रतिदिन सेवा करें ' यह प्रतिज्ञा सबने अपने मनमें धारण करने योग्य है। क्या कभी ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमिकी उपेक्षा करेंगे?

१९ वें मंत्रसे ३१ वें मंत्रतक मातृभूमिका सुंदर वर्णन अलंकारोंसे भरपूर भरा हुआ है। अग्नि, मंत्रमें हवन, पृथ्वीका गन्धगुण, वनस्पतियोंकी उत्तमता, भूमिकी दृढता आदि वर्णन देखनेसे सचमुच हृदयका आनंद बढता है। मंत्र ३२ वेंमें (परिपंथिनो वधं) डाकूलुटेरोंका वध करके शासन करनेकी सूचना है। मंत्र ३३ वेंमें सूर्यप्रकाशसे रोगादि ईतियोंके उत्तम नाशक करनेका महत्वपूर्ण उपदेश दिया है

*

३४ वें मन्त्रमें 'अहिंसा' और ३५ वे मन्त्रमें मर्मच्छेदन न करनेका उपदेश विलक्षण युक्तिके साथ दिया है।

३६ वे मन्त्रमें छ ऋतुओं, दो अयनों और अहोरात्रका उल्लेख संवत्सरचक्रकी परिपूर्ण कल्पना बता रहा है। ३७ वें मन्त्रमें इन्द्रवृत्रयुद्धके मिषसे अपनी मातृभूमिके सब शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना बडी मननीय है। ३८ वें मन्त्रमें सोमरस का बडा ही मनोरंजक वर्णन है। सत्र और यज्ञसंस्थाके चलानेवाले ऋषियोंके अपूर्व सत्कर्ममार्गोंका प्रशंसापूर्ण उल्लेख ३९ वे मन्त्रमें है।

४० वे और ४४ वे मन्त्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है। ४१ वे मन्त्रमें जनताका गायन, नर्तन और आनन्दके साथ नगरकीर्तनका उल्लेख है। यह राष्ट्रीय जीवनकी तेजस्विता बता रहा है। ४२ वें मन्त्रमें मातृभूमिको नमन किया है।

४३ वें मन्त्रमें अपने राष्ट्रमें वेदोंद्वारा बनाये और बढाये नगरोंके विषयमें पूज्यभाव धारण करनेका उपदेश है। अपने लिये जगत्‌की सब दिशाएं रमणीय होनेका महत्त्वपूर्ण भाव इसीमें पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

४५ वा मन्त्र 'नानाधर्मोवाले और नानाभाषावाले विविध जनोंको एकता राष्ट्रभक्तिसे होगी' यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है, इसलिए यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त रहनेवाले और कारणके विना आपसी झगडे बढानेवाले लोगोंको बडा ही बोधप्रद है। ४६ वे मन्त्रमें सहरोले जीवोंके भाव मानवोंमें न आवे, ऐसा कहकर सद्भाव बढानेका उपदेश अपूर्व रीतिसे किया है।

४७ वें मंत्रमें सार्वजनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है। दुराचारी और सदाचारी मार्गपर समान अधिकारसे चलते हैं। इस सार्वजनिक स्थानमें हरएक मनुष्य जा सकता है। यहां एककी आज्ञा और दूसरेको प्रतिबंध नहीं हो सकता।

मातृभूमिको पापी और सदाचारी पुत्ररूपेण समान है, यह भाव मन्त्र ४८ में देखने योग्य है। ४९ से ५१ के तीन मन्त्रोंमें पशुओं, पिशाचादिकों और पक्षियोंका वर्णन है। मंत्र ५२ और ५३ में प्रिय धाम और मेधाकी प्राप्तिका कथन है।

५४ वें मन्त्रमें अपने विश्वविजयकी महत्त्वाकांक्षा है। ५५ वे मन्त्रमें चारों दिशाओंमें उत्कर्ष फैलानेका संदेश है। और ५६ वें मन्त्रोंमें सार्वजनिक सभाओंमें मातृभूमिके विषयमें शुभ भाषसे भाषण करनेका उपदेश है। ५७ वें मन्त्रमें सेनाकी तैयारीका वर्णन है। मन्त्र ५९ से ६१ तक सर्वसाधारण उपदेश है। ६२ वे मन्त्रमें मातृभूमिके हितके लिए आत्मसमर्पण करनेका आदेश है और ६३ वें मंत्रमें सब प्रजाओंकी सुप्रतिष्ठा स्थिर करनेका संदेश देकर सूक्तकी पूर्णता की है।

इसप्रकार इस सूक्तगत मन्त्रोंकी संगति है।

विराट्

कांड ८, सूक्त १०

(ऋषि - अथर्वाचार्य । देवता - विराट् ।)

(१) विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्यां जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥
सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ— [१] (विराट् वै) विराट् ही निश्चयसे (अग्रे इदं आसीत्) प्रारंभमें यह जगत् था। (तस्याः जातायाः) उसके उत्पन्न होनेपर (इयं एव इदं भविष्यति इति) यही ऐसा [सदा] रहेगा, इस कारण (सर्वं अबिभेत्) सब भयभीत होगये ॥ १ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्) वह गृहपतिसंस्थामें परिणत होगई, (य एवं वेद) जो ऐसा जानता है वह (गृहमेधी) गृहयज्ञ करनेवाला होकर (गृहपतिः भवति) गृहपालक होता है ॥ २-३ ॥

सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥
सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥
(२) सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥
तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभयं उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥
तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

अर्थ—(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा आहवनीये न्यक्रामत्) वह आहवनीय अग्निसंस्थामें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो इसप्रकार जानता है वह (देवानां प्रियः भवति) वह देवोंका प्रिय बनता है और (देवाः अस्य देवहूतिं यन्ति) सब देव इसके देवोंके बुलाए जानेके स्थानपर जाते हैं ॥ ४-५ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्) वह दक्षिणाग्नि संस्थामें परिणत हुई। (यः एवं वेद) जो इसप्रकार जानता है वह (यज्ञर्तः दक्षिणीय वासतेयः भवति) योग्य रीतिसे यज्ञ करनेवाला संमानयोग्य और दूसरोंको रहनेका स्थान देनेवाला होता है ॥ ६-७ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा सभायां न्यक्रामत्) वह सभामें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सभ्य भवति) सभाके योग्य होता है और लोग (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभामें जाते हैं ॥ ८-९ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा समितौ न्यक्रामत्) वह समितिमें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सामित्य भवति) समितिके योग्य होता है और लोग (अस्य समितिं यन्ति) इसकी समितिमें जाते हैं ॥ १०-११ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा आमन्त्रणे न्यक्रामत्) वह मन्त्रिसभामें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (आमंत्रणीयः भवति) मन्त्रीमण्डलके योग्य होता है और लोग (यस्य आमन्त्रणं यन्ति) इसकी सलाह लेनेके लिए जाते हैं ॥ १२-१३ ॥

[२] (सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उत्क्रान्त हुई और (सा अन्तरिक्षे चतुर्धा) वह अन्तरिक्षमें चार प्रकारसे (विक्रान्ता अतिष्ठत्) विभक्त होकर स्थिर हुई ॥ १ ॥

(देवमनुष्याः तां अब्रुवन्) देव और मनुष्य उसके विषयमें बोले कि, (इयं एव तत् वेद) यही वह जानती है, (यत् उभये उपजीवेम) जिससे हम दोनों जीवित रहते हैं। अतः (इमां उप ह्वयामहे इति) इसको हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

(तां उपाह्वयन्त) इसको उन्होंने बुलाया, पुकारा ॥ ३ ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥
बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥
ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥
अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥
ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥
अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥
(३) सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥
तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥
सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥
तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— (ऊर्जे एहि) हे बल ! आ। (स्वधे एहि) हे धारण शक्ति ! आ। (सूनृते एहि) हे सत्य ! आ। (इरावति एहि) हे अन्नवाली, आ ॥ ४ ॥

(तस्याः वत्सः इन्द्रः आसीत्) उसका बछडा इन्द्र था, (गायत्री अभिधानी) गायत्री रस्सी थी और (अभ्रं ऊधः) मेघ दुग्धस्थान था ॥ ५ ॥

(बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर (द्वौ स्तनौ आस्तां) ये दो स्तन थे और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये भी दो स्तन थे ॥ ६ ॥

(देवाः रथन्तरेण ओषधीः अदुहन्) देवोंने रथन्तरसे औषधियां दोहन करके निकाली और (बृहता व्यचः) बृहत्से विस्तारयुक्त आकाशको निकाला ॥ ७ ॥

(वामदेव्येन अपः) वामदेव्यसे जल निकाला और (यज्ञायज्ञियेन यज्ञं) यज्ञायज्ञियसे यज्ञको निकाला ॥८॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्मै रथन्तरं एव ओषधीः दुहे) उसके लिये रथन्तर औषधियां देता है, (बृहत् व्यचः) बृहत् अवकाश देता है, (वामदेव्यं अपः) वामदेव्य जल देता है और (यज्ञायज्ञियं यज्ञं) यज्ञायज्ञिय यज्ञ देता है ॥ ९-१० ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पतियोंके पास आगई। (तां वनस्पतयः अघ्नत) उसको वनस्पतियोंने मारा, परंतु (सा संवत्सरे समभवत्) वह अगले वर्ष पुनः होगयी। (तस्मात् वनस्पतीनां वृक्णं अपि रोहति) इसलिये वनस्पतियोंके व्रण भर आते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य अप्रियः भ्रातृव्यः वृश्चते) उसका अप्रिय शत्रु काटा जाता है ॥ १-२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आई, (तां पितरः अघ्नत) उसको पितरोंने मारा, परंतु (सा मासि समभवत्) वह प्रतिमास उत्पन्न होने लगी। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) पितृयाण मार्ग जानता है और (तस्मात्) इसलिये (पितृभ्यः मासि उपमास्यं ददति) पितरोंको प्रतिमास दान दिया जाता है ॥ ३-४ ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥
तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥
सोदक्रामत् सा मनुष्याइनागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥
तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥
(४) सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥
तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥
तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥
सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥
तस्या यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ॥ ६ ॥
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥
तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ— (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आई। (तां देवा अघ्नत) उसको देवोंने मारा, (सा अर्धमासे समभवत्) वह आधे मासमें होने लगी। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (देवयानं पन्थां प्रजानाति) देवयान मार्गको जानता है और (तस्मात्) इसीलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवोंके लिये अर्ध मासमें वषट् कर्म करते हैं ॥ ५-६ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आई। (तां मनुष्याः अघ्नत) उसको मनुष्योंने मारा, (सा सद्यः समभवत्) वह तत्काल उत्पन्न होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घरमें लोग उपहार लाते हैं और (तस्मात्) इस कारण (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति,) मनुष्योंके लिये दिनमें दोबार अन्न करते हैं ॥ ७-८ ॥

[४] (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा असुरान् आगच्छत्) वह असुरोंके पास आई, (तां असुराः उपाह्वयन्त) उसे असुरोंने पुकारा कि (माये एहि इति) 'हे माये! आ' इसप्रकार। (तस्याः प्राह्रादिः विरोचनः वत्सः आसीत्) उसका प्रह्राद पुत्र विरोचन बछडा था। उसका (अयस्पात्रं पात्रं) लोहेका पात्र था (तां द्विमूर्धा आर्त्व्यः अधोक्) उसका ऋतु पुत्र द्विमूर्धाने दोहन किया, (तां मायां एव अधोक्) उससे उसने मायाको ही दुहा। (तां मायां असुराः उपजीवन्ति) उस मायापर असुरोंका जीवन चलता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (उपजीवनीयः भवति) वह जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आई। (तां पितरः उपाह्वयन्त) उसे पितरोंने इसप्रकार बुलाया कि (स्वधे एहि इति) 'हे अपनी धारकशक्ति! यहां आ'। (तस्याः यमः राजा वत्सः आसीत्) उसका यम राजा बछडा था और उसका (रजतपात्रं पात्रं) चांदीका पात्र था। (तां अन्तकः मार्त्यवः अधोक्) उसका मृत्युसंबंधी अन्तकने दोहन किया। (तां स्वधां एव अधोक्) उससे अपनी धारक शक्तिका ही दोहन उसने किया इसलिये। (तां स्वधां पितरः उपजीवन्ति) उस अपनी धारक शक्तिसे पितरोंका जीवन होता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याईनागच्छत् तां मनुष्याई उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥
तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥
ते कृषिं च सस्यं च मनुष्याई उप जीवन्ति
कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥
सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५ ॥
तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति
ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥
(५) सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥
तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ — (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आई, (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त) उसको मनुष्योंने इस प्रकार बुलाया कि (इरावति एहि इति) 'हे अन्नवाली ! यहां आ'। (तस्याः मनुः वैवस्वतः आसीत्) उसका विवस्वान्‌का पुत्र मनु बछडा था। उसका (पृथिवी पात्रं) पृथिवी पात्र था। (तां पृथी वैन्यः अधोक्) उसका वेन पुत्र पृथिने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उस दोहनसे कृषि और धान्य उत्पन्न हुआ। इस कारण (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) मनुष्य कृषि और धान्यपर ही जीवन बिताते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (कृष्ट-राधिः) कृषिमें सिद्धि प्राप्त करनेवाला होकर (उपजीवनीयः भवति) दूसरोंको जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सप्तऋषियोंके पास आई। (तां सप्त ऋषयः उपाह्वयन्त) उसको सप्त ऋषियोंने इस प्रकार बुलाया कि (ब्रह्मण्वति एहि इति) 'हे ब्रह्मज्ञानवाली! यहां आ।' (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा बछडा था और (छन्दः पात्रं) छन्द पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसका आंगिरसकुलोत्पन्न बृहस्पतीने दोहन किया, (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उससे उसे ज्ञान और तप मिला। (तत् ब्रह्म च तपः च) इसलिये ज्ञान और तप पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सप्त ऋषि अपना जीवन धारण करते हैं, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) ज्ञानवान् होकर (उपजीवनीयः भवति) जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३-१६ ॥

[५] (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आई। (तां देवा उपाह्वयन्त) उसको देवोंने इस प्रकार बुलाया कि (ऊर्जे एहि इति) 'हे बलवति ! यहां आ।' (तस्याः इन्द्रः वत्सः आसीत्) उसका बछडा इन्द्र था और (चमसः पात्रं) चमस पात्र था। (तां देवः सविता अधोक्) उसका दोहन सविता देवने किया (तां ऊर्जां एव अधोक्) उससे बल प्राप्त हुआ। अतः (तां ऊर्जां देवाः उपजीवन्ति) उस बलपर देवोंका जीवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्

ता गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति

पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं

पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥ १४ ॥

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥

तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ—(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा गन्धर्वाप्सरसः आगच्छत्) वह गन्धर्व और अप्सराओंके पास आई। (ता गन्धर्वाप्सरसः उपाह्वयन्त) उसको गन्धर्व और अप्सराओंने इस प्रकार बुलाया कि (पुण्यगन्धे एहि इति) 'हे उत्तम सुवासवाली! यहां आ।' (तस्या चित्ररथ सौर्यवर्चस वत्स। आसीत्) उसका सूर्यवर्चस पुत्र चित्ररथ बछडा था और (पुष्करपर्णं पात्र) कमलका पत्ता पात्र था। (ता वसुरुचि सौर्यवर्चस अधोक्) उसका सूर्यवर्चसपुत्र वसुरुचिने दोहन किया। (ता पुण्य गंध एव अधोक्) उससे उत्तम सुवास ही जो प्राप्त हुआ। इसलिये (त पुण्य गन्ध गन्धर्वाप्सरस उपजीवन्ति) उस सुवासपर गन्धर्व और अप्सराएं जीवित रहती हैं। (य एवं वेद) जो यह जानता है वह (पुण्यगन्धि) उत्तम सुगंधयुक्त होकर (उपजीवनीय भवति) जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हुई और (सा इतरजनान् आगच्छत्) वह इतर जनोंके पास आई, (ता इतर जना उपाह्वयन्त) उसको इतर जनोंने इस प्रकार बुलाया, कि (तिरोधे एहि इति) 'हे अंतर्धान शक्ति! यहां आ।' (तस्या कुबेर वैश्रवण वत्स आसीत्) उसका विश्रवाका पुत्र कुबेर पुत्र था और (आमपात्र पात्र) कच्चापात्र पात्र था। (ता रजतनाभि काबेरक अधोक्) उसका काबेरक पुत्र रजतनाभिने दोहन किया। (ता तिरोधा एव अधोक्) उससे अन्तर्धान शक्ति प्राप्त की। इसलिये (इतरजना ता तिरोधां उपजीवन्ति) इतर जन उस तिरोधान शक्तिपर जीवित रहते हैं। (य एवं वेद) जो यह जानता है वह (सर्वं पाप्मानं तिरः धत्ते) सब पापको दूर रखता है और (उपजीवनीय भवति) जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२ ॥

(६) तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥
न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥ २ ॥
यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥
विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— [६] (तत् एवं विदुषे यस्मै) इसलिये ऐसा जाननेवाले जिस विद्वान्के लिये (अलाबुना अभिषिञ्चेत्) अलाबुसे अभिषेक किया जाय, वह उसका (प्रत्याहन्यात्) प्रतिकार करे (न च प्रत्याहन्यात्) और यदि न प्रतिकार करे तो (मनसा त्वा प्रति-आहन्मि) मनसे 'तेरा प्रतिघात करता हूं' (इति प्रत्याहन्यात्) ऐसा प्रतिकार करे। (यत् प्रत्याहन्ति) जो प्रतिकार होता है (तत् विषं एव प्रत्याहन्ति) वह विषका ही प्रत्याघात करता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (विषं एव अस्य अप्रियं भ्रातृव्यं) विष ही इसके अप्रिय भ्रातृव्य पर (अनुविषिच्यते) जा गिरता है ॥ १-४ ॥



विराट्

कामधेनुका दूध

इस सूक्तमें जगन्माता विराट् देवीरूपी कामधेनुका दूध किन लोगोंने किसप्रकार निकाला इसका उत्तम वर्णन है। कामधेनु तो सबकी एक जैसी माता है, उसमें कोई भेद नहीं है, परंतु उसके पास जानेवाले विभिन्न हैं, उनका मन भिन्न प्रकारका है, उनकी कामनाएं भिन्न होती हैं, उनके पुरुषार्थ भिन्न होते हैं, इस कारण परिणाम भी भिन्न हुआ करते हैं। सांपके तृषके सांपके पेटमें जानेपर वहां उसका विष बनता है और उसी दूधको उत्तम आमके मूलमें सींचा जाए तो उसीसे उत्तम स्वादुरस तैयार होता है। इसी प्रकार एक ही समुद्रका जल मेघोंमें जाकर वृष्टिरूपसे नीचे आता है और संपूर्ण वृक्ष वनस्पतियोंपर पडता है, इसी एक ही जलसे छः प्रकारके रस छः प्रकारके वृक्षोंमें उत्पन्न होते हैं, ईखमें मधुर, इमलीमें खट्टा, मिरचमें कटु इस प्रकार विभिन्न रस हो जाते हैं। मेघोंसे आनेवाला पानी एकसा होता है, परंतु वनस्पतियोंके भेदसे रसमें भिन्नता उत्पन्न होती है। भूमि भी एक है परंतु उसीमें उपजे गुलाब की सुगंध और प्रकारकी है, चमेली की अन्य प्रकारकी और पारिजातक की और प्रकारकी होती है। एक ही भूमिमें रसोत्पादक शक्तियां भिन्न भिन्न होनेके कारण विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार विराट् रूपी दिव्य कामधेनु एक ही है, परंतु उससे देव, ऋषि, पितर, असुर, मनुष्य, सर्प, गन्धर्व आदि भिन्नभिन्न गुण प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन इस सूक्तमें देखने योग्य है, यहां सार निम्न तालिकामें दिखाते हैं—

१ विराट्, दिव्य कामधेनु

लोकः	दोहनकर्ता	वत्सः	दोहन पात्र	बुलानेका नाम	दूध	जीवन साधन	क्या करता है अथवा कैसा होता है
असुरः	द्विमूर्धा आर्त्व्यः	विरोचनः प्राह्रादिः	अयस्पात्रं	माया	माया	माया	
पितरः	अन्तकोमार्त्यः	यम.राजः	रजतपात्र	स्वधा	स्वधा	स्वधा	
मनुष्यः	पृथी वैन्यः	मनुः वैवस्वतः	पृथिवी (मिट्टी)	इरावती	कृषि, सस्य	कृषि सस्य	कृषि - राधिः
सप्तऋषि	बृहस्पतिः आंगिरसः	सोमोराजा	छन्दः	ब्रह्मण्वती	ब्रह्म,तपः	ब्रह्म, तपः	ब्रह्मवर्चसी

लोक	दोहनकर्ता	वत्सः	दोहन पात्र	दुहानेका नाम	दूध	जीवन साधन	क्या करता है अथवा कैसा होता है
देव	सवितादेवः	इन्द्रः	चमसः	ऊर्जा	ऊर्जा	ऊर्जा	
गन्धर्व	वसुरुचिः	चित्ररथः	पुष्करपर्ण	पुण्यगन्धा	पुण्यगन्धः	पुण्यगन्धः	सुगन्धित होता है
अप्सराः	सौर्यवर्चसः	सौर्यवर्चसः	(कमलपत्र)		(सुगंध)		
इतरजन	रजतनाभिः काबेरकः	कुबेरः वैश्रवणः	आमपात्रं	तिरोधा	तिरोधा	तिरोधा	पाप दूर करता है
सर्प	धृतराष्ट्रः ऐरावतः	तक्षकः वैशालेयः	अलाबुपात्र	विषवती	विष	विष	

२ विराट्, दिव्य कामधेनु

दोहनकर्ता	दुग्धाशय ऊधस्	वत्स	रसना गौ बांधनेकी दोरी	गौके नाम	स्तन	दूध
देव मनुष्य	अभ्र	इन्द्र	गायत्री	ऊर्जा	बृहत्	अभयः (आकाश)
				स्वधा	रथन्तर	ओषधिः
				सूनृता	यज्ञायज्ञिय	यज्ञ
				इरावती	वामदेव्य	आपः

३ विराट् गौ

किसके पास गई	पुनः आनेका समय	क्या होता है	नाम
वनस्पती	संवत्सर	वर्षमें व्रण भरता है।	
पितर	मास	मासिक दान देते हैं	पितृयाणमार्ग
देव	पक्ष	अर्धमासमें वषट् करते हैं।	देवयानमार्ग
मनुष्य	सद्यः तत्काल	प्रतिदिन अन्न ग्रहण करते हैं	

इन तालिकाओंसे पता लगता है कि इस विराड्रूपी कामधेनुसे किसने किस प्रकारका दूध प्राप्त किया। कामधेनुके पास जो मांगा जाता है, वही उसको प्राप्त होता है। आप चाहे अमृत मांगे अथवा विष। एक ही कामधेनु अमृत मांगनेवालेको अमृत देगी और विष मांगनेवालेको विष देगी। कामधेनु तो वर मांगनेवालेकी इच्छा तृप्त कर सकती है। यहां वर मांगनेवालेकी योग्य बुद्धि होनी चाहिये। नहीं तो विराट् देवताके प्रसन्न होनेपर भी बेढंगा वर मांगकर अपना ही नाश कर लेगा।

पूर्वोक्त तालिकाको देखनेसे पता लगेगा कि असुरोंने उस विराट् देवीको 'माया,' नामसे पुकारा है, मायाका अर्थ है—" छल, कपट, धोखा, जैसा दीखता है वैसा वास्तविक न होना, भ्रम, कौशल्य। " असुरोंने विराट् देवीमें ये गुण देखे और उनसे येही गुण मांगे और उनको ये ही गुण मिले। जो असुरोंने मांगा वही उनको मिला। प्राचीन और अर्वाचीन कालके असुरोंमें कपट और धोखा ही दिखाई देता है। इन ही धोखेबाजोंके कृत्योंसे असुर पहचाने जाते हैं। असुरोंका सब इतिहास धोखेबाजीका ही इतिहास है।

उसी विराट् कामधेनुसे देवोंने बल और अन्नकी प्रार्थना की और उनको अन्न और बल प्राप्त हुआ। इस बलसे देवोंने असुरोंका पराभव किया और देवोंका राज्य इस सृष्टीमें हुआ।

मनुष्योंने विराट् देवीसे कृषि और धान्य आदि की प्रार्थना की और यह कृषि विद्या उन्होंने प्राप्त की, आजतक मनुष्य कृषिसे अपना जीविकाका निर्वाह कर रहे हैं।

सर्पोंने उत्तम देवताकी उपासना करके जो कुछ मांगा, वह न उनके लिए लाभकारी है और न दूसरोंका हित कर सकता है। ऐसे बडे देवता आदिमाताकी प्रसन्नताके बाद उनसे सर्प ऐसी चीज मांगते हैं कि जो जगत्का नाश कर सकती है। उनसे सर्पोंने 'विष' मांगा, जो प्राणिमात्रका नाश कर सकता है। यदि सर्प उस देवतासे विशेष महती शक्ति मांगते, तो वह भी उनको मिल सकती थी, परन्तु उसके लिये भी शुद्ध बुद्धि चाहिये। उसके अभावमें ऐसा ही होगा। इसका तात्पर्य यह है कि बडीसे बडी शक्ति भी प्राप्त हो जाए, तो भी मनुष्यका कोई लाभ नहीं हो सकता, क्यों कि उस शक्तिके उत्तम उपयोग करनेका ज्ञान उसमें चाहिये। उस ज्ञानके अभावमें यदि प्राप्त हुई हुई बडी शक्ति निःसंदेह इसकी हानि ही करेगी। जैसे सर्प और असुर इस देवताकी कृपासे लाभ न उठा सके। परन्तु ऋषि, देव और मानवोंने उससे बडा लाभ प्राप्त किया। विशेष कर ऋषियोंने इस देवतासे 'ब्रह्म और तप' प्राप्त किया, जो सब मानवजातिकी उन्नतिका एकमात्र साधन है।

इस सूक्तकी अन्य बातें इस पूर्वोक्त उपदेशका गौरव बढानेके लिये हैं, अतः उनके विशेष विवरणकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यह विराट् देवता केवल असुर, पितर, देव, मनुष्य, इतरजन, सर्प आदिकोंपर ही प्रसन्न हुआ और हम सब मनुष्योंको वह वर देनेको तैयार नहीं ऐसी बात नहीं है। यह आदिमाता जगन्माता हम सबको जो चाहे सो देनेको तैयार है, हम सब जो चाहे सो लेते भी हैं, परन्तु जो लेना चाहिये वह नहीं लेते। अयोग्य पदार्थ लेकर हम अपनी अवनति कर रहे हैं, इसलिये वेदने हमें इस सूक्तद्वारा यह उपदेश देकर कहा कि उससे अच्छी शक्ति ही मांगनी चाहिये और कोई हानिकारक वर नहीं मांगना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य मनमें संकल्प करता है, इच्छा करता है, कामना करता है वह सब पूर्वोक्त कामधेनुसे मांग ही होती है। प्रत्येक मनुष्य कामधेनुके समीप है। यह सब 'विराट्' कामधेनु ही है और उसके सामने बैठकर मनुष्य इच्छा करता है। कल्पवृक्षके नीचे अथवा कामधेनुके सामने बैठकर मनमें भली या बुरी जो भी कामना की जायगी, वह तत्काल सिद्ध होगी। भली कामना यदि मनमें उत्पन्न हुई तो कोई दोष नहीं होगा, परन्तु बुरी कामना उठी तो हानि होनेमें कोई भी संदेह नहीं। अतः जो हानि बुरा संकल्प करनेसे होती है, उस हानिकी जिम्मेवारी अपनेपर ही है। इस प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि मनुष्य स्वयं अपना नाश कर रहा है। इसने बुरी कामना की और कामधेनुसे वैसा फल मिला, तो उसमें कामधेनुका क्या दोष है? दोष सब कामना करनेवालेका ही है।

राष्ट्रीय उपदेश

इस सूक्तका जो पहिला भाग है वह राष्ट्रीय उन्नति विषयक है। उसमें जनताकी उन्नति कैसे हुई, राष्ट्रीय संघटना कैसे हुई और लोगोंकी प्रातिनिधिक सभा कैसे बनी, सब विषयोंका उपदेश इस सूक्तमें है। यहां 'वि-राट् या वि-राज्' शब्दका अर्थ 'राजहीन स्थिति' है। जिस समय राजा बना नहीं था, राजा बनानेकी कल्पना अथवा राजाकी कल्पना भी जिस समय जनतामें नहीं थी, उस समयकी जनताकी अवस्था 'वि-राज्' शब्द द्वारा यहां बतायी है। राज्यसंस्थाके शुरू होनेके पूर्वकी स्थिति इस शब्दने यहां प्रकट की है। यह शब्द 'अ-राज-क' शब्दका पर्यायशब्द नहीं है। अराजक लोग राजाकी उत्पत्तिके पश्चात् होते हैं। पहिले राजाकी उत्पत्ति हुई, पश्चात् राजा और राजपुरुष प्रजापर अत्याचार करने लगे, उनके अत्याचारसे त्रस्त होकर राजाके नाश करनेकी इच्छासे 'अराजक' लोगोंका जन्म हुआ है। अर्थात् राजाके उत्तरकालमें 'अराजक' की उत्पत्ति और पूर्वकालमें 'विराज्' की स्थिति होती है। इस प्रकार विचार करनेसे विराज्का अर्थ स्पष्ट हो सकता है। जनता विराज् स्थितिमें थी, इसका अर्थ यही है कि उस समयमें लोग बिखरे हुए थे, उनमें कोई संघटना नहीं थी।

तत्पश्चात् सबसे प्रथम जो संघटनका प्रारंभ हुआ वह 'स्त्रीपुरुषोंके मेल' से ही प्रारंभ हुआ। मादा और नर तो पशुओंमें भी मिलते हैं, परन्तु वे अपना गृहस्थ संसार नहीं बनाते। उनका मेल तो केवल कामुकताके समयमें ही होता है। मनुष्यमें बुद्धि है, मन है और प्रेम भी है। प्रारंभिक मनुष्योंमें पशुवत् स्त्रीपुरुष संबंध होते थे, जब उनका प्रेम अधिक दृढ होने लगा, तब वे एकत्र रहने लगे। इस एकत्र निवास पर धर्मका नियंत्रण होनेसे 'गृहपति' संस्थाकी उत्पत्ति हुई। धर्मके नियंत्रणके साथ प्रतिदिनके अग्निहोत्र तथा अन्यान्य गृहस्थधर्म मनुष्यके साथ संबंधित होगये। तबसे यह मनुष्य घर बनाकर रहने लगा। घरमें रहनेसे घरके स्वामी, स्वामीकी सहधर्मिणी स्त्री और उसके सहायक भाई और पुत्र इन सबकी कल्पना मनुष्यमें उत्पन्न हुई और यही कल्पना बढते बढते साम्राज्यमें परिणत हुई। इसी उन्नतिका क्रम इस सूक्तमें बताया है।

गृहपति, आहवनीय और दक्षिणाग्नि ये तीनों संस्थाएं गृहव्यवस्थामें ही अधिकाधिक संगठनकी ओर संकेत कर रही हैं। गृहपति संस्थामें यज्ञ भी छोटे होते हैं। आहवनीय और दक्षिणाग्निमें यज्ञ बढ जाते हैं और उसके कारण मानव संगठन भी बढ जाता है। परंतु अभीतक ग्रामसंस्थाका अस्तित्व नहीं हुआ था। अनेक कुटुंब एक स्थानपर रहते थे, परंतु ग्रामसंस्थाके बंधनसे वे बद्ध नहीं थे। एक स्थानपर अनेक कुटुंबोंके रहनेके कारण लोगोंमें ग्रामसंस्थाकी कल्पना उत्पन्न हुई। उससे अनेक कुटुंबोंका संगठन हुआ और इस प्रकार ग्रामसंस्था अस्तित्वमें आई। गृहपति संस्थाके पश्चात् ग्रामकी और ग्रामसंस्थाकी कल्पना स्वभावतः ही उत्पन्न हुई। क्यों कि गृहपति संस्थामें जो घरके नियताकी भावना और संघटनासे सुखका अनुभव हुआ उसी अनुभवसे अनेक गृहस्थियोंको मिल कर एक कुटुंब बनाने और उससे अपना संघबल बढानेकी कल्पनाका मनुष्योंमें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इससे ही ' सभा ' की उत्पत्ति हुई है। यहां सभाका अर्थ ' ग्राम-सभा ' है। ' ग्राम ' शब्दका ही अर्थ ' संघटित समाज ' है, अनेक कुटुंब एक नियमसे बंधकर एकत्र रहते हैं उसका नाम ' ग्राम ' है। इस ग्रामकी जो सभा उसका नाम ग्रामसभा है। यह सभा उस ग्रामके चुने हुए प्रतिनिधियोंकी ही होती है। कोई बाहरका मनुष्य इस सभाका सदस्य नहीं हो सकता। जो उस ग्रामका रहनेवाला है, जिसका परवार ग्राममें है और जो उस ग्रामके कुटुंबियोंका चुना हुआ प्रतिनिधि है, वह उस सभाका सदस्य हो सकता है। इस प्रकारके जो लोगोंके प्रतिनिधि थे उन्हींकी यह ग्रामसभा बनी। और यह सभा ग्रामकी रक्षा, आरोग्य प्रबंध, शिक्षाव्यवस्था आदि कार्य करने लगी। इस ग्रामसभाने उस ग्रामका नियंत्रण चालू हुआ।

इस प्रकार जब अनेक ग्राम बने, उनकी व्यवस्थापिका सभाएं बनीं, तो उनमें आपसमें ' संग्राम ' भी होने लगे। ऐसे ' सं-ग्राम ' के पश्चात् ही संग्रामोंसे होनेवाले कटु परिणामोंका ज्ञान हुआ और अनेक ग्रामोंकी एक संघटित सभा बनानेकी कल्पना सबको प्रिय लगी।

इसी कारण ' समिति ' की निर्मिति हुई ऐसा आगे इस सूक्तमें कहा है। पूर्वोक्त ग्रामसभाओंके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंकी ही यह राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रीय सभा बनी और इसके द्वारा राष्ट्रका शासन शुरू हुआ। इसके बीचमें प्रांत सभाएं छोटी अथवा बडी होनेका अनुमान पाठक कर सकते हैं और इससे बढकर साम्राज्यमहासभाका होना भी पाठकोंकी कल्पनामें आ सकता है।

महासभा अथवा समिति राष्ट्रकी होती है और इसमें सब ग्रामोंके प्रतिनिधि आनेसे प्रतिनिधियोंकी संख्या भी बडी होती है। जब बहुत किंवा सैंकडों प्रतिनिधि होते हैं, तब उनका उपस्थित होना और एक मतसे काम चलना अत्यंत कठिन होता है, इसलिये उनमेंसे कुछ थोडेसे चुने हुए अधिक योग्य कार्यकर्ताओंका ' मंत्रिमंडल ' बनाना आवश्यक हुआ करता है। कार्य करनेके समय इसकी अत्यंत आवश्यकता होती है। अतः इसी सूक्तके अन्तिम भागमें ' आ-मंत्रणा ' परिषद् बनानेका उल्लेख है। आमंत्रणा अथवा मंत्रणा करनेवाला ही मंत्रिमंडल होता है। यह सब राष्ट्रके शासन व्यवहारका विचार करता है और तदनुसार सब ओहदेदारों द्वारा राष्ट्रका तथा तदन्तर्गत ग्रामोंका शासन व्यवहार करता है। इस ढंगसे वेदने लोकशासन संस्थाकी उन्नतिका क्रम बताया है।

मनुष्यमें जो आत्मशक्ति है वह बडी प्रभावशालिनी है। उस आत्मशक्तिमें ज्ञान, वीरता, संग्रह और कर्म ये चार भेद हैं। जहां आत्मा है वहां ये चार शक्तिविभाग न्यूनाधिक रीतिसे हैं। मनुष्यमें ये ही ब्रह्म, क्षत्र, विट, शूद्र नामसे प्रसिद्ध हैं। ज्ञानसंग्रह, राष्ट्रपालन, धनसंचय और कर्म-कौशल ये इनके कार्य जगत्में सुप्रसिद्ध हैं।

जब अनेक कुटुंब एक स्थानपर आ जाते हैं, तब उनमें कई लोग ज्ञानका संग्रह करनेवाले, विचारसंपन्न, केवल ध्यान-धारणामें रत होते हैं, वे जगत्के व्यवहारके जालमें नहीं फंसते।

दूसरे कई लोग ऐसे होते हैं कि जो अपने बाहुबलसे ग्रामकी रक्षा करनेमें तत्पर होते हैं। इनके बलसे होनेवाली रक्षासे अन्य लोग अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। दूसरों-की रक्षाके लिये आत्मसमर्पण करनेमें ही इनका यश होता है। ये ग्राम या राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपने जीवनको भी समर्पित कर देते हैं। परोपकारके लिये ये क्षत्रिय लोग बडी बडी आपत्तियां सहन करते हैं, और अपने जीवनको सत्कर्मोंमें और साहसोंके कार्योंमें झोंक देते हैं और संपूर्ण जनताके प्रेमके योग्य बनते हैं।

वैश्य लोग खेती और व्यापारका व्यवहार करते हैं, धन कमाते हैं और जनताके हितके कार्य करनेके लिये उस धनका समर्पण भी करते हैं। ये वैश्य लोग संग्रहमें भी चतुर होते हैं और दानमें भी शूर होते हैं। इसीमें इनका यश हुआ करता है।

चौथे कर्मवीर हैं, इनको शूद्र कहते हैं- अनेक हुनर या कारीगरीके कर्म करना इनका कर्तव्य है। विविध प्रकारके कुशलताके कर्म करके ये अनेकानेक सुखके साधन निर्माण करते हैं। सब अन्य लोग इनकी कारीगरीसे सुखके साधन प्राप्त करते हैं। जो लोग इन चारों वर्णोंमें नहीं संमिलित होते, उनको अवर्णीकृत पञ्चम वर्णमें संमिलित किया जाता है। ये पांच प्रकारके ' पंच-जन ' हैं। इन पञ्चजनोंका ही ग्राम, नगर, पत्तन और राष्ट्र होता है। इन वर्णोंके प्रतिनिधि जहां इकट्ठे होते हैं, उस सभाका नाम ' पंचायत ' है, यही ग्रामसभा, नगरसमिति, राष्ट्रसभा और आमन्त्रण-परिषद् है।

जहां सभा होती है वहां उसके अध्यक्ष, मन्त्री आदि अधिकारी होते ही हैं, इस कारण ग्रामसभामें ग्रामसभाध्यक्ष, राष्ट्रसमितिमें उसके अध्यक्ष और मन्त्रिमंडलमें उसके मुख्य मंत्रीका होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार घरमें घरका स्वामी होता है, उसी प्रकार सभामें सभाके नियामकका होना आवश्यक है। आगे चलकर युद्धादि प्रसंगके छिडजानेपर युद्धनायक सेनाका विशेष बल हाथमें आनेसे अध्यक्ष ही स्वयं शासक राजा या महाराजा बनता है। अथवा जिसको प्रजाजन राज्यका अध्यक्ष चुनते हैं वही अपना बल बढाकर स्वयंशासक राजा बनता है। यह राजाका विषय यहां नहीं है, यहां केवल ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति और मन्त्रिमंडल प्रजाजनोंद्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंसे कैसे बनते हैं, इसीका वर्णन है।



राष्ट्री देवी

कांड ४, सूक्त ३०

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्।)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रेभिः वसुभिः आदित्यैः विश्वेदेवैः चरामि) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वदेवोंके साथ चलती हूं। (अहं उभा मित्रावरुणा बिभर्मि) मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूं और (अहं इन्द्राग्नी, अहं उभा अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूं ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्री) मैं प्रकाशक शक्ति (वसूनां सङ्गमनी) वसुओंको प्राप्त करानेवाली और (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं इसलिये (यज्ञियानां प्रथमा) सब पूजनीयोंमें पहिली पूजने योग्य हूं। (तां भूरिस्थात्रां मां) उस विविध प्रकारसे स्थित मुझको (भूरि आवेशयन्ता देवाः) बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होनेवाले देव (व्यदधुः) विशेष प्रकारसे धारण करते हैं ॥ २ ॥

(देवानां उत मानुषाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंके द्वारा स्वीकार करने योग्य (इदं) यह भाषण (अहं स्वयं एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हूं। (यं कामये) जिस जिसको मैं योग्य समझती हूं, (तं तं उग्रं कृणोमि) उस उसको मैं उग्र वीर बनाती हूं तथा (तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसीको उत्तम बुद्धिमान् करती हूं ॥ ३ ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

अर्थ— (यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिसे देखता है (सः मया अन्नं अत्ति) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है । (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तिसे हो है । जो (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं, (ते उपक्षयन्ति) वे विनाशको प्राप्त होते हैं । हे (श्रुत) सुननेवाले ! (श्रुधि) श्रवण कर । (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये श्रद्धा रखने योग्य यह उपदेश मैं करती हूं ॥ ४ ॥

(ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवै उ) ज्ञानके द्वेषी घात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुषको तानती हूं, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूं, (अहं द्यावा-पृथिवी आविवेश) मैंने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम राजाको धारण करती हूं । (अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं त्वष्टा और पूषाको धारण करती हूं । (अहं हविष्मते सुन्वते यजमानाय) मैं हवन करने और सोम-सवन करनेवाले यजमानके लिये (सुप्राव्या द्रविणा दधामि) उत्तम रक्षा करने योग्य धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इसके सिरपर रक्षकको नियुक्त करता हूं । (मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जलोंके मध्यमें है । (ततः विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) वहांसे सब भुवनोंमें विशेष रीतिसे स्थित होती हूं (उत वर्ष्मणा अमूं द्यां उपस्पृशामि) और अपनी महिमासे उस द्युलोकको स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनोंका आरंभ करनेवाली (अहं एव वातः इव प्रवामि) मैं ही अकेली वायुके समान फैलती हूं और (दिवः परः) द्युलोकके परे और (एना पृथिव्यै परः) इस पृथ्वीके भी परे (महिम्ना एतावती संबभूव) अपने महत्त्वसे इतनी विशाल होती हूं ॥ ८ ॥

राष्ट्री देवी

राष्ट्री देवी

' राष्ट्री देवी ' यह परमात्माकी प्रचंड तेजस्वी शक्तिका नाम है । यह शक्ति स्वयं अपनी महिमाका वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है । तृतीय मंत्रमें कहा ही है कि " (अहं एव स्वयं इदं वदामि) मैं ही यह स्वयं कहती हूं ' इसलिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनकी अपेक्षा विशेष महत्त्वका है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। इस सूक्तमें परमात्म-शक्तिका वर्णन होनेके कारण इस सूक्तके अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ भी हो सकते है। आधिदैविक अर्थ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके संबंधमें होता है, यह अर्थ हमने मर्थोक्त अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इन्द्र, अश्विनौ देव आदि सृष्टयन्तर्गत महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। अब यहां आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते है। अध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखना होता है और आधिदैविक अर्थमें जहां परमात्माकी शक्तिका संबंध जानना होता है, वहां अध्यात्मिक अर्थमें जीवात्माकी शक्तिका संबंध भी देखना होता है । अब यहां आध्यात्मिक अर्थ देखिये—

आध्यात्मिक भावार्थ

" मैं जीवात्माकी शक्ति हूं और मैं (रुद्रेभिः) प्राणोंके साथ (वसुभिः) निवासक जलादि शारीरिक धातुरसोंके साथ (आदित्यैः) आदान शक्तियोंके साथ तथा (विश्व-देवैः) सब इंद्रियोंके साथ रहकर यहांका व्यवहार चलाती हूं । मैं शरीरके (मित्रा-वरुणौ) और और सोम शक्तियोंको अर्थात् आग्नेय और रसात्मक शक्तियोंको धारण करती हूं । मैं (इन्द्र-अग्नी) जीवन, विद्युत् और शरीरकी उष्णताको कायम रखती हूं और मैं ही (अश्विनौ) दोनों प्राण और अपानको चलाती हूं ॥ १ ॥

मैं शरीरकी (राष्ट्री) प्रकाशक शक्ति हूं अर्थात् मेरे प्रभावके कारण ही इस देहमें तेजस्विता स्थिर रहती है, मैं ही यहां (वसूनां संगमनी) रस रक्तादि विविध धातु रसोंको उत्पन्न करके शरीरको सुरक्षित रखती हूं । मैं ही (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं । इसलिये मैं यहां अथवा स्वयज्ञमें (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजाके योग्य हूं । मैं (भूरि-स्था-त्रां) विविध अवयवों और इंद्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूं और (आ-वेशयन्तः देवाः) मेरे प्रवेशके कारण ही सब इंद्रियां मानो (मां व्यदधुः) मुझे ही विविध प्रकारसे धारण करती हैं और मेरी शक्तिसे ही अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ होती हैं ॥ २ ॥

देव क्या और मनुष्य क्या, सभी मुझ आत्मशक्तिका ही महत्त्व गाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूं, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह मनुष्य उग्रवीर, ब्राह्मण, ऋषि और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥

मनुष्य खाता है, देखता है, श्वास लेता है, शब्द सुनता है वह सब (मया) मुझ आत्मशक्तिकी सहायतासे ही करता है । जो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं । सब लोग मेरा यह भाषण श्रवण करें और मुझ आत्म-शक्तिपर श्रद्धा रखें, श्रद्धासे ही मुझ शक्तिसे उनको लाभ होगा ॥ ४ ॥

ज्ञानविरोधी घातक विचारोंको दूर करनेके लिये मैं आत्मशक्ति ही इस शरीरमें (रुद्राय) प्राणको प्रेरणा देती हूं, मैं ही मनुष्यको आनंद और हर्ष देती हूं, तात्पर्य कि इस शरीरमें (द्यौः) सिरसे लेकर (पृथिवी) पैरतक मैं ही शक्तिरूपसे फैली हुई हूं ॥ ५ ॥

मैं प्राप्त करने योग्य (सोमं) आनंदको यहां धारण करती हूं, मैं ही (त्वष्टा) प्रेरक और (पूषा) पोषक शक्तियोंको शरीरमें धारण करती हूं । मैं (हविः) उत्तम अन्न और रस स्वीकारनेवाले और इस शरीररूपी यज्ञशालामें शत सांव-त्सरिक सत्र करनेवालेको उत्तम यश देती हूं ॥ ६ ॥

मैं इस शरीरके ऊपर रक्षक शक्तिको नियुक्त करती हूं, मैं यहां हृदयके अंदरके हृदयाकाशके जीवनरस में रहती हूं, वहांसे हरएक अवयवमें कार्य करती हूं और ऊपर सिरतक फैलती हूं ॥ ७ ॥

सब इंद्रियों और अवयवोंको उत्पन्न करती हुई मैं वायुके समान फैलती हूं और इस शरीरमें सिरसे लेकर पैरतक अपनी महिमासे फैली हूं ॥ ८ ॥

आध्यात्मवर्णनका मनन

पूर्वोक्त मंत्रोका यह आध्यात्मिक आशय है। जो आशय अपने अंदरकी शक्तियोंका होता है वह आध्यात्मिक कहलाता है। मंत्रोंमें जो देवतोंके शब्द होते हैं वे ही मनुष्यके शरीरमें

विविध शक्तियोंके वाचक होते हैं, उनको अन्य शक्तियोंका वाचक जाननेसे आध्यात्मिक अर्थ जाना जाता है। अब इसी सूक्तका आधिभौतिक आशय देखिये। मानव सघ या प्राणि-समूहके विषयका जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक भावार्थ

'मैं राष्ट्रशक्ति (रुद्रेभिः) वीरों (वसुभिः) धनिकों (आदित्यैः) विद्याप्रकाशक विद्वानों और (विश्वेदेवैः) सब ज्ञानियोंके साथ रहती हूं। मैं दोनों (मित्रावरुणौ) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंको, (इन्द्र-अग्नि) शूरवीरों और ज्ञानियोंको तथा (अश्विनौ) दोनों प्रकारके अश्विनी कुमारोंको अर्थात् वैद्योंको राष्ट्रमें धारण करती हूं ॥ १ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति हूं, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकत्रित करती हूं, मैं राष्ट्रशक्ति (चिकितुषी) ज्ञान बढानेवाली हूं, मैं पूजनीयोंमें सबसे मुख्य हूं, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें (भूरि-स्था-त्रां) रहकर राष्ट्रकी रक्षा करती हूं, इस मुझ राष्ट्रशक्ति द्वारा (आवेशयन्त• देवाः) आवेश अर्थात स्फुरणको प्राप्त हुए सब विद्वान् लोग, मानो, मुझे ही विशेष प्रकार धारण करते हैं ॥ २ ॥

मैं देवजनों तथा साधारण मनुष्योंके द्वारा भी सेवनीय हूं अर्थात् सब मुझ राष्ट्रशक्तिको धारण करें। मैं स्वयं कहती हूं कि जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह उग्रवीर, ज्ञानी, ऋषि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य बनता है ॥ ३ ॥

राष्ट्रमें जो पुरुष अन्न भोगते हैं, जो देखते हैं सुनते हैं अथवा जो श्वासोच्छ्वास करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिसे करते हैं। (मां अमन्तवः) मुझ राष्ट्रशक्तिका अपमान करनेवाले अथवा मुझे मान न देनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं। हे लोगो! यह बात तुम श्रद्धासे सुनो इसमें तुम्हारा हित है ॥ ४ ॥

(ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और घात करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही (रुद्राय धनुः आतनोमि) वीर पुरुषोंके पास सब शस्त्रास्त्र तैयार रखती हूं। मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग आनन्दमें रहते हैं, मानो मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक अर्थात सर्वत्र फैली हूं ॥ ५ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति ही प्राप्त करने योग्य (सोमं) सोम आदि वनस्पतियोंको अन्न धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं) मैं कारीगरोंको और (पूषणं भगं) पोषणकर्ता धनवानोंको राष्ट्रमें धारण करती हूं। जो (हविष्मते यजमानाय) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सज्जन होते हैं, उनको मैं उचित प्रमाणमें धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं ही राष्ट्रशक्ति (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इस राष्ट्रके सिरपर रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती हूं, मेरी उत्पत्ति (सं+उत्+द्रे) एक होकर राष्ट्रीय उत्कर्षके लिये किए जानेवाले प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है। यहां मैं उत्पन्न होकर राष्ट्रके हरएक कोनेमें फैल जाती हूं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मैं पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली हुई हूं ॥ ७ ॥

राष्ट्रमें मैं सब संस्थाओंको आरंभ करती हूं और चलाती हूं। मानो, मैं प्रचंड वायुके समान संचार करती हूं, यहांतक कि ऊपरसे नीचेतक मेरा अपूर्व संचार होता है, यह मेरी महिमा है ॥ ८ ॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन

इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिये हैं। वैयक्तिक और राष्ट्रीय इन अर्थोंके विषयमें विशेष उपदेश प्राप्त करना चाहिये, क्यों कि मनुष्यका कर्मक्षेत्र ही यह है। इन मंत्रोंके शब्द तीनों भूमिकाओंमें किस प्रकार अर्थ बताते हैं, यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है—

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाव	आधिभौतिक भाव	आध्यात्मिक भाव
रुद्र	मेघस्थानीय विद्युत्	वीर	प्राण
वसु	पृथिव्यादि आठ वसु	धन और धनिक	शरीरस्थ धातु
आदित्य	सूर्य	ज्ञानप्रकाशक	मस्तिष्क
विश्वेदेवा	सब प्रकाशमान् अग्न्यादि देव	सब कर्मचारी गण	सब इंद्रियें
मित्र	सूर्य	प्रकाशक विद्वान्	नेत्र
वरुण	चन्द्र	शान्तज्ञानी	मन
इन्द्र	विद्युत्	शूर	जाग्रत मन
अग्नि	अग्नि	वक्ता	वाणी

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाव	आधिभौतिक भाव	आध्यात्मिक भाव
अश्विनौ	अश्विनी	वैद्य	श्वासउच्छ्वास
त्वष्टा	देवशिल्पी	कारीगर	विभाजकशक्ति
पूषा	पोषक दैवीशक्ति	पोषणकर्ता	पोषकशक्ति
समुद्र	प्रकृति	लोगोंकी हलचल	हृदय
द्यौ	द्युलोक	ज्ञानी	सिर
पृथिवी	भूलोक	सेवक	पाव

मन्त्रके शब्द इस रीतिसे अन्यान्य भूमिकाओंमें अन्यान्य अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मन्त्रका सपूर्ण अर्थ जानना सभव है। व्यक्तिमें गुणोंके रूपसे अर्थ देखना है, राष्ट्रमें गुणी जनोंका भाव लेना है और विश्वमें उक्त देवोंको देखना होता है। जैसे– व्यक्तिमें शौर्य गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं; इसी गुणसे गुणी बने हुए शूर क्षत्रिय वीर राष्ट्रमें होते हैं, इनमें शौर्य गुणका प्राधान्य होता है, इनका ही रूप विश्वमें इन्द्रशक्ति है जो विद्युद्रूपमें दीखती है। व्यक्तिमें शौर्य; राष्ट्रमें शूर और विश्वमें विद्युत् ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। इसी प्रकार देवताओंकी विभूतियोंका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें " राष्ट्री " शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्तम अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बढता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्री है। यह राष्ट्रशक्ति " आदित्य, रुद्र, वसु और विश्वेदेव " इनके साथ रहती है, यह प्रथम मन्त्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द क्रमश " ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र " अर्थात् कारीगरोंके वाचक हैं। ब्रह्मवर्चस पूर्ण आदित्य शब्द ब्राह्मणवर्णके बोधक हैं, रुद्र, वीरभद्र आदि नाम शौर्यादिके लिये सुप्रसिद्ध होनेसे ये क्षत्रियवर्णके वाचक हैं, वसु शब्द धनवालों और धनोंका प्रसिद्ध है अतः यह वैश्योंका सूचक है और विश्वेदेव शब्द अन्य व्यवहार कर्ताओंका वाचक होनेसे अवशिष्ट कारीगरोंका वाचक है। देवताओंमें इन्हीं शब्दों द्वारा चातुर्वर्ण्य बोधित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे चातुर्वर्ण्यके धर्म कर्मोंका बोध हो सकता है। यह राष्ट्रीशक्ति इन लोगोंके अदर रहती है, इनमें कार्य करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (अग्निः=ब्रह्म) ब्राह्मणों, (इन्द्र= क्षत्र) क्षत्रियों, (मित्र) सहायकों, (वरुणो राजा) राजपुरुषों और (अश्विनौ=अश्विनी कुमारों) आयुर्वेदके विद्वानोंको आश्रय देकर इनका धारण पोषण करती है। राष्ट्रमें इनका पोषण करके इनके द्वारा अन्य साधारण जनोंको सुख पहुचाती है। यह इस राष्ट्रीय शक्तिकी महिमा देखने योग्य है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (वसूनां संगमनी) सब प्रकारके धनधान्योंको प्राप्त कराती है। राष्ट्रीय शक्तिका जिस देशमें उत्कर्ष होने लगता है, वहां उस शक्तिके विकासके कारण सब प्रकारके धन इकट्ठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्रशक्तिका विकास बद होता है, उस देशमें दरिद्रता बढती है। पतित राष्ट्र और उन्नत राष्ट्रका यह विपन्नता और सपन्नतासे सबध देखने योग्य है।

यह राष्ट्रशक्ति मनुष्योंमें निहित होती है, अर्थात् जिस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अपनी राष्ट्र-भक्तिसे एक होकर बडे राष्ट्रीय पुरुषार्थमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्रीदेवीका सचार उन मनुष्योंमें होता है, (भूरि+आवेशयन्तः) विशेष प्रकारका दैवी आवेश मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे दैवी स्फुरणसे युक्त हुए लोग सख्यामें थोडे भी क्यों न हों, शक्तिका बडा कार्य करके दिखा देते हैं। यह राष्ट्रीदेवीके आविष्कारका चमत्कार है। इसीलिये उसको सब (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयोंमें सर्वप्रथम बताया है। चारों वर्ण इसकी पूजा अपने हृदयमें करते हैं और राष्ट्रभक्तिसे अपने हृदय परिपूर्ण करते हैं। वेदमें अन्यत्र भी कहा है कि—

> इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
> बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः । (ऋग्वेद. १।१३।९)

" मातृभाषा, मातृसभ्यता और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये ये अन्त करणमें विना विस्मरण हुए स्थान प्राप्त करें। " अर्थात् हरएक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको योग्य और सम्मानका

स्थान प्राप्त हो और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मन्त्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें " (प्रथमा यज्ञियाना राष्ट्री) यह राष्ट्रशक्ति पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है, " इन शब्दों द्वारा कहा है। यदि इस जगत्में सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करनी चाहिये और उस देवीके लिये अपनी बलि देनेके लिये सदा तय्यार रहना चाहिए।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती है, जब लोग उसकी प्रीतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। ज्ञानी जन सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा त्यागी पुरुष (स अन्न अत्ति) अन्न भोग प्राप्त करता है, ऐसा चतुर्थ मन्त्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमि अथवा राष्ट्रशक्तिकी योग्य उपासना न कर उसका अपमान करनेवाले, इसका योग्य सत्कार न करनेवाले (अ-मन्तवः उपक्षयन्ति) लोग सत्वर नाशको प्राप्त होते हैं। यह बात (श्रद्धेयं वदामि) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। राष्ट्रभक्तिके महत्त्वको जानकर लोग कभी राष्ट्रद्रोहका कार्य न करें और सदा राष्ट्रभक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करके और अपने जीवनका सर्वमेधयज्ञ करके विजयी और यशस्वी हों।

राष्ट्रके अंदर भी जो दुष्ट लोग होते हैं, वे सज्जनोंको क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुर्जन होते हैं, वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और खूनखराबी करते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके (रुद्राय) वीरपुरुषोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुष्यादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिका ही है। जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत होता है, वह अपने शत्रुके निःपातके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार रखता ही है और योग्य प्रसंगमें योग्य रीतिसे उनका उपयोग करके विजय भी प्राप्त करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेवाले राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये जाग्रत रहना अत्यंत आवश्यक है।

यह राष्ट्रशक्ति (त्वष्टारं) कारीगरोंका पोषण करती है, इसी प्रकार जो मनुष्य जनोंका पालन पोषण करते हैं उन (पूषणं) पोषक जनोंका अथवा उन (भगं) भाग्यवानोंको उत्तम प्रकार धारण पोषण करती है। ऐसे पुरुषोंको कभी अवनतिमें नहीं रखती, प्रत्युत उन्नत करती है। इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यजमान) यज्ञ करते हैं अर्थात् जनताकी भलाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनकी न्यूनता नहीं रहती अर्थात् जितना वे दान करते हैं उससे अधिक (द्रविणा दधामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फिर उनका धन बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार यज्ञसे वृद्धि होती है और जनताका सुख बढ़ता ही जाता है।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और पालकको उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना करना, (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) यह राष्ट्रशक्ति ही करती है अर्थात् जीवित और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपने राज्यशासनकी व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राज्याध्यक्षका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसको राज्यके ऊपर नियुक्त करते हैं। इस राष्ट्रशक्तिका उत्पत्ति-स्थान (समुद्रे अन्तः) राष्ट्रीय हलचलके महासागरके अंदर होता है। " (सं०) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति करना अथवा प्रयत्न करना राष्ट्रीय हल-चलका स्वरूप है। " इसका ही नाम ' समुद्र ' (सं+उत्+द्रु) है। इस हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएकके अन्तःकरणमें फैलती है, मानो इस प्रकार यह (विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है अर्थात् भूमिसे स्वर्गतक विस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हलचलके तहमें यह रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा है।

जिस समय जनतामें राष्ट्रशक्तिका संचार होता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्तिरूप (वात इव प्रवामि) झंझावातका जोरसे प्रवाह चल रहा है और इसका वेग रोकना अब असंभव है। इस शक्तिका वेग यहांतक प्रचंड होता है कि (दिवः परः) द्युलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पार यह वेग कार्य कर रहा है। आकाश पाताल इस शक्तिसे भरे हुए हैं और कोई स्थान खाली नहीं है।

राष्ट्रशक्तिकी यह महिमा है। जो इसके उपासक होते हैं वे अपने राष्ट्रको अभ्युदयके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं।



राष्ट्रसभाकी अनुमति

कांड ७, सूक्त १२

(ऋषि – शौनक । देवता – सभा, पितर, इन्द्र, मन ।)

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ १ ॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि । ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥
यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा । तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

अर्थ— (सभा च समितिः च) ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा ये दोनों (प्रजापतेः दुहितरौ) प्रजाका पालन करनेवाले राजाके द्वारा पुत्रीवत पालने योग्य हैं और वे दोनों (संविदाने) परस्पर ऐकमत्य करती हुई (मा अवतां) मुझ राजाकी रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिससे मैं मिलूं (सः मा उपशिक्षात्) वह मुझे शिक्षा देवे। हे (पितरः) रक्षको ! (संगतेषु चारु वदानि) सभाओंमें मैं उत्तम रीतिसे बोलूं ॥ १ ॥

हे सभे ! (ते नाम विद्म) तेरा नाम हमें विदित है। (नरिष्टा नाम वै असि) 'नरिष्टा' अर्थात् अहिंसक यह तेरा नाम या यश है। (ये के च ते सभासदः) जो कोई तेरे सभासद हैं (ते मे सवाचसः सन्तु) वे मुझ राजासे समताका भाषण करनेवाले हों ॥ २ ॥

(एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदोंसे (विज्ञानं वर्चः अहं आददे) विशेष ज्ञानरूपी तेज मैं राजा–स्वीकार करता हूं। हे इन्द्र ! (अस्याः सर्वस्याः संसदः) इस सब सभाका (मा भगिनं कृणु) मुझे भागी बना ॥ ३ ॥

हे सभासदो ! (वः यत् मनः परागतं) तुम्हारा जो मन दूर हट गया है, (यत् वा इह वा इह वा बद्धं) जो इसमें अथवा इस विषयमें बंधा हुआ है, (वः तत् आवर्तयामसि) तुम्हारे उस चित्तको मैं पुनः लौटा लाता हूं, अब तुम्हारा (मनः मयि–रमतां) मन मेरे ऊपर रममाण होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा राष्ट्रमें होनी चाहियें और राजाको उनका पुत्रीवत् पालन करना चाहिये। ये दोनों सभाएं एकमतसे राष्ट्रका कार्य करें और प्रजारंजन करनेवाले राजाका पालन करें। राजा जिस सभासद्से राज्यशासनविषयक संमति पूछे, वह सभासद योग्य संमति राजाको देवे। राजा तथा अन्य सभासद् सभाओंमें सभ्यतासे वादविवाद करें ॥ १ ॥

इन लोकसभाओंका नाम 'नरिष्टा' है, क्योंकि इनके होनेसे राजाका भी नाश नहीं होता और प्रजाका भी नाश नहीं होता। इन सभाओंके जो सभासद् हों, वे राजासे अपनी संमति निष्पक्षपातरूपसे स्पष्ट शब्दोंमें कहें ॥ २ ॥

लोकसभाओंके सदस्योंसे राज्यशासनविषयक विशेष ज्ञान राजा प्राप्त करता है और तेजस्वी बनता है। अतः राजा ऐसी सभाओंसे राज्यशासनविषयक विज्ञानका भाग अवश्य प्राप्त करे और भाग्यवान् बने ॥ ३ ॥

लोकसभाके कार्य करनेके समय किसी सभासद्का मन इधर उधरके कार्यमें रमने लगे, तो उसको उचित है कि मनको वापस लाकर राज्यशासनके कार्यमें ही लगा देवे। सब सभासद् और राजा अपने राज्यशासनके कार्यमें ही अपना मन लगावें ॥ ४ ॥

कारक होगा, इतना महत्त्व लोकसभाको सर्वसंमतिका है तथा यह निर्णय प्रजाके लिये भी बंधनकारक होगा।

राजाके पितर

राष्ट्रसमितिके सभासद् ये राजाके पितर हैं। इस सूक्तमें राजाने उनको, ' पितरः ' करके ही संबोधन किया है—

चारु वदानि पितरः संगतेषु। (मं. १)

" हे पितरो ! अर्थात् हे राष्ट्रमहासभाके सब सदस्यो ! सभाओंमें मैं योग्य भाषण करूंगा " अर्थात् सभ्यताके युक्त भाषण करूंगा। कभी नियमबाह्य मेरा भाषण न होगा। हे सभासदो ! सब सदस्य भी सदा इसी प्रकार सभ्यताके नियमोंके अनुकूल भाषण किया करें। इस मंत्रभागमें राजाने लोकसभाके सभासदोंके लिए ' पितरः ' शब्दका प्रयोग किया है। यह शब्द यहां देखने योग्य है।

लोकसभा अथवा राष्ट्रसमिति राजाकी पुत्रियां हैं यह ऊपर कहा है। अब यहां कहा जाता है कि इन सभाओंके सदस्य राजाके ' पितर ' हैं, यह कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि यहां केवल बाह्य अर्थ लेना उचित नहीं है, यहां भाव और शब्दका मूलार्थ लेना चाहिये। पितर शब्दका अर्थ रक्षक है और उत्पादक भी है। दोनों अर्थ यहां लगते हैं। राजसभाके सभासद राजाको चुनते और उसको राजगद्दीपर बिठलाते हैं, इसलिये वे उसके उत्पादक, जनक और पिताके समान भी हैं, इसी प्रकार राजाके उचित व्यवहार करते रहनेतक वे उसको राजगद्दीपर रखते हैं पर राजा जब अनुचित व्यवहार करने लगता है तो उसको हटाकर उसके स्थानपर सुयोग्य दूसरा राजा नियुक्त करते हैं, इसलिये ये राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके रक्षक भी हैं अर्थात् सब प्रकारसे ये सदस्य राजाके पितर हैं।

' पितृदेवो भव ' पिताको देवताके समान मानकर उसका सन्मान कर, यह आज्ञा वेदानुकूल है। इसलिये राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रमहासभाके सदस्योंका सन्मान करे, उनका गौरव करे और कभी उनका अपमान न करे। राष्ट्रसभाका यह अधिकार है।

राजाके शिक्षक

राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके गुरु भी हैं। इस विषयमें प्रथम मंत्रका भाग देखने योग्य है—

येन संगच्छै स। मा उपशिक्षात्। (मं. १)

" हे गुरुजनो ! हे राष्ट्रसभाके सदस्यो ! तुममेंसे मैं राष्ट्रशासनके कार्यमें संमति पूछूं, वह उस विषयमें अपनी संमति देकर मुझे उत्तम योग्य शिक्षा देवे। " अर्थात् राजाको योग्य शिक्षा देनेवाले उत्तम गुरु राष्ट्रसभाके सदस्य हैं। ये राजाके गुरुस्थानीय हैं। ' आचार्यदेवो भव ' अर्थात् गुरु-जनोंका संमान करना चाहिये, यह आज्ञा वैदिकधर्मकी है। इसके अनुसार वैदिकधर्मी राजाको उचित है कि वह राष्ट्र-सभाके सदस्योंका गौरव करे और उनसे पूर्ण आदरके साथ बर्ताव करे। राष्ट्रसभाके सदस्योंका यह अधिकार है।

सभासद् सत्यवादी हों

राजसभा अथवा किसी अन्य सभाके सभासद् (सवाचस) समान भाषण करनेवाले अर्थात् जैसा देखा, जाना और अनुभव किया हो वैसा ही सत्य सत्य बोलनेवाले हों। जैसा सत्य एकवार कहा हो, वैसा ही सत्य प्रसंग आनेपर कहनेवाले हों उनमें अदल बदल करके ' हां ' को ' हां ' मिलानेवाले ' हांजी ' बहादुर न हों। निर्भय होकर जो सत्य हो, वही राजाको कह दें। राष्ट्रका हित किस बातमें है, इसका विचार करके जो अपना मत हो, वह योग्य रीतिसे कह देनेमें किसीसे न डरें। यह सभासदोंका कर्तव्य है। (मं. २)

तेजप्रदाता और विज्ञानदाता

राजाका तेज राष्ट्रसभाके सदस्योंसे प्राप्त होता है। इस विषयमें तृतीय मंत्रका वचन देखने योग्य है—

एषां सभासीनानां वर्चः विज्ञानं अहं आददे।
(मं. ३)

" राष्ट्रसभाके इन सदस्योंसे मैं राजा (वर्चः) तेज प्राप्त करता हूं और (विज्ञानं) विशेष ज्ञान भी प्राप्त करता हूं। " यहांका विज्ञान राज्यशासन चलानेके विषयका *विशेष ज्ञान होता है। प्रजाका हित किस बातसे हो सकता* है, इस समय सबसे प्रथम कौनसी बात करनी चाहिये, इस समय प्रजाको कौनसे कष्ट हैं और उन कष्टोंको किस ढंगसे दूर करना चाहिये; इत्यादि विषयमें प्रजाके प्रतिनिधियोंकी योग्य संमति योग्य समयपर राजाको मिली और तदनुसार राजाने राज्यशासनका कार्य किया, तो सबका हित हो सकता है। यह विज्ञान राष्ट्रसभाके सदस्य राजाको देवें और राजा भी उनसे संमति प्राप्त कर उचित शासनप्रबंध द्वारा सबका कल्याण करे।

इस प्रकार प्रजाकी संमतिसे राज्यशासन करनेवाला राजा चिरकालतक राज्यपर रह सकता है और बड़ा तेजस्वी हो

सकता है। इसके विरुद्ध जो राजा प्रजाके प्रतिनिधियोंकी सम्मति न मानकर, मन माने अत्याचार प्रजापर करता है, वह राजगद्दीसे हटा दिया जाता है। वेदकी सम्मति राज्य-शासनके विषयमें यह है।

राजाका भाग्य।

राजाका संपूर्ण भाग्य, ऐश्वर्य, अधिकार और वर्चस्व राष्ट्रसभाकी अनुमतिसे ही होता है। अन्यथा राजा किसी कारण भी ' राजा ' नहीं रह सकता। यह बात स्वयं राजा ही कहता है, देखिये—

अस्याः संसदः मां भगिनं कृणु ॥ (म ३)

" इस सभाका मुझे भागी कर। " अर्थात् इस सभाकी अनुमतिसे रहनेके कारण मैं भाग्यवान् बनूं। मैं इस सभाकी अनुमतिका भागी बनूं, अर्थात् जो निश्चय सभा करेगी, वह मैं मानूंगा और वैसा कार्य करूंगा। मैं उसके विरुद्ध आचरण कदापि न करूंगा। इस प्रकार जो राजा आचरण करेगा, वह भाग्यवान् बन जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है, अर्थात् राजाका भाग्य प्रजाका रंजन करनेसे ही बढता है।

दत्तचित्त सभासद्

राष्ट्रसभाके, नगरसमितिके अथवा किसी सभाके सभासद् अपनी अपनी सभाके कार्यमें दत्तचित्त रहें। किसीका मन इधर उधर न हो। सब अपना मन सभाके कार्यमें स्थिर रखकर सभाका कार्य अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष बनावें। इसका उपदेश इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् आवर्तयामसि ॥ (म ४)

" हे सभासदो ! यदि तुम्हारा मन दूर भाग गया हो अथवा यहां ही इधर उधरके अन्यान्य बातोंमें लग गया हो, उसको मैं वापस लाता हूं। " अर्थात् मन चंचल है, वह इधर उधर दौडता ही रहेगा। परंतु दृढनिश्चय करके उसको कर्तव्यकर्ममें स्थिर रखना चाहिये। और अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अपना कर्तव्य जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष शक्तिसे करनेका यत्न करना चाहिये। हरएक सभासद् यदि अपने मनको कहीं और ही कार्यमें लगावेगा, तो सभा करनेका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये हरएक सभासद्का कर्तव्य है कि वह अपना मन सभाके कार्यमें लगावे और अपनी पूरी शक्ति लगाकर सभाका कार्य निर्दोष करनेके लिये भरसक कोशिश करे। इस मंत्रभागमें सभासदोंका कर्तव्य कहा है।

नरिष्टा सभा

इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें सभाका नाम ' नरिष्टा ' कहा है। ' नरिष्टा ' के दो अर्थ हैं। एक (नरैः इष्टा) नर अर्थात् नेता मनुष्योंको जो इष्ट है, प्रिय है अथवा नेता जिसको चाहते हैं। सभाको मनुष्य चाहते हैं क्योंकि इस सभाद्वारा ही जनताके कष्ट राजाको विदित हो जाते हैं और तत्पश्चात् राजा उनको दूर कर सकता है। इसप्रकार की सभाके होनेसे जनताका सुख बढ सकता है, इसलिये जनता सभाओंको पसंद करती है।

' नरिष्टा ' शब्दका दूसरा अर्थ है (न रिष्टा) अहिंसक अर्थात् जो किसीका नाश नहीं करती और जिसका नाश कोई नहीं कर सकता। सभाके कारण प्रजाका नाश नहीं होता और जनमतके अनुसार चलनेवाले राजाको भी रक्षा हो जाती है, इसलिये राजाका भी नाश नहीं होता। इसी प्रकार जनता स्वयं राष्ट्रसभाका नाश नहीं करना चाहती और राजाका अधिकार ही नहीं है कि जो इस राष्ट्रसभाका नाश कर सके। इस रीतिसे सब प्रकार यह सभा ' अविनाशक ' है।

इस प्रकार इस सूक्तमें वैदिक राज्यशासनके कुछ सिद्धांत कहे हैं।



राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९१

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - चन्द्रमाः।)

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— (सुत्रामा स्ववान्) उत्तम रक्षक आत्मविश्वाससे युक्त तथा (विश्ववेदाः इन्द्रः अवोभिः सुमृडीकः भवतु) सब धनोंसे युक्त राजा अपनी रक्षाओंसे उत्तम सुखकारी होवे। (द्वेषः बाधतां) शत्रुओंका प्रतिबंध करे (नः अभयं कृणोतु) हमारे लिये निर्भयता उत्पन्न करे (सुवीर्यस्य पतयः स्याम) और हम उत्तम धनके स्वामी बनें ॥ १ ॥

भावार्थ— राजा उत्तम रक्षक, अपने सामर्थ्यपर विश्वास रखनेवाला, धनवान्, प्रजाकी रक्षा करके उनको सुख देनेवाला होवे। शत्रुओंको दूर करे और उनको रोक रखे। प्रजाको अभय देवे और प्रजाको धनसंपन्न करे ॥ १ ॥

यहां इन्द्रके वर्णनके मिषसे राजाके गुण वर्णन किये हैं। इसी प्रकार आगेका सूक्त भी इसी विषयका है—

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९२

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - चन्द्रमाः ।)

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— (सः सु-त्रामा स्ववान् इन्द्रः) वह उत्तम रक्षक आत्मशक्तिका विश्वासी तथा शक्तिवाला राजा (द्वेषः) शत्रुओंको (अस्मत् आरात् चित् सनुतः युयोत) हमारे पाससे निश्चयपूर्वक दूर करे। (वयं तस्य यज्ञियस्य सुमतौ स्याम) हम उस पूजनीयकी सुमतिमें रहें, (अपि सौमनसे स्याम) और उसके उत्तम मनोभावमें रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— यह उत्तम रक्षक आत्मबलसे युक्त राजा शत्रुओंको प्रजाजनोंसे दूर करे। प्रजा भी उस पूजनीय राजाके विषयमें उत्तम बुद्धि धारण करे और राजा भी प्रजा विषयमें शुभमति धारण करे ॥ १ ॥

राजा प्रजाकी रक्षा करे, प्रजा भी राजनिष्ठ रहे और दोनों एक दूसरेके विषयमें सुबुद्धि धारण करें। यह सूक्त भी प्रभुका वर्णन करते हुए राजाके गुण बता रहा है।

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९३

(ऋषि – भृग्वंगिरा । देवता इन्द्र ।)

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः । घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ १ ॥

अर्थ— (मन्युना इन्द्रेण वयं) उत्साहयुक्त इन्द्रके साथ रहकर हम सब (वृत्राणि अप्रति घ्नन्तः) शत्रुओंको पूरी तरह मारते हुए (पृतन्यतः अभि-स्याम) सेना लेकर चढाई करनेवालोंको जीतें ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी इन्द्रके वर्णनके मिषसे राजाका ही वर्णन किया है। उत्साही वीर राजाके आधिपत्यमें रहनेवाले प्रजाजन (वृत्र) आवरक शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होते हैं और सैन्यके साथ चढाई करनेवाले वैरीको भी हरानेमें समर्थ होते हैं।

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८४

(ऋषि – भृगु । देवता – जातवेदा अग्निः, इन्द्र ।)

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह । ॥ १ ॥
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम्
इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् । ॥ २ ॥
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम्

(अमर्त्यः विराट्) अमर, विशेष प्रकाशक
अर्थ— हे अग्ने! तू (जात-वेदाः अनाधृष्यः) ज्ञानवान्, अजेय और (विश्वाः सम्राट् और (क्षत्र-भृत् इह दीदिहि) क्षत्रियोंका भरण पोषण करनेवाला होकर यहां प्रकाशित हो। और (विश्वाः अमीवाः प्रमुञ्चन्) सब रोगोंको दूर करता हुआ (मानुषीभिः शिवाभिः) मनुष्य संबंधी कल्याणोंके साथ (अद्य नः गयं परि पाहि) आज हमारे घरकी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे इन्द्र! (चर्षणीनां वृषभ) मनुष्योंमें श्रेष्ठ! तू (वामं क्षत्रं ओजः अभि जायथाः) उत्तम क्षात्रबलके लिये प्रसिद्ध हुआ है। तू (अमित्रायन्तं जनं अप नुदः) शत्रुता करनेवाले मनुष्यको दूर कर। और (देवेभ्यः उरुं लोकं उ अकृणोः) दिव्य जनोंके लिये स्थान विस्तृत कर ॥ २ ॥

भावार्थ— तू ज्ञानी, अजेय, दीर्घायु, क्षात्रबलका पोषणकर्ता, विशेष श्रेष्ठ राजा होकर यहां प्रकाशित हो। अपने राज्यके सब रोग दूर कर और मनुष्योंके कल्याण करनेवाले साधनोंसे हमारे घरोंकी उत्तम रक्षा कर ॥ १ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ बन, उत्तम क्षात्र बलकी वृद्धि कर। शत्रुता करनेवालोंको दूर कर और जो श्रेष्ठ लोग हों उनके लिये विस्तृत कार्यक्षेत्र बना ॥ २ ॥

१ [अथर्व. मा. २ मातृ० हिन्दी]

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरिस्थाः भीमः मृगः न) पर्वतपर रहनेवाले भयंकर सिंह, व्याघ्र आदि पशुके समान तू शत्रुके ऊपर (परस्याः परावतः आ जगम्यात्) दूरसे दूरके स्थानसे भी हमला करता है। हे इन्द्र! तू अपने (सृकं पविं संशाय) बाण और वज्रको तीक्ष्ण करके (शत्रून् विताढि) शत्रुओंको नष्ट कर और (मृधः वि नुदस्व) हिंसक लोगोंको दूर हटा दे॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार पहाडोंपर रहनेवाला व्याघ्र अपने शत्रुपर हमला करता है, उसी प्रकार तू अपने दूरके शत्रुपर भी चढाई कर। अपने शस्त्र तीक्ष्ण कर, शत्रुको खूब मार, और हिंसकोंको दूर भगा दे॥ ३ ॥

राजा क्या कार्य करे ?

इस सूक्तमें अग्नि और इन्द्रके मिषसे राजाका कार्य बताया है। अपने राष्ट्रके प्रति राजाके कर्तव्योंका वर्णन इसमें है—

१ जातवेदाः- ज्ञान प्राप्त करे और अपने राष्ट्रमें ज्ञानका प्रसार करे।
२ अनाधृष्यः- राजा ऐसा सामर्थ्यवान् बने कि वह शत्रुके भयंकर हमलेका भी साहससे मुकाबला करे।
३ वि-राट्- विशेष प्रकारका श्रेष्ठ राजा बने।
४ क्षत्रभृत्- क्षत्रियोंका और क्षात्रगुणोंका भरणपोषण और संवर्धन करे।
५ अमर्त्यः अग्निः इह दीदिहि- अमर अग्निके समान इस राष्ट्रमें प्रकाशित होता रहे।
६ विश्वाः अमीवाः प्रमुञ्चन्- अपने राष्ट्रसे सब रोग दूर करे, राष्ट्रके सब लोग नीरोग हों ऐसा प्रयत्न करे।
७ मानुषीभिः शिवाभिः- उत्तम कल्याणपूर्ण मनुष्योंसे युक्त होवे।
८ गयं परिपाहि- राष्ट्रके हरएक घरकी रक्षा करे।
९ चर्षणीनां वृषभः- राजा मनुष्योंमें श्रेष्ठ बने।
१० वामं क्षत्रं ओजः- उत्तम क्षात्रबलसे युक्त राजा होवे।
११ अभिमातन्ते जनं अपनुद- शत्रुता करनेवाले मनुष्यको अपने देशसे दूर करे।
१२ देवेभ्य उरुं लोकं अकृणोः- सज्जनोंके लिये विस्तृत स्थान बनावे।
१३ परस्याः परावतः आजगम्यात्- दूर दूरसे भी शत्रुके ऊपर प्रचण्ड हमला करे।
१४ सृकं पविं संशाय- अपने शस्त्रास्त्र उत्तम प्रकार तीक्ष्ण करके तैयार रखे।
१५ शत्रून् विताढि- शत्रुओंको नष्ट करे।
१६ मृधः वि नुदस्व- हिंसक जनोंको अपने राष्ट्रसे दूर करे। राष्ट्रसे बाहर निकाल देवे।

इस प्रकार इस सूक्तसे बोध प्राप्त होता है। इस सूक्तमें जैसे राजाके कर्तव्य कहे हैं, उसी प्रकार हरएक मनुष्यको भी आत्मरक्षाका उपदेश इसी सूक्तसे मिल सकता है।

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८५

(ऋषिः - अथर्वा [स्वस्त्ययनकामः] । देवता - तार्क्ष्यः ।)

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ १ ॥

अर्थ— (त्यं वाजिनं) उस बलवान्, (देवजूतं सहोवानं) दिव्य पुरुषोंद्वारा सेवित, शक्तिमान् (रथानां तरुतारं) रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाले, (अरिष्ट-नेमिं) सुदृढ हथियारवाले और (पृतना-जिं) शत्रुसेनाको पराजय करनेवाले (आशुं तार्क्ष्यं) शीघ्रकारी महारथीको (स्वस्तये आहुवेम) कल्याणके लिये यहां हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी तार्क्ष्य अर्थात् गरुडके बहानेसे राजाके कर्तव्य बताये हैं—

१ वाजिनं- राजा बलवान्, अन्नवाला, धनधान्यका संग्रह करनेवाला हो।
२ देवजूतं- देवों अर्थात् दिव्यजनोंके द्वारा सेवित अर्थात् जिसके ओहदेदार, ज्ञानी और दिव्य होते हैं।
३ सहोवानं- बलवान् राजा हो।
४ रथानां तरुतारः- रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाला राजा हो। अर्थात् राजाके पास शीघ्रगामी रथ हों।
५ अ-रिष्ट-नेमिः- जिसके हथियार टूटे हुए न हों। अटूट शस्त्रोंवाला राजा हो। अथवा (अरिष्ट-नेमि) अरिष्ट अर्थात् संकटोंको दबानेवाला राजा हो।
६ पृतनाजिः- शत्रुसेनाको जीतनेवाला राजा हो।
७ आशु- शीघ्रकारी राजा हो, हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्रतासे करनेवाला राजा हो।
८ तार्क्ष्यः- ' तार्क्ष्य ' का अर्थ ' रथ ' है। रथ जिसके पास होते हैं उसको तार्क्ष्य कहते हैं। राजा उत्तम रथी हो।
९ स्वस्तये- प्रजाजनोंका कल्याण करनेके लिये राजा प्रयत्न करे।

ये शब्द भी हरएक मनुष्यको साधारण आत्मरक्षाका उपदेश दे रहे हैं।



राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८६

(ऋषिः - अथर्वा [स्वस्त्ययनकामः] । देवता - इन्द्रः ।)

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— मैं (त्रातारं इन्द्रं) रक्षक प्रभुको (अवितारं इन्द्रं) संरक्षक इन्द्रको, (हवेहवे सुहवं शूरं इन्द्रं) प्रत्येक कार्यमें बुलाने योग्य, उत्तम प्रकारसे बुलाने योग्य, शूर प्रभुको और (पुरुहूतं शक्रं इन्द्रं हुवे) बहुतों द्वारा प्रार्थित शक्तिमान् प्रभुको बुलाता हूं। वह (मघवान् इन्द्रः नः स्वस्तिः कृणोतु) ऐश्वर्यवान् प्रभु हमारा कल्याण करे॥ १॥

यह मंत्र परमेश्वरका वर्णन करता हुआ भी राजाके कर्तव्योंका उपदेश करता है—

१ त्राता, अविता- राजा प्रजाकी उत्तम रक्षा करे।
२ शूरः राजा शूर हो, डरनेवाला न होवे।
३ शक्रः- राजा शक्तिमान् हो, अशक्त न हो।
४ मघवान्- राजा अपने पास धनसंग्रह करे, राजा कभी धनहीन न बने।
५ स्वस्तिः कृणोतु- राजा प्रजाका कल्याण करे।
इस प्रकार राजप्रकरणमें इस मत्रसे बोध प्राप्त होता है।



राजाकी स्थिरता

कांड ६, सूक्त ८८

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - ध्रुवः।)

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः। ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥
ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) द्युलोक स्थिर है, (पृथिवी ध्रुवा) पृथ्वी स्थिर है, (इदं विश्वं जगत् ध्रुवं) यह सब जगत् स्थिर है, तथा (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत स्थिर हैं, उसीप्रकार (अयं विशां राजा ध्रुवं) यह प्रजाओंका रंजन करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

(राजा वरुणः ते ध्रुवं) राजा वरुण (देवः बृहस्पतिः ध्रुवं) बृहस्पति देव (इन्द्रः च अग्निः च ते ध्रुवं) इन्द्र और अग्नि तेरे लिये (राष्ट्रं धारयतां) राष्ट्रको स्थिर बनावें ॥ २ ॥

(अच्युतः ध्रुवः शत्रून् प्रमृणीहि) अपने स्थानसे च्युत न होता हुआ और स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर। (शत्रूयतः अधरान् पादयस्व) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा। (सर्वाः दिशः) सब दिशाओंमें निवास करनेवाली प्रजाएं (सध्रीचीः संमनसः) एक कार्यमें रत और एक विचारसे युक्त हों, उन लोगोंकी (समितिः इह ते ध्रुवाय कल्पतां) सभा यहां तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, पर्वत और यह सब जगत् जिस प्रकार स्थिर है उस प्रकार राजा स्थिर होवे ॥ १ ॥

राजा वरुण, इन्द्र, अग्नि और देव बृहस्पति ये इस राजाके लिये स्थिर राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

राजा स्थिर और सुदृढ होकर शत्रुका नाश करे, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको नीचे गिरावे। सब प्रजाजन एक विचारसे युक्त होकर अपनी राष्ट्रसभाद्वारा उत्तम राजाको राजगद्दीपर स्थिर रखें ॥ ३ ॥

स्थिरताके लिये।

राजा किन गुणोंको धारण करनेसे अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त कहता है कि " द्यौ, पृथिवी, पर्वत, जगत् " ये किस रीतिसे स्थिर हुए हैं इसका विचार राजा करे और उनके गुणोंको धारण करके स्थिर होवे—

१ द्यौः- आकाश तथा सूर्य। इनमें तेज है, सूर्य तो स्वयंप्रकाशी है। इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है।

२ पृथ्वी- पृथ्वी सबका उत्तम प्रकार धारण और पोषण करती है। जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारणपोषण करता है वह स्थिर हो सकता है।

३ पर्वत- अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं कभी पीछे नहीं हटते। इस प्रकार युद्धमें जो अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रह सकता है।

४ जगत्- चलता है, परंतु अपनी मर्यादामें घूमता है। इस प्रकार जो अपनी मर्यादामें प्रगति करता है, वही स्थिर हो सकता है।

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राजगद्दीपर स्थिर रहता है। इन गुणोंसे भी और अधिक एक गुण है-

५ विशां राजा ध्रुवः- प्रजाओंका रञ्जन करनेवाला राजा स्थिर रहता है।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ और इसके रहनेसेही अन्य गुण कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। 'राजा' शब्दका ही अर्थ (प्रजारंजकः) प्रजाको प्रसन्न करनेवाला है। इस प्रकारके प्रजाकी प्रसन्नता संपादन करनेवाले राजाको ही इन्द्रादि देव राजगद्दीपर स्थिर रखनेको सहायता करें। इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राष्ट्रके लोग राजाकी सहायता करें, इन देवतावाचक शब्दोंसे बोधित होनेवाले ये लोग हैं—

१ बृहस्पतिः, अग्निः- ज्ञानी, विद्वान् आदि ब्राह्मबल।

२ इन्द्रः- शूर, वीर, सैनिक आदि क्षत्रिय बल।

३ वरुणः- वरिष्ठ लोग।

ये सब लोग उत्तम राजाकी सहायता करें और उसकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करें। इनकी सहायता प्राप्त करके राजा संपूर्ण शत्रुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महासभाकी सहायतासे अपनी स्थिरता करे। राष्ट्रमहासभा भी योग्य राजाको ही अपनी सहानुभूति प्रदान करे और अयोग्य राजाको कभी सहायता न दे।

राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि

कांड ६, सूक्त ५४

(ऋषि. - ब्रह्मा। देवता - अग्नीषोमौ।)

इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये। अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥
अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम्। इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥

अर्थ— (इदं तत् उत्तरं युजे) मैं इसके साथ उस श्रेष्ठको संयुक्त करता हूं। (अष्टये इंद्रं शुंभामि) फलभोगके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता हूं। हे देव! (वृष्टिः तृणं इव) जैसे वृष्टि घासको बढाती है, उसी प्रकार (अस्य क्षत्रं महीं श्रियं वर्धय) इस राजाके राज्यको तथा महती संपत्तिको बढा ॥ १ ॥

हे अग्नीषोमौ! (अस्मै क्षत्रं धारयतं) इसके लिये राज्यको धारण कराओ, (अस्मै रयिं) इसको धन धारण कराओ (इमं राष्ट्रस्य अभीवर्गे कृणुतं) इसको राष्ट्रकी मुख्य मंडलीमें स्थिर करो। (उत्तरं युजे) मैं भी इसको अधिक उच्च अवस्थामें नियुक्त करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं श्रेष्ठके साथ संबंध करता हूं, अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करता हूं। हे ईश्वर! हमारे राजाका राज्य बढे और धन भी ऐसा बढे कि जैसे वृष्टिसे घास ॥ १ ॥

हमारे राजाका राज्य स्थिर होवे, धन भी स्थिर रहे। राष्ट्रके हित करनेवाले लोगोंमें यह प्रमुख होवे और श्रेष्ठताके साथ बढता रहे ॥ २ ॥

सर्वन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— (सबन्धुः च असबन्धुः च) भाइयोंसमेत या भाइयोंसे रहित (यः अस्मान् अभिदासति) जो शत्रु हमको विनष्ट करना चाहता है, (मे सुन्वते यजमानाय) मुझ याजक यजमानके लिये (तं सर्वं रन्धयासि) उस शत्रुका नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! कोई शत्रु जो अकेला या अपने भाइयोंसमेत हमारा नाश करना चाहे, तू उसीका नाश कर ॥३॥

यह सूक्त स्पष्ट है । राष्ट्रीय उन्नतिकी प्रार्थना है । अपना श्रेष्ठोंसे संबंध जोडना और (यजमान) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनुष्यका कर्तव्य यहां बताया है । इसके अनंतर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निःसंदेह सफल होगी । अपना राज्य बढे, धन बढे, स्वराज्य प्राप्त हो, शत्रु दूर हो जावे और सब प्रकारकी उन्नति भी होवे । यह इस प्रार्थनाका आशय है ।



राजाका राज्याभिषेक

कांड ४, सूक्त ८

(ऋषिः - अथर्वाङ्गिराः । देवता - चन्द्रमा , आपः, राज्याभिषेकः ।)

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥
अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा । आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

अर्थ— जो (भूतः) स्वयं प्रभावशाली बनकर (भूतेषु पयः आदधाति) सब प्रजाजनोंको दुग्धादि उपभोगके पदार्थ देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही सब प्रजाओंका अधिपति हो सकता है । (तस्य राज-सूयं मृत्युः चरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न होजानेपर स्वयं मृत्यु ही दण्ड लेकर उसकी सहायतार्थ राज्यमें भ्रमण करती है । (सः राजा इदं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यको अनुमतिसे चले ॥ १ ॥

हे (मित्रवर्धन) मित्रोंको बढानेवाले राजन् ! तू (उग्रः चेत्ता सपत्न-हा अभि प्रेहि) प्रतापी, चेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ । (मा अप वेनः) पीछे मत हट, (आ तिष्ठ) अपने स्थानपर ठहर जा । (तुभ्यं देवाः अधि ब्रुवन्) तुझे विद्वान् लोग योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

भावार्थ— जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताको विशेष सुख देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति हो सकता है । जो मृत्यु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाली है, वह उस राजाकी शासक दण्डधारिणी होकर उसकी सहायता करती है । इस प्रकारका जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलावे ॥ १ ॥

राजा अपने मित्र बढावे । वह राजा प्रतापी प्रजामें चेतना बढानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे बढे । अपने स्थानमें स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे । ऐसे राजाको विद्वान् लोग समय समयपर योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषं छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥
व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥
या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥
अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अर्थ— (आतिष्ठन्तं विश्वे परिभूषन्) राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें । यह राजा (श्रियं वसानः स्व-रोचिः चरति) लक्ष्मीको धारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें विचरता है । इस (वृष्णः असु-रस्य तत् महत् नाम) बलवान् और प्रजाओंके प्राण रक्षक राजाका वही बडा यश है, यह (विश्वरूपः अमृतानि आ तस्थौ) सब रूपोंसे युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(वैयाघ्रे अधि व्याघ्रः) व्याघ्र स्वभाववाले मनुष्योंपर बाघ बनकर हमला कर, (महीः दिशः विक्रमस्व) और विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर । (पयस्वतीः आपः) दुग्धादि प्राप्त करनेवाली (सर्वाः विशः) सब प्रजाएं (त्वा वाञ्छन्तु) तुझे चाहें ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षे उत वा पृथिव्यां) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (या दिव्याः आपः) जो दिव्य जल अपने (पयसा मदन्ति) सत्व रससे लोगोंको तृप्त करते हैं (तासां सर्वासां अपां वर्चसा) उन सब जलोंके तेजसे (त्वा अभिषिञ्चामि) तेरा अभिषेक करता हूं ॥ ५ ॥

(दिव्याः पयस्वतीः आपः) दिव्य रसयुक्त जलोंने (वर्चसा त्वा अभि असिचन्) अपने तेजसे तुझे अभिषिक्त किया है (यथा मित्रवर्धनः असः) जिससे तू मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला हो और (सविता त्वा तथा करत्) सबका प्रेरक देव भी तुझे उसके योग्य बनावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजगद्दीपर विराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अलङ्कृत करते हैं । यह राजा ऐश्वर्यको पासमें रखता हुआ तेजस्वी बनकर राज्यमें विचरता है । प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले बलवान् राजाका यही बडा यश है । यह राजा विविध अधिकारियोंके रूप धारण करके विविध सुखोंको बढाता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमनके लिये योग्य प्रकार उपायोंकी योजना करके सब दिशाओंमें पराक्रम करके विजयी होवे । दूध जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको चाहें ॥ ४ ॥

पृथ्वी और अंतरिक्षमें जो दिव्य जल हैं । उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥

इस दिव्य जलसे अभिषिक्त हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बढावे । और परमेश्वर उस राजाको वैसी ही प्रेरणा दे ॥ ६ ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः ॥ ७ ॥

अर्थ— (व्याघ्रं सिंहं परिषस्वजानाः एनाः) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिषिक्त करनेवाली ये जलधाराएं (महते सौभगाय हिन्वन्ति) बडे सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं। (सु-भुवः समुद्रं न) जैसे उत्तम भूमि भाग समुद्रको शोभित करते हैं, उसी प्रकार (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं द्वीपिनं) जलोंके अंदर रहनेवाले, द्वीपोंके अधिपति राजाको सब प्रजाएं (मर्मृज्यन्ते) सुभूषित करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह राजा नरव्याघ्र अथवा नरसिंह अर्थात् नरश्रेष्ठ है। इस राज्याभिषेकसे इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्यादामें रहनेवाला समुद्र चारों ओरके भूभागोंसे सुभूषित होता है, उसी प्रकार चारों ओरसे जलसे वेष्टित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंसे सुपूजित होता है ॥ ७ ॥

राजाका राज्याभिषेक

राज्याभिषेक।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिमें कहनेका यह सूक्त है। इस सूक्तके मननसे राज्याभिषेक विधिका ज्ञान हो सकता है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक करनेके लिये विविध जलाशयोंका जल लाया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदियां, अन्य पवित्र स्रोत और आकाशसे प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब लाये जाते हैं। इस मंत्रपूत जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य बडा गंभीर है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होना चाहिये। यह पहिला बोध यहां मिलता है। जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते, उनका व्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारेतक राज्यका विस्तार होना देशोन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इसी विचारकी स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मंत्रके ' समुद्र, अप्सु अन्तः, द्वीपि ' ये शब्द हैं। पंचम मंत्रमें कहा है कि ' तासां सर्वासां अपां वर्चसा अभिषिञ्चामि। ' अर्थात् उन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूं, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

समुद्रतक राज्यविस्तार।

दूसरे राजाके पाससे भिक्षा मांगकर लाया हुआ समुद्रका और महानदियोंका जल राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र होना चाहिये और महानदियांभी अपने राज्यमें होनी चाहियें। और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करनेसे संस्कारकी चीजें किस प्रकार राज्य-विस्तारके लिये कारणीभूत हो सकती हैं इसका पता लग सकता है।

कौन राजा होता है ?

जो वीर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (पयः आदधाति) दूध आदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है, वही (अधिपतिः बभूव) राजा हो सकता है। इस राजाका सहायक यह मृत्यु ही होती है, मृत्यु देव सब जगत्को दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मृत्युका अंशही राजाके रूपमें आकर निवास करता है। इसीकी सहायतासे राजा अपराधियोंको दण्ड देता है। इस प्रकारका प्रभावशाली राजा प्रजाका शासन करे। [मंत्र १] यह राजा शत्रुनाशक और मित्रवर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और बढावे। [मंत्र २] राज्यशासन करनेवाले अनेक ओहदेदार राजाके ही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो राजा (विश्वरूपः) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (स्वः रोचि) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजाकी महिमा है। [मंत्र ३] यह राजा बाघ और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर शत्रुओंका दमन करे और सब प्रकारकी उन्नति करके यशका भागी बने।

राजा और राजाके बनानेवाले

कांड ३, सूक्त ५

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - सोमः।)

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये। यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

अर्थ — (अयं बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि (बलेन सपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करती हुई (आ अगन्) आई है। यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां पयः) औषधियोंका रस है। यह (अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वतु) विरोध न करती हुई तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥

हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्रबल और (मयि रयिं धारयतात्) मुझमें धन धारण करो। (अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे) मैं राष्ट्रके आप्तपुरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम और उनका अपना बनकर रहूं ॥ २ ॥

(यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुह्य और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें स्थापित किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥

(इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रके द्वारा दी हुई, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा उत्तम बनाई गई (सोमस्य पर्णः) सोम देवताकी यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर मुझे प्राप्त हुई है। (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवनके लिये (तं प्रियासं) उस प्रिय मणिको धारण करूं ॥ ४ ॥

(पर्णमणिः मह्यै अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बडे कल्याणको फैलानेके लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरूढ हुई है। (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत संविदः) और ज्ञानीसे भी (उत्तरः असानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ — यह पर्णमणि बल बढानेवाली, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाली, देवोंकी शक्तिरूप और औषधियोंके रससे बननेवाली है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥

इससे मुझमें क्षात्रतेज और ऐश्वर्य बढे और मैं राष्ट्रका हित साधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निज संबंधी बन कर रहूं ॥ २ ॥

जिस मणिको देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिकी वृद्धिके लिये देवे ॥ ३ ॥

यह वनस्पतिसे बनी हुई, वरुणके द्वारा सुसंस्कारयुक्त की हुई और इन्द्रके द्वारा हमें पहले प्राप्त हुई, वीर्य और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है। उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूं ॥ ४ ॥

यह मणि अपने शरीरपर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इसे पहनकर मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥ ५ ॥

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिण॑ः । उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ६ ॥
ये राजा॑नो राज॒कृत॑ः सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये । उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ७ ॥
प॒र्णो॑ऽसि तनू॒पान॒ः सयो॑निर्वी॒रो वी॒रेण॒ मया॑ । सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॑ बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

अर्थ— (ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिमान् रथ बनानेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिमान् लुहार हैं, हे (पर्ण) पर्णमणे ! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

(ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले हैं, (ये सूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे ! तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

हे (मणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ वीरके साथ समान उत्पत्तिवाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

यह मणि उत्तम शरीर रक्षक है और वीरता तथा उत्साहको बढानेवाली है, इसको मैं एक वर्ष पर्यंत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ धारण करता हूं ॥ ८ ॥

राजा और राजाके बनानेवाले

पर्ण-मणि

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेख है। यह पर्णमणि इसलिये कही जाती है कि यह औषधियोंके रससे बनायी होती है—

१ पर्णमणिः ओषधीनां पयः । (मं. १)
२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः । (मं. ४)
३ देवाः (पर्ण-) मणिं वनस्पतौ निदधुः । (मं. ३)

" (१) पर्ण मणि औषधियोंका दूध भी है । (२) यह पर्णमणि सोमवल्लीका उग्र बल है । (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है । " ये इसके वर्णन स्पष्टतासे यह बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूधसे बनायी जाती है । ' पर्ण-मणि ' यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रही है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बनी है । इसके धारणसे वनस्पति-रसके वीर्यके कारण शरीरपर बडा प्रभाव होता है—

१ अयं पर्णमणिः बली । (मं. १)
२ पर्णः तनूपानः । (मं. ८)
३ बलेन सपत्नान् प्रमृणन् । (मं. १)
४ देवानां ओजः ... मा वर्चसा जिन्वतु । (मं. १)
५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयताद् । (मं. २)
६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु । मं. २)
७ पर्णः उग्रं सहः ... दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । (मं. ४)
८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरुक्षत् । (मं. ५)

" (१) यह पर्णमणि बल बढानेवाली है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोगरूपी शत्रुओंका नाश करती है, (४) यह (देवानां) इंद्रियोंका बल बढानेवाली है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बडी बल बढानेवाली है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो,

(८) यह मणि शरीरपर धारण किए जानेपर मेरी शक्ति बढावे । "

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इस ' पर्णमणि ' के अंदर बडा प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बडा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है। यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है। वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें।

राष्ट्रका निज बनना

" राष्ट्रका अपना " बन कर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है। जो लोग राष्ट्रमें रहें वे उसके अपने बन कर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है—

अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥

(मं. २)

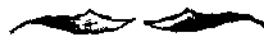
" मैं इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बन कर रहूं। " यहां राजा, राजपुरुष, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके अपने बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है। राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे। यहां निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये। अपने यहां का ही उदाहरण लीजिये। इस भारतवर्षमें जापानी, चीनी, अमरिकन और योरोपीयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ' भारतवर्षका निज ' बनकर नहीं रहता। जो ये आते हैं वे ' पराये ' बनकर आते हैं और पराये बनकर ही यहां रहते हैं, पराये बनकर यहांका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं। इस कारण इनके परायेके भावसे भारतवर्षका अहित ही होता है। इस लिये परायेके भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है। जो ' निजभाव ' से रहेंगे, राष्ट्रके हित और अहितको अपना हित और अहित समझेंगे तो उनसे राष्ट्रका अहित कभी नहीं होगा। यह तो साधारण मनुष्योंकी बात हुई, परंतु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे परायेभावसे राष्ट्रमें रहने लग जायें, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका हिसाब लगाना कठिन है। इस दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होगा कि ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे कितना आवश्यक है। ' निजभाव ' से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और ' निजभाव ' न रखनेवाले स्वदेशी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका घात करनेवाले बनेंगे।

राजाका निर्माण करनेवाले

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें ' राज-कृतः ' शब्द है इसका अर्थ है ' राजाका निर्माण करनेवाले (King makers) ' राजाका किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और तब वह राजगद्दीपर आता है, इसीको प्रजाद्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं। जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो ' निर्माण ' ही प्रजा करती है। इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसीलिये राजसभाके सदस्य राजाके ' पितर ' हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसका निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। मातृरक्षाके समान ही प्रजा-रक्षाका यह राजधर्म है।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, बढई, लुहार, ज्ञानी पुरुष, मंत्री, सूत, ग्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें। इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किये राजपुरुषोंद्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे। इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके कारण वैदिक राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त बडे महत्त्वका है।



राजाका चुनाव

कांड ६, सूक्त १२८

(ऋषिः – अथर्वाङ्गिराः । देवता – सोमः, शकधूमः ।)

शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत । भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥
भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः । भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥
अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥
यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा । तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत् नक्षत्राणि शकधूमं राजानं अकुर्वत) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शकधूमको राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं प्रायच्छत्) इसके लिये शुभ दिवस प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं असात्) यह राष्ट्र बने ॥१॥

(नः मध्यंदिने भद्राहं) हमारे लिये मध्यदिनका समय शुभ हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका समय शुभ हो, (यः अह्नां प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिनका प्रात काल शुभ हो और (नः रात्री भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रीका समय भी शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शकधूम) शकधूम ! (त्वं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्यां) नक्षत्रों और सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृधि) हमारे लिये दिवस शुभ कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शकधूम) नक्षत्रोंके राजा शकधूम ! (यः नः सायं नक्तं अथो दिवा) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रीको और दिनमें (भद्राहं अकरः) समय शुभ बनाया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तेरे लिये सदा नमन है ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब नक्षत्रोंने मिलकर अपना एक संघटित राष्ट्र बनानेके लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥

इसके बननेसे प्रातःकाल, मध्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रीके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥

राजा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र इनसे मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥

जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका हित करनेमें दिनरात तत्पर रहता है, इस कारण उसका सदा सन्मान होना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रजा अपना राजा चुने

प्रजा अपनी उन्नति करनेके लिये सुयोग्य राजाको चुने और उसको राजगद्दीपर बिठलावे, उसको सन्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपभोग लेवे। इस उपदेशको इस सूक्तमें उत्तम अलंकारके द्वारा बताया है। अलंकार इस प्रकार है।

" आकाशमें अनेक नक्षत्र है, उनका परस्पर कोई संबन्ध नहीं था। यह दुरवस्था उन्होंने देखी और अपना एक बडा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम चन्द्रमा है। इस राजाके राजगद्दीपर आनेके पश्चात् सबको उत्तम सुख लाभ हुआ और उनकी सब आपत्ति हट गयी। "

यह तो इसका बाह्यार्थ है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ श्लेषालंकारसे जाना जाता है और यह अर्थ इस सूक्तका गूढ अर्थ है। इसमें जो ' न-क्षत्र ' शब्द है वह शब्द क्षात्रधर्मसे रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा। ज्ञानी, व्यापारी और कारीगर यह प्रजा, इसमें क्षत्र वर्ग संमिलित नहीं।

इदं राष्ट्रं असात् इति। (मं. १)
अपना एक बडा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये—
नक्षत्राणि राजानं अकुर्वत ॥ (मं. १)

" क्षत्रियोंसे भिन्न प्रजाओं अथवा क्षात्रगुणसे रहित प्रजाजनोंने अपना एक राजा बनाया। " पूर्वापर संबंधसे वह राजा क्षत्रियोंमेंसे चुना गया होगा। यह आशय ' शकधूम ' शब्दसे भी व्यक्त हो सकता है। स्वय (शक) समर्थ होकर जो शत्रुओंको (धू) कंपायमान करता है उसका नाम शकधूम है। सब प्रजाजनोंने देखा कि इस तेजस्वी पुरुषको राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब शत्रु परास्त होंगे और शत्रुओंके परास्त होनेसे हमें सुख लाभ होगा और हमारा राष्ट्र बडा तेजस्वी होगा।

इस प्रकार राजाका चुनाव करलेसे उनको ' भद्राहं ' (भद्र+अहं) कल्याणका समय प्राप्त हुआ और वे सब आनंदसे रहने लगे। कोई शत्रु उनको कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा बडे आनंदके साथ रहने लगी।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका सन्मान करने लगे। इस प्रकार जो मनुष्य अपने राष्ट्रके लिये सुयोग्य राजाको चुनेंगे और उसका आदर करने लगेंगे, वे सब सुखी होंगे। इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुखी होवे।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना

कांड ३, सूक्त ३

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - अग्निः, नानादेवताः।)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दूरे चित्सन्तमरुणास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

अर्थ— (इह स्व-पाः भुवत्) यहां अपना रक्षण करनेवाला मनुष्य सुरक्षित होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकार-कर कहा गया है। हे (अग्ने) अग्ने ! (उरूची रोदसी व्यचस्व) विस्तृत द्यावापृथिवीमें अपना तेज फैला। (विश्व-वेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जाननेवाले मरुत् तुझे योग्य बनावें। (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कारपूर्वक यहां ला ॥ १ ॥

(दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेपर भी ज्ञानी इन्द्रको (अरुणासः सख्याय आच्यावयन्तु) तेजस्वी लोग मित्रताके लिये यहां ले आवें। (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्कं अस्मै दधृषन्त) गायत्री बृहतीरूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार कर सब आप्तपुरुषोंने कही है। मनुष्य अग्निवत् तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे। ऐसे राजाको सब जाननेवाले वीर शक्तिमान् करें और उसको नमनपूर्वक अपनी राजगद्दीपर स्थापित करें ॥ १ ॥

राजा दूर भी क्यों न चला गया हो, उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें। उत्तम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उत्तम सत्कार करें ॥ २ ॥

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥
ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः । अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

अर्थ— (वरुणः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्वयतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु) सोम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे, (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे । (श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत) तू श्येन पक्षीके समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आ ॥ ३ ॥

(अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले पूजनीय राजाको (श्येनः परस्मात् आनयतु) श्येनवत् शीघ्र जानेवाले मनुष्य दूसरे देशसे ले आवें । (अश्विनौ ते पन्थां सुगं कृणुतां) दोनों अश्विनी तेरा मार्ग सुखसे जाने योग्य बनावें । (सजाताः इमं अभि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥

(प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु) प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावें । (मित्राः प्रति अवृषत) मित्र तेरा बल बढावें । (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विशि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोंमें तेरे लिये क्षेम धारण करें ॥५॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (यः सजातः) जो सजातीय है (च यः निष्ट्यः) और जो विजातीय है, (ते हवं विवदत्) तेरे आदरणीयताका विशेष वर्णन करें । (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बहिष्कृत करके (अथ इमं इह अव गमय) पश्चात् इसको यहां ला ॥ ६ ॥

भावार्थ— जल स्थानकी रक्षाके लिये जलाधिपति, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिपति किंवा मुखिया सम्राट्को बुलावें, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराजे ॥ ३ ॥

संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर फिरनेवाले राजाको भी पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठलाना चाहिए, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥

मित्रजन उस राजाकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥

यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस प्रिय राजाका विरोध करनेवाला हो, तो उसको राज्यसे बाहर करके बडे आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहां तृतीय सूक्तका अर्थ और भावार्थ हुआ । इसीके साथ चतुर्थ सूक्तका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ और भावार्थ पहिले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे ।



राजाका चुनाव

कांड ३, सूक्त ४

(ऋषिः - अथर्वा । देवताः - इन्द्रः ।)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्योऽ भवेह ॥ १ ॥
त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥
अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥
अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे राजन् ! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उद्+इहि) तेजके साथ उदयको प्राप्त हो । (विशांपतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज) प्रजाओंका एक प्रमुख स्वामी व एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो । ((सर्वाः प्रदिशः ह्वयन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह उपसद्यः नमस्यः भव) यहां पास पहुंचने योग्य और नमस्कारके योग्य हो ॥ १ ॥

(विशः त्वां राज्याय वृणुतां) प्रजायें तुझे राज्यके लिये स्वीकार करें, (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशायें (त्वां वृणुतां) तुझे राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर बैठ, (ततः उग्रः) पश्चात् उग्रवीर बनकर (नः वसूनि वि भज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २ ॥

(हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सन्मानपूर्वक मिलें । (अग्निः अजिरः दूतः संचरातै) अग्निके समान वेगवान् तेरे दूत सर्वत्र संचार करें । (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों । (उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥ ३ ॥

(अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनौ, मित्रावरुण सब देव और मरुत (अग्रे) सबसे पहले (त्वा त्वा ह्वयन्तु) तुझको बुलावें । (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर, (ततः उग्रः नः वसूनि विभज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब तू अपने तेजको प्रकाशित कर, और सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान् हो । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपूजित हो ॥ १ ॥

सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तुझे ही स्वीकार करें । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही पसंद करें । तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपद पर आरूढ होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागसे बांट दे ॥ २ ॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सन्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों देशोंमें संचार करें । तेरे राष्ट्रमें धर्मपत्नियां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों । तू शूरवीर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवता तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शूरवीर होकर हम सबमें योग्य विभागसे धन बांट दे ॥ ४ ॥

आ प्र द्र॑व पर॒मस्याः॑ परा॒वत॑: शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ।
तद॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्व॒त्स उपे॒दमेहि॑ ॥ ५ ॥
इन्द्रे॑न्द्र मनु॒ष्या॒३ः परे॑हि॒ सं ह्यज्ञा॑स्था॒ वरु॑णैः संविदा॒नः ।
स त्वा॒यम॑ह्व॒त्स्वे स॒धस्थे॒ स दे॒वान्य॑क्ष॒त्स उ॑ कल्पया॒द्विश॑: ॥ ६ ॥
प॒थ्या॒ रे॒वती॑र्बहु॒धा विरू॑पाः॒ सर्वा॑: सं॒गत्य॒ वरी॑यस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा॒ सर्वा॑: संविदा॒ना ह्व॑यन्तु दश॒मीमु॒ग्रः सु॒मना॑ वशे॒ह ॥ ७ ॥

अर्थ- (परमस्याः परावतः आ प्र द्रव) दूर दूर देशसे भी यहां आ। (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों द्यावापृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होवें। (तथा अयं राजा वरुणः) उसी प्रकार यह वरुण राजा (तद् आह) यह कहता है कि (सः अयं त्वा अह्वत्) वह तुझको बुलावे और (सः इदं उप-आ इहि) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥

हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा ! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे आ और (हि वरुणैः संविदानः) वरिष्ठोंसे मिल कर तू (सं अज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान। (सः अयं स्वे सधस्थे त्वा अह्वत्) वह यह अपने घर तुझे बुलावे (सः देवान् यक्षत्) वह देवोंका यजन करे और (स उ विशः कल्पयात्) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥

(पथ्याः रेवतीः) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं। (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु) वे सब एकमत होकर तुझे बुलावें, पश्चात् तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश) यहां उग्र और उत्तम मनवाला होकर दसवीं दशक तक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ- यदि तू दूर देश भी चला गया हो तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्रही वापस आ। सब देव तेरी सहायता करें। तू सदा अपने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥

तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंसे मिलकर सब बातें ठीक प्रकार समझ। ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और सहयाग भी करेंगे। इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो। बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहनेपर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे। इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्षतक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

राजाका चुनाव

पूर्व संबंध

विजय प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समयके उत्सवके ये मंत्र हैं, अथवा विजयको प्राप्त करके राजाके वापस आनेपर उसे देने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। तृतीय और चतुर्थ सूक्तको विशेष प्रकार दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि- " कभी ऐसा भी होता है कि शत्रु सैन्य द्वारा परास्त होकर राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होजाता है। ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकारसंपन्न और राज्यक्रान्ति करनेका यत्न करें, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अपने

पुरासे राजाको लाकर बड़े सम्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें।' यह भी उपदेश यहां दिखाई देता है। पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकारकी है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहने लगा। देवोंने अपने पुरुषार्थ-प्रयत्नसे असुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूंढा और पुनः इन्द्रपद पर स्थापित किया। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं।

आत्मरक्षा

तृतीय सूक्तमें सबसे प्रथम आत्मरक्षाका बड़ा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है। यह संदेश हरएक वैदिकधर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-धा भुवत् (इति) अचिक्रदत् ॥
(सू० ३, मं० १)

'यहां आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार कर कहा गया है।' इस जगतमें यदि मनुष्यको संमानसे जीवित रहना है, तो (स्व-धाः) आत्मरक्षा उसके लिये अत्यावश्यक है। यह बात जैसे एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसे ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है। जब समाज आत्मरक्षामें दक्ष नहीं रहता, तो दूसरा समाज उसपर हमला करनेमें प्रवृत्त होता है। इसीप्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है। आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बड़ा भारी अपराध है। जो राष्ट्र परतंत्र हुए हैं, वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं। आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसीलिये इस मंत्रमें कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही गई है। जो बात अत्यंत महत्त्वकी होती है, वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है। इस कारण जो बात वेदने अनेक बार पुकार पुकार कर कही है, वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा भी परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है। आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है, इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये—

अग्ने! उरूची रोदसी व्यचस्व ॥ (सू० ३, मं० १)

'अग्निके समान तेजस्वी! तू इस विशाल द्यावापृथिवीके अंदर फैल जा।' आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा ऊर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है। 'अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं' अग्निकी ज्वलनकी गति उच्च है। उच्चगतिवाले सदा उन्नत ही होते रहेंगे और अपना तेज फैलानेमें और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे। आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है। आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो अग्निके प्रचंड प्रकाशसे बताई है। आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है-

अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं॥ (सू० १, मं० ४)

'दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है।' जो आत्मरक्षा नहीं करता, वह दूसरेके अधिकारमें-प्रतिबंधमें पडता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदीखानेमें सडता रहता है। यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है। यह परवशताका भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे होता है, यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले।

सौत्रामणी याग

'सौत्रामणी' नामक एक यज्ञयागी यज्ञ है। इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है, वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत्।
तद्देवाः सौत्रामण्या समभरन्॥
(तै० सं० ५।६।३।४)

'इन्द्रका वीर्य दस विभागोंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया।' अर्थात् इस सौत्रामणी यागका साध्य बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा करना है। 'सु+त्रामन्' शब्दका अर्थ है (सु) उत्तम (त्रामन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति। यह जिससे प्राप्त होती है उसको 'सौ-त्रामणी याग' कहते हैं। पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करनेके लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है। अर्थात् सौत्रामणीयागसे संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है। इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय

मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञके द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राजगद्दीपर लाते है, ऐसा कहा है—

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सख्याय अस्पासः आच्यावयन्तु। (सू. ३, मं २)

' राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहां लावें।' राज्यभ्रष्ट राजा जगलोंमें या (अन्य-क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं। (मं ४) दूसरे देशमें छिप छिप कर रहता है, उसको पुन: राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका सख्य पुन जनताके साथ पूर्ववत् हो। ज्ञानी इन्द्र ही राजगद्दीपर बैठे; इसलिये यह सब प्रयत्न है। यह सब प्रयत्न करनेके लिये सौत्रामणी याग किया जाता है, ऐसा इसी द्वितीय मत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अस्मै गायत्रीं बृहतीं अर्कं सौत्रामण्या दधृषन्त। (सू. ३, म. २)

' देव इस राजाके लिये गायत्री, बृहती आदि रूप अर्चन सत्कार सौत्रामणी यागके द्वारा करते है।' राजगद्दीपर राजाको बिठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बडा सत्कार करते है। इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

वरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्वयतु।
सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु।
इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्य. ह्वयतु॥ (सू. ३, मं. ३)
अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम्॥ (सू. ३, मं. ४)
प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु, मित्रा. प्रति अवृषत॥ (सू. ३, मं. ५)

' वरुण राजा जलस्थानोंके संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोंकी सुव्यवस्थाके लिये बुलावे।' अश्विदेव यहां आनेका तेरा मार्ग सुगम करें। प्रत्येक प्रजाजन आदरसे तुझे बुलावे और मित्र सदा तेरा बल बढावें।'

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्वके है और प्रजाजनोंके सम्प्रबंधका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है। समुद्रमें नौका, जलदुर्ग आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतों पर भी किले आदिका प्रबंध आवश्यक होता है। प्रजाकी सुव्यवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है। इन प्रबंधोंको करनेके लिये राजाको पुनः राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, यह तात्पर्य यहां है। राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यहां मिलती है। सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान् बना हुआ अपने देशका राजा शत्रुके लिये असह्य हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अंत करणमें होनी चाहिये। देखिये, इस विषयमें अगला मंत्र ही कहता है—

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अदीधरन्। (सू. ३, मं. ५)

' इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण स्थापित करें।' अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होवे और प्रजाके आनंदके साथ तेरा भी कल्याण होवे। यहां—

ते क्षेमं विशि। (सू. ३, मं. ५)

' तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें रहता है।' अर्थात् प्रजाजनोंका कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना संभव है, अन्यथा नहीं। जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता, वह सच्चा राजा ही नहीं है। यजुर्वेदमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठित.। (यजु. २०।९)

' प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है।' प्रजा न हो तो राजा कहां रहेगा? परंतु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परंतु प्रजा राजाके आश्रयके विना भी रह सकती है। अत एव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें है। ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इस विषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये—

सजाताः इमं (राजानं) अभि-सं-विशाध्वम्॥ (सू ३, म. ४)

' सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेश करावें।' राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयोंके साथ ही आवे। वे उसकी सुरक्षाका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें। राजाकी सुरक्षाके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय। स्वजातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय

लोग किस समय धोखा दे दें कुछ पता नहीं रहता, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सन्मान करता रहे। नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं। इस आत्मघातके घातकी परिणाम उनको अंतमें बुरी तरह भोगना पडता है। इसलिये इस मंत्र भागने बताया है कि राजा स्वजातीय लोगोंका ज्यादा विश्वास रखे। जहां स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं, वहां राजा विश्वाससे वेगपूर्वक जावे और अपना कार्य प्रारंभ करे, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

श्येनः भूत्वा इमा विश आपत ॥ (सू ३, मं ३)

'*श्येन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पड।*' अर्थात् जहां प्रजाजनोंके भद्र पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं, वहां राजाको त्वराके साथ पहुंच कर अपना प्रजापालनका कार्य करना चाहिये।

विरोधी मनुष्य

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्यों कि राजाका गौरव बढनेसे उनका भी यश बढता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षसे मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी हो जाते हैं, उनका क्या किया जाय, यह शंका यहां हो सकती है इस शंकाका उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये—

य सजात, य च निष्ट्य, ते हव विवदत्,
तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥
(सू ३, मं ६)

'कोई सजातीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके शुभ प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहां ले आओ।'

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशस्त कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी आंतरिक व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहां बताया है।

चतुर्थ सूक्त

यहां तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं। तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्व साधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके चुने हुए राजाको राजगद्दीपर बिठलानेके कार्यके साथ है, इसलिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचारसे देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है। राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाके चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव

राजाका पुत्र हो अथवा नयाही योग्य वीर हो, उसको प्रजाकी संमतिसे ही राज्य प्राप्त होता था। श्री रामचंद्र जैसे सर्वमान्य पुरुषोंको भी राज्य प्राप्त होनेके लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पडी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमति प्रबल शक्ति रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

प्रदिशः देवी: इमा: पञ्च विशः त्वां राज्याय वृणुताम्।
(सू ४, मं २)

'दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये चुनें।' प्रजा राज्य-शासन चलानेके लिये तुझे स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है। अथर्ववेदमें इस बातको बतानेवाले कई सूक्त हैं, उनका विचार उनके स्थान-पर यथावकाश होगा। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उसको राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है, यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके पोषक मंत्र भाग यहां देखिये—

हे राजन्! सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु।
(मं १)

हविनः सजाता त्वा अभ्यच्छ यन्तु। (मं ३)

बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते वरीयः अक्रन्।
(मं ७)

ता: संविदाना: सर्वा: (प्रजा:) त्वा ह्वयन्तु ।
(म. ७)

'हे राजन्! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजायें तुझे पुकारें॥ भेंट लानेवाले स्वजातीय लोग तेरे सम्मुख आवें। बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र सभा करके तुझे श्रेष्ठ बनावे। यह जाननेवालीं सब प्रजायें तुझे ही बुलावें।' इत्यादि मंत्रभाग प्रजाकी अनुमति राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं। इसलिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आवे। किसी पुरुषको जन्मतः राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, अपितु जिसको प्रजा स्वीकृत करे, वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है।

प्रजाका पालन

राज्याभिषेकके समय ही प्रजाके चुने और पसंद किये राजाको राजगद्दीपर अभिषिक्त होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है, देखिये—

१ राष्ट्रं त्वा आगन्,
२ वर्चसा सह उदिहि,
३ विशां पतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज,
४ उपसद्य: नमस्य: च इह भव॥ (म. १)

'हे राजन्! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंके पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन।' इस प्रथम मंत्रमें 'प्रजा-पति' बन, यह आदेश है, पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द 'पा' धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है। जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इस लिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं। राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है। इस प्रकार यहां प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है। ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्य:) नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है। राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पडनेपर प्रजाको (उपसद्य:) मिल सके। जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो। जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शन भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसे प्राप्त कर सकता है? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजासे मिलना आवश्यक ही है।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आगया है, इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपनी सम्मतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पांच प्रकारके प्रजाजनोंने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है, इसलिये उनकी निज सम्मतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि जो सर्वदा भविष्य कालमें राष्ट्रकी सम्मति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने। इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल सम्मतिकी कितनी आवश्यकता है। प्रजाकी अनुमतिके बिना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहां प्रतीत होता है।

धनोंका विभाग

प्रजाओंमें धनके विषम विभाग होनेपर धनी लोग निर्धनोंपर बडा दबाव डालते हैं और उस कारण निर्धन लोग पीसे जाते हैं। इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि यह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे धनविभाग करे। धनकी विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थान पर आदेश हैं—

१ राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज॥
(मं २)

२ अध मनः वसुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज॥
(मं. ४)

'(१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर ठहरकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर। (२) पश्चात् अपना मन धनके दानके लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट।' इन दो मंत्रभागोंमें पहिले कहा है कि 'हे राजन्! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ हो, पश्चात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर।'

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये।

यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाने अशक्य होजायेंगे। धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्माचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके बिना नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है। उग्र बनकर और पक्षपात छोड़कर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये।

धन विभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो धनिकोंका पक्षपात करना चाहिए और ना ही निर्धनोंका पक्ष लेना चाहिये। राष्ट्रमें धन विषम प्रमाणमें न बंटे यह देखते हुए अपने वसुविभागका कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये। यह बड़ा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। धनकी विषमता, अधिकारकी विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातिकी उच्चनीचताकी विषमता आदि अनेक विषमताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकारकी विषमता बड़ी घातक होती है, इस विषमताके कारण दबे हुए मनुष्यका उठना कठिन हो जाता है और वही जातिकी भी भयानक स्थिति होती है यह सब जानते ही हैं। इसलिये वसुविभाग नामक राजाके कर्तव्यमें धनविषयक विषमता दूर करनेका उपदेश किया है।

शुभसंकल्प

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाला बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंसे होना चाहिए, इस विषयमें इस प्रकार कहा है—

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु। (मं. ३)

हे राजन्! तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे 'स्त्रियां और बालबच्चे उत्तम विचारवाले बनें।' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों, उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचारवाली कन्या और शुभसंकल्पवाले कुमारोंके राष्ट्रमें बसनेसे ही ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो बिगाड होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी शिक्षक तथा अन्य प्रबन्धके शासनाधिकारियोंके उत्तम चरित्र होनेपर ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहां बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परंतु अब वह फिर शीघ्र व्यवहारमें आवेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है। अतः लोग कुमारी और कुमारोंके अंदर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जागृत रखें।

राजाका रहना सहना

राजाका व्यवहार सीधासादा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताके सुख दुःखका अवलोकन करे, इस विषयमें आदेश देखिये—

इन्द्रेन्द्र! मनुष्याः (यत्) परेहि,
वरुणैः संविदानः सं ह्यज्ञास्थाः॥
स अयं त्वा स्वे सधस्थे अह्वत्,
स उ देवान् यक्षत्, विशः कल्पयात्॥ (मं. ६)

'हे राजन्! साधारण लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहांके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुलकर उनकी सच्ची अवस्थाको जान। वे तुझे अपने घर बुलावें और यज्ञ करें; इस प्रकार तू प्रजाओंकी उन्नति कर।'

यह मंत्र बहुत दृष्टियोंसे मननपूर्वक देखने योग्य है। सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने शाहीपनेको अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके भेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपनी आंखोंसे देखे कि अपनी प्रजाकी अवस्था कैसी है, प्रजा कष्टमें है या सुखमें है और राज्यके कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। वहांके जो (वरुणैः=वरैः) प्रमुख लोग हों, जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान ले कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहां जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर यज्ञ याग आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे।

दूतका संचार

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपनी आंखोंसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, अतः राजा लोग दूतोंके आंखोंसे ही देख सकते हैं, इसलिये दूतोंका विस्तार करनेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजिरः दूतः संचराति । (म. ३)

' युवा दूत संचार करे । ' राष्ट्रमें दूतोंका विस्तार करके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनाधिक करना हो वह करता रहे । अर्थात् दूत-संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख दुःखोंका पता लगता रहता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके उत्तम शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है । इस विषयमें देखिये—

(१) हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु ॥ (म ३)
(२) उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै ॥ (म. ३)

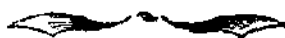
(१) ' हवि लेकर स्वजातिके लोग तेरे सन्मुख उपस्थित हों । (२) उग्र बन कर बहुत भेंट तू देखेगा । ' इस प्रकार राजा प्रजासे बहुत सत्कार प्राप्त कर सकता है । तथा—

(१) ते द्यावापृथिवी शिवे स्ताम् । (मं. ५)
(२) उग्रः सुमनाः इह दशमीं वश । (मं. ७)

(१) ' हे राजन् ! तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां ही पर्वतक राज्यको अपने वशमें कर । ' इसी प्रकार ' सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले । ' (म ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजा भी प्रजाका सुख बढानेमें दत्तचित्त होगा । जो राजा प्रजाके सुखकी पर्वाह नहीं करता हो, उसके हिताहितकी फिक्र प्रजा भी नहीं करती । इसलिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखनी चाहिये कि ' मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगनेके लिये । ' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपने कर्तव्यका योग्य रीतिसे पालन करे ।

वरुण

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता अवश्य देखने योग्य है । इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवताओंके वाचक ही होते हैं, अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते, ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं । परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुणबोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं । यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवतावाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है, उस समय यह सदा एकवचनमें ही होता है । यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनोंका वाचक है । ' वरुण, वरण, वर्ण ' इस प्रकार यह ' चार वर्णोंके लोगों ' का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है । यहां हमारे मतसे ' वर्ण ' अर्थ लेना अधिक योग्य है ।



विजयी राजा

कांड ६, सूक्त ९८

(ऋषि. – अथर्वा । देवता – इन्द्रः ।)

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राजसु॑ राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः जयाति) शूर पुरुषको हमेशा विजय होती है, (न पराजयाते) कभी पराजय नहीं होती । (राजसु अधिराजः राजयातै) राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है उसकी शोभा बढती है । हे राजा ! तू (इह) इस राष्ट्रमें (चर्कृत्यः ईड्यः) शत्रुका नाश करनेवाला और स्तुतिके लिये योग्य, (वन्द्यः उपसद्यः नमस्यः भव) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भावार्थ— जो पुरुष शूर होता है, उसीकी विजय होती है, उसकी कभी पराजय नहीं होती । जो राजा सब राजाओंमें श्रेष्ठ बनता है वही अधिक प्रभावशाली, प्रशंसनीय, वंदनीय और उपास्य होता है ॥ १ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ २ ॥
प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (त्वं अधिराज) तू राजाधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान् हो। (त्वं जनानां अभिभूतिः भूः) तू प्रजाजनोंका समृद्धिकर्ता हो। (त्वं इमाः दैवीः विशः विराज) तू इन दैवी प्रजाओंपर विराजमान हो। (ते आयुष्मत् क्षत्रं अजरं अस्तु) तेरा दीर्घायुयुक्त क्षात्रतेज जरारहित होवे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) तू प्राचीन दिशाका राजा है। हे (वृत्रहन्) शत्रुनाशक ! (उत उदीच्याः दिशः शत्रुहा असि) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (यत्र स्रोत्याः यन्ति) जहां नदियां जाती हैं वहांतकके प्रदेशको (तत् ते जितं) तूने जीत लिया है। तथा (वृषभ हव्यः दक्षिणतः एषि) बलवान् और आदरसे पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशासे तू आता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रजाओंकी समृद्धि बढानेवाला होवे। अपनी प्रजाको दैवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षात्रतेज बढाकर दीर्घ आयु भी बढावे ॥ २ ॥

चारों दिशाओंमें शत्रुओंका पराजय करके राजा विजयी बने, बलवान् बने और सबके आदरका पात्र बने ॥ ३ ॥

राजा विजयी होकर किस रीतिसे यशका भागी होता है, यह बात इसमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है। इस सूक्तका भाव अति सरल और सुबोध है। 'शौर्य और बल बढाने और प्रजाकी समृद्धि वृद्धिगत करनेसे राजा विजयी होता है।' यह इस सूक्तका मुख्य आशय है।



क्षत्रियका धर्म

कांड २, सूक्त ५

(ऋषि – भृगु, आथर्वण । देवता – इन्द्र ।)

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् । पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥
इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वह) आगे बढ। (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंके साथ तू यहां आ। (चकानः) तृप्त होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिये (इह) यहां (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मधोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पी ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नव्यः न) प्रशंसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्गीय आनंदके समान (मधोः जठरं पृणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर। (अस्य सुतस्य) इस निचोडे रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान सुखों और (सुवाचः मदाः) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा उप अगुः) तेरे पास पहुंचते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ। अपने उत्तम घोडोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर उधर जा और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये बुद्धिपूर्वक मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रशंसाके योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रससे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी ही तेरे पास सब ओरसे पहुंचेगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥ २ ॥

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न । बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥
इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुराषाट् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने (वृत्रं जघान) घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा (भृगुः न) भृगुके समान जिसने (वलं बिभेद) शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रून् ससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥

हे (शक्र इन्द्र) शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा आ विशन्तु) निचोडे हुए ये रस तुझमें प्रविष्ट हों। (कुक्षी पृणस्व) दोनों कुक्षियोंको तू भर और (विड्ढि) शासन कर (धिया नः आ-इहि) अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ। हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरी स्तुतियां स्वीकार कर और (इह) यहां (महे रणाय) बडे युद्धके लिये (स्वयुग्भिः) अपनी योजनाओंके साथ (आ मत्स्व) हर्षित हो. ॥ ४ ॥

(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्र वोचं) इन्द्रके पराक्रमका मैं अच्छी प्रकार वर्णन करता हूं। (यानि प्रथमानि) जो पहिले श्रेणीके पराक्रम (वज्री चकार) वज्रधारी इन्द्रने किये थे। उसने (अहिं अहन्) कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया और (अपः अनुततर्द) प्रवाहोंको खुला किया और (पर्वतानां) पर्वतोंके (वक्षणाः प्र अभिनत्) मार्ग भी तोडे ॥ ५ ॥

(पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुका (अहन्) वध किया। (अस्मै) इसके लिये (त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष) कारीगरने तेज शस्त्र बनाया। (वाश्राः धेनवः इव) रंभाती हुई गौवोंके समान (स्यन्दमानाः आपः) वेगसे बहनेवाले जलप्रवाह (अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः) सीधे समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥

भावार्थ— पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रुपर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है। जिस प्रकार भूननेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरसका पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुका पराभव करता है ॥ ३ ॥

हे शक्तिमान् शूरवीर ! सब मधुर रस तुझे प्राप्त हों और उससे तू अपना पेट भर। उस समय तू अपने मनसे सब जनताकी भलाईका विचार कर और उनकी पुकार सुन तथा बडे जीवनकलहमें विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योजक शक्तियोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुरुषके पराक्रमोंका मैं वर्णन करता हूं, जो उसने (इन्द्रने) किये थे। बढनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और जलके प्रवाह सबके लिये खुले कर दिये, तथा पर्वतोंके मार्गोंको तोडकर जंगल भी साफ किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उसने वध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरोंने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये। जिस प्रकार गौवें रंभाती हुई अपने बछडेके पास जाती हैं, उसी प्रकार उस वीरके द्वारा मुक्त किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (वृषायमाणः) बलवान् वीर (सोमं अवृणीत) सोमरसको प्राप्त हुआ। (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका तीन उच्च स्थानोंमें पान किया। (मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त) इन्द्रने बाणरूप वज्र लिया और (अहीनां प्रथमजां एनं अहन्) शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ— अपना बल बढानेवाला शूरवीर सोमरसका पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है। धनी शूरवीर अपने शस्त्र सदा तैयार रखता है और बढनेवाले शत्रुके अग्रगामी वीरका शीघ्र नाश करता है [और इस रीतिसे अपनी विजय प्राप्त करता है।] ॥ ७ ॥

क्षत्रियका धर्म

क्षात्रधर्म

प्रायः इन्द्र सूक्तोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है। इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका द्योतक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षात्रधर्मका प्रकाशक होता है। इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं। इस सूक्तमें जिन शब्दों द्वारा शूरवीरका वर्णन होकर क्षात्रधर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये—

क्षत्रियके गुण

१ इन्द्रः (इन्+द्र)- शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु-सैन्यका नाश करनेवाला। (मं. १)

२ शूरः- शूरवीर। (मं. १)

३ चकानः- तृप्त, संतुष्ट, तेजस्वी, प्रकाशमान्। शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ। (मं. १)

४ मित्रः- जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला। सूर्यवत्प्रकाशमान्। (मं. १)

५ यतीः- प्रयत्नशील, पुरुषार्थी। (मं. ३)

६ सुशुः- भूननेवाला, शत्रुको भूननेवाला। (मं. ३)

७ तुराषाट्- त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला। (मं. १)

८ शक्रः- समर्थ, शक्तिशाली, बलवान्। (मं. ४)

९ वज्री- वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त। (मं. ५)

१० वृषायमाणः- अपना बल प्रतिदिन बढानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढानेवाला। (मं. ७)

११ मघवा (मघ+वान्)- धनवान्। (मं ७)

ये ग्यारह शब्द इस सूक्तमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं। इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है। क्षत्रियके पास शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण जैसे चाहिये उसी प्रकार पुन. पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये। शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमें यहां प्राप्त होता है। अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मन्त्रोंमें वर्णन हुए हैं, उनका विचार देखिये—

क्षत्रियके कर्तव्य

१ शूर ! हरिभ्यां आयाहि- हे वीर ! घोडोंपर सवारी कर। घोडोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये। (मं. १)

२ प्र वह- आगे बढ। क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ सके। चढाईमें ढिलाई न रहे। (मं. २)

३ वृत्रं जघान- घेरनेवाले अथवा व्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो। (मं. ३)

४ वलं विभेद- शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें

भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे। (मं. ३)

५ शत्रून् ससहे- शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं. ३)

६ विद्धि (आ विड्ढि)- उत्तम राज्यशासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं. ४)

७ महते रणाय स्वयुग्भिः सरस्व- बडे युद्धके लिये अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा सामर्थ्यसे तैयार रहे। शत्रु झगडा करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे। (मं. ४)

८ अहिं अहन्- शत्रुका नाश करे। (मं. ५)

९ पर्वतानां वक्षणाः अभिनत्- पर्वतोंके उपरके घने जंगल तोडकर शत्रु छिपकर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बहनेवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं. ५)

१० अपः अनु ततर्द- जलके प्रवाह शत्रुके अधिकारमें हों तो उनको सबके लिये खुले करे। (मं. ५)

११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन्- पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। (मं. ६)

१२ अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष- इसके लिये लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काममें नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके ले। (मं. ६)

१३ सायकं वज्रं आ अदत्त- बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। (मं. ७)

१४ अहीनां प्रथमजां एनं अहन्- पहलेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। (मं. ७)

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनको विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिये—

राज्यशासन

१ मित्रः- प्रजाओंका मित्र बनकर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। (मं. १)

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व- पुकार सुन, वाणीको स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज सुन। प्रजाकी इच्छाका आदर कर। (मं. ४)

३ अयः अज्ञाः समुद्रं अवजग्मुः- समुद्रतक बहानेवाले नहर चलावे और उससे कृषिको सहायता करे। (मं. ६)

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिये जो क्षत्रिय करता है, उसीको प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये—

प्रजासे सन्मान

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः- तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञतासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है। (मं. २)

आनंदित होनेके पश्चात् ही प्रजा उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या है, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिये शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझकर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यक ही होता है। इसलिये इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्तिगत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिये इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं—

भोग

१ सुतस्य मध्वः मदाय पिब- सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिये कर। (मं. १)

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वनस्पतिमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियोंका ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें सोमका नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं—

२ सुतस्य मध्वः जठरं पृणस्व। (मं. १)

३ सुतासः त्वा सुक्षीः आविशन्तु। (मं. ४)

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। (मं. ७)

इन मन्त्र भागोंका भी यही भाव है। (२) सोमरससे पेट भर ले। (३) सोमरससे दोनों कुक्षिया भर ले। (४) निचोडा सोमरस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठकर दिनमें तीन बार पी। यह सोमरस मधुर रुचिवाला, हर्ष और उत्साहवर्धक, थकावटको दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, बुद्धि बढानेवाला और रोगबीजोंको दूर करनेवाला है।

सोम और मद्य

कतिपय विद्वान् सोमको शराब मानते हैं, पर उनकी यह धारणा दोषपूर्ण है। सोम, सुरा, वारुणी, आसव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं। मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक होगये हैं और सुरा शब्द भी उनमें सम्मिलित हुआ है, यह बात हमें पता है। इसलिए हम कहते हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें—

१ सोम- सोमवल्लीका रस, जो दूध, मधु (शहद), मिश्री, भुने हुए धान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओंको भी पिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है। इसके गुण ऊपर दिये हैं।

२ सुरा- किसी रसका भाप बनाकर फिर उसको ठण्डा करके रस बनाया जाय, तो उसे सुरा कहते हैं। (Distilled Water) पानीकी भाप बनाकर फिर उस भापका पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, वृष्टि-जलका भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमिपरके जल भाप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है। किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है। यह शुद्धिकी रीति है। आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी विकृति हुई है, यह बात सामयिक है। वास्तवमें संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्त विधिसे बनाए गए परिशुद्ध जल या रसका वाचक है।

३ वारुणी, अमरवारुणी- ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। परन्तु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिए ये सब नाम बुरे अर्थोंमें आजकल प्रयुक्त होगए हैं। प्राचीन समयमें भी क्वचित् बुरे और क्वचित् अच्छे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है।

४-५ आसव और अरिष्ट- ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं। इनमें कुछ सडावट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होना अपरिहार्य है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति शतक दो भागके करीब होती है। इसलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

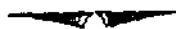
६-७ मद्य और शराब- मादक होनेसे निःसंदेह हानिकारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन बार रस निचोडा जाता है और उसी समय उसकी आहुतियाँ देकर पिया जाता है। सबेरे, दोपहरको और सायंकालको रस निचोडा और पिया जाता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें आचुका है।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कही है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाली है।

जीवन संग्राम

वेदमें ' महते रणाय ' ये शब्द बारम्बार आते हैं। ' महान् युद्ध ' चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें लडनेवाले मनुष्य मात्रका मार्गदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा हुआ है, किसी न किसी प्रकार युद्धमें सम्मिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्ध करना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय ? इसलिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके बिना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमानेके बिना उसकी उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रियकी तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्धरूप है, उसके लिए युद्ध तो अनिवार्य है।



प्रजा-पालक-सूक्त

कांड १, सूक्त २१

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - इन्द्रः।)

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज। वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥
अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्। वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (स्वस्ति-दा) मंगल देनेवाला, (विशां पतिः) प्रजाओंका पालक, (वृत्र-हा) घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि-मृधः वशी) विशेष हिंसकोंको वशमें करनेवाला, (वृषा) बलवान् (सोम-पाः) सोमका पान करनेवाला (अभयं-करः) अभय देनेवाला (इन्द्रः) प्रभु राजा (नः) हमारे (पुरः एतु) आगे चले, हमारा नेता बने ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नः मृधः) हमारे शत्रुओंको (विजहि) मार डाल। (पृतन्यतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला चढानेवालोंको (नीचा यच्छ) नीचे ही गिरा दे। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है या हमारा घात करना चाहता है, उसको (अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दे ॥ २ ॥

(रक्षः मृधः वि विजहि) राक्षसों और हिंसकोंको मार डाल, (वृत्रस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक प्रभो ! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! राजन् ! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदल दे। (जिज्यासतः वधं अप) हमारी आयुके नाश करनेवालेको दूर कर, (महत् शर्म वियच्छ) हमें बडा सुख दे और (वधं वरीयः यावय) वधको दूर कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेरकर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृतपान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्रगामी बने ॥ १ ॥

हे राजन् ! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥

हिंसक क्रूर शत्रुओंको मार डाल, घेरकर सतानेवाले दुष्टोंको काट दे, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नष्ट कर दे ॥ ३ ॥

शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करनेवालोंको दूर कर, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्म

यह 'अभयगण' का सूक्त है। इस सूक्तमें क्षात्रधर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है। उत्तम राजाके गुण प्रथम मन्त्रमें वर्णन किये हैं। इस मन्त्रकी कसौटीसे राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है। अन्य तीन मन्त्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है। सब प्रकारके अन्तर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मख्य कर्तव्य है। यह सूक्त अति सरल है इसलिए इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

आशा-पालक-सूक्त

कांड १, सूक्त ३१

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – आशापालाः, [वास्तोष्पतिः] ।)

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः । इ॒दं भू॒तस्या॒ध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥
य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ देवाः । ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सोअंहसः ॥ २ ॥
अस्रा॑मस्त्वा ह॒विषा॑ यजा॒म्यश्लो॑णस्त्वा घृ॒तेन॑ जुहोमि ।
य आशा॑नामाशापा॒लस्तु॒रीयो॑ दे॒वः स नः॑ सुभू॒तमेह व॑क्षत् ॥ ३ ॥
स्व॒स्ति मा॒त्र उ॒त पि॒त्रे नो॑ अस्तु स्व॒स्ति गोभ्यो॒ जग॑ते॒ पुरु॑षेभ्यः ।
विश्वं॑ सुभू॒तं सु॑वि॒दत्रं॑ नो अस्तु॒ ज्योगे॒व दृ॑शेम॒ सूर्य॑म् ॥ ४ ॥

अर्थ– (भूतस्य अध्यक्षेभ्यः) जगत्के अध्यक्ष (अमृतेभ्यः) अमर (आशानां चतुर्भ्यः आशापालेभ्यः) दिशाओंके चार दिशापालकोंके लिये (वयं) हम सब (हविषा इदं विधेम) हविर्द्रव्यसे इस प्रकार अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (ये आशानां चत्वारः आशापालाः स्थन) जो तुम दिशाओंके चार दिशापालक हो (ते नः) वे तुम हम सबको (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) अवनतिके पाशोंसे तथा (अंहसः अंहसः) हरएक पापसे (मुञ्चतां) छुडाओ ॥ २ ॥

(अ-स्रामः) न थका हुआ मैं (हविषा त्वा यजामि) हविर्द्रव्यसे तेरा यजन करता हूं । (अ-श्लोणः त्वा घृतेन जुहोमि) लंगडा न होता हुआ तुमको घी अर्पण करता हूं । यह (आशानां आशापालः तुरीयः देवः) जो दिशाओंका दिशापाल चतुर्थ देव है (सः नः सुभूतं इह आवक्षत्) वह हम सबको उत्तम प्रकारसे यहां पहुंचावे ॥ ३ ॥

(नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु) हम सबकी माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये आनन्द होवे । तथा (गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति) गौवोंके लिये, चलने फिरनेवालोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख होवे । (नः विश्वं सुभूतं सुविदत्रं अस्तु) हम सबके लिये सब प्रकारका ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हो और हम (सूर्यं ज्योक् एव दृशेम) सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें अर्थात् हम दीर्घायुषी हों ॥ ४ ॥

भावार्थ– चार दिशाओंके चार अमर दिक्पाल हैं, वे इस बने हुए जगत्के अध्यक्ष हैं । उनकी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

चार दिशाओंके चार दिक्पाल हैं, वे हमें हरएक पापसे बचावें और दुर्गतिसे भी हमारा छुटकारा करें ॥ २ ॥

मैं न थकता हुआ उनका सत्कार करता हूं, लंगडा लूला न बनकर मैं उनको घी देता हूं, जो इन चार दिक्पालोंका चतुर्थ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्थातक पहुंचावे ॥ ३ ॥

हमारे माता पिता, हमारे अन्य इष्टमित्र, हमारे गाय, घोडे आदि पशु तथा जो भी हमारे प्राणी हों वे सब इस प्रकार सुखी हों । हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारसे बढे तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

आशा-पालक-सूक्त

दिक्पाल

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिशाएं हैं। उनकी रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, वे अपनी अपनी दिशाका संरक्षण कर रहे हैं। ये दिक्पाल रक्षक इतने दक्ष हैं कि इनके अनजाने कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार बुरा कार्य कर नहीं सकता। हरएक मनुष्यको उचित है कि यह उक्त बात मनमें धारण करे और इन दैवी लोकपालोंके दण्डके योग्य कोई आचरण न करे।

राजा अपने राज्यकी व्यवस्था और राज्यका सुशासन करनेके लिये राज्यमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य शासक अधिकारी नियत करे, वह अधिकारी उसतरहसे अपने विभागका योग्य शासन करे। दुष्टोंको दण्ड दे और सज्जनोंका प्रतिपालन करे और कहीं भी अनाचार होने न दें। यह राष्ट्रनीतिका पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है।

पिंडके अन्दर राष्ट्र और राष्ट्रके अन्दर व्यक्तिका देह है और इन तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है। इसलिए राष्ट्रशासनका विचार होनेके पश्चात् जिन व्यक्तियोंका राष्ट्र बनता है उन व्यक्तियोंके अन्दर चार दिशाओंके चार दिक्पाल किस रूपमें हैं और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकामें कैसे चल रहा है और उससे हमें वैयक्तिक सदाचारके विषयमें कौनसा बोध लेना है, इसका विचार अब करना चाहिये।

देहमें चार दिक्पाल

देहमें मुखको 'पूर्व द्वार' कहते हैं और गुदाको 'पश्चिम द्वार' कहते हैं। ये द्वार एक दूसरेके साथ सम्बन्धित भी हैं। पूर्व द्वारसे अर्थात् मुखसे अन्न पान शरीरके अन्दर जाता है, वहांका कार्य करता है और शरीरके मलादिके रूपमें परिवर्तित होकर पश्चिम द्वारसे अर्थात् गुदासे बाहर हो जाता है। अर्थात् पोषक अन्नका प्रवेश पूर्व द्वारसे इस शरीर में होता है और मलको दूर करनेका कार्य पश्चिम द्वारसे होता है। दोनों कार्य शरीरके स्वास्थ्यके लिए अत्यन्त आवश्यक ही हैं। परन्तु यह तो स्थूल शरीरके स्वास्थ्यके साथका सम्बन्ध है, इसके अलावा और भी दो द्वार हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्यकी उन्नति या अवनतिके साथ अधिक है; वे दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जिनको 'उत्तर द्वार' तथा 'दक्षिण द्वार' कहते हैं।

'उत्तर द्वार' मस्तकमें है जिसका नाम 'विदति द्वार' उपनिषदोंमें कहा है, इस द्वारसे शरीरमें जीवात्माका प्रवेश होता है और इसी द्वारसे अपने प्रयत्नसे जिस समय यह बाहर जाता है, उस समयसे यह जन्ममरणके दुःखसे छूटता है और पुनः शरीरके बन्धनमें पडता नहीं। बालकके मस्तकमें छोटेपनमें इस स्थानपर हड्डी नहीं होती। इसका नाम उत्तर द्वार है क्योंकि इस द्वारसे जानेसे उच्चतर अवस्था प्राप्त होती है।

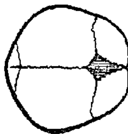
यह द्वार मज्जा केन्द्रके साथ सम्बन्धित है। इसी मज्जा केन्द्रके साथ सम्बन्ध रखनेवाला निचला द्वार शिश्न है, जिससे वीर्यका पात होता है। इसके योग्य नियम पालनसे सुयोग्य सन्तति उत्पन्न होती है, परन्तु इसके अनियममें चलनेसे मनुष्यकी अधोगति होती है। ये दो द्वार मनुष्यको उच्च और नीच बनानेमें समर्थ हैं। ब्रह्मचर्य पालन द्वारा उत्तर मार्गसे जानेका उपनिषदोंका वर्णन इसी उत्तर मार्गको सूचित करता है, इसीका नाम 'उत्तरायण (उत्तर+अयन)' अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है। इसके विरुद्ध 'दक्षिणायन' अर्थात् दक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके संयमसे उत्तम गृहस्थधर्मपालनपूर्वक उन्नति होना संभव है, परन्तु असंयमसे मनुष्य इतना गिरता है कि उसका कोई ठिकाना ही नहीं होता। ये दो मार्ग मज्जातन्तुओंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार ये शरीरमें अन्ननलिका के साथ सम्बन्ध बताते हैं तथा उत्तरद्वार और दक्षिणद्वार ये दो मार्ग मज्जातन्तुओंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। ये द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं, अतः ये देव राक्षसोंके हमलेके कारण बनने नहीं चाहियें।

आशा और दिशा

इस सूक्तमें दिशावाचक 'आशा' शब्द है और उसके पालकका नाम 'आशापाल' मंत्रोंमें आया है। 'आशा' शब्दके दो अर्थ हैं। एक 'दिशा' और दूसरा 'आशा, महत्त्वाकांक्षा, उम्मीद'। मनुष्यकी जैसी आशा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा और उम्मीद होती है, उसी प्रकारकी कार्य करनेकी दिशा होती है। मनुष्य जिस समय आशाहीन हो जाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगतसे हटनेका या मर जानेका इच्छुक होता है। यह विचार यदि पाठकोंके मनमें जम जायगा, तो उनको पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्यके साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

इस अथर्व श्रुतिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार है इसमें कोई सदेह ही नहीं है। दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख, गुदा और शिस्न ये नौ द्वार यहां कहे हैं। इनमेंसे मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिस्न दक्षिण द्वार इन तीनोंका सम्बन्ध इस अपने प्रचलित सूक्तके मन्त्रमें है। जो चतुर्थ द्वार है वह आठ चक्रवाले पृष्ठवंशके ऊपर मस्तिष्कसे भी ऊपरके भागमें 'विद्वति' नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार है—


मस्तकमें विदृतिद्वार

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥
(अथर्व. १०।२।२७)

'मस्तक और हृदयको सीकर अर्थात एक केन्द्रमें लीन कर के मस्तकके भी ऊपर सिरके बीचमेंसे प्राण फेंका जाता है।'

विदृति-द्वारसे प्रवेश

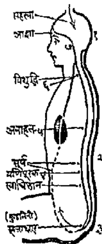
विदृति द्वारसे तैंतीस देवोंके साथ आत्माके शरीरमें प्रवेश होने पर यह द्वार बन्द होजाता है। पश्चात् प्राणसाधन द्वारा अपनी इच्छासे इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति होती है। साधारण जन देहत्याग करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगी ही अथर्ववेदके कहे मार्गसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है।

इस मन्त्रमें 'मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः। अधि शीर्षतः।' आदि शब्दों द्वारा मस्तकके ऊपरके उत्तर द्वारका वर्णन किया है। अर्थात् जो चार द्वार हमने इस मन्त्रके व्याख्यानके प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है। नौ द्वारोंमेंसे तीन और इस मज्जा-स्थान-का एक मिलकर चार द्वार हैं और उनकी चार आशाएं अथवा दिशाएं हैं। अब ये आशाएं देखिये—

द्वार		आशा
१ पश्चिमद्वार	= गुदा	= की आशा, विसर्जन करना। शरीरधर्म।
२ पूर्वद्वार	= मुख	= की आशा मधुर भोजन करना। अर्थप्राप्ति।
३ दक्षिणद्वार	= शिस्न	= की आशा भोगोंका उपभोग करना। काम।
४ उत्तरद्वार	= विदृति	= की आशा बंधनसे मुक्त होना। मोक्ष।


पृष्ठवंश

विदृतिद्वार



सहस्रार चक्र
पृष्ठवंशमें चक्रोंके स्थान

आरोग्यका आधार

इसमें पश्चिमद्वारसे जो आशा है, वह केवल 'शरीरधर्म' पालन करनेकी ही है, तथापि इस शौच धर्मसे अर्थात् पवित्र बननेके कर्मसे शरीर शुद्धि होनेके कारण इससे शरीर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। सब अन्य भोग इसके आश्रयसे हैं यह बात हरएक जान सकते हैं। इस द्वारका कार्य बिगड जानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारोंकी आशाएं पूर्ण होनेकी असमर्थता होती है। इसके उत्तम प्रकार कार्य करने पर ही अन्य आशाओंके सफल होनेकी सम्भावना है। इस लिये हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वारकी आशा मनुष्यके मनमें 'आरोग्यकी प्राप्ति' रूपसे रहती है। इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बडा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा, उतनी वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम द्वारसे व्यवहार ठीक न चलें तो उसके रोगी होनेमें कोई शंका ही नहीं है।

खानपान

अब पूर्वद्वारकी आशा देखिये। संक्षेपसे इतना कहना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वारसे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करनेकी इच्छा करता है। मधुरतासे प्रेम करते करते मनुष्य इतना अधिक खाता है कि वह अजीर्णसे बीमार होजाता है। इसलिए इस विषयमें प्रयत्नपूर्वक संयम रखना चाहिये। रुचिका गुलाम और जिह्वाका दास जो बनता है उसकी आयु कष्टप्रद ही होती है। हरएक इन्द्रियके विषयमें यही बात है। इस प्रकार इन्द्रिय भोगके लिये धनकी आवश्यकता है, इस हेतुसे इस द्वारकी आशा 'अर्थकी प्राप्ति' ही है। इस आशासे अत्यधिक बढ जानेसे कष्ट होते हैं और संयम द्वारा पथ्यापथ्यपरताके अनुसार भोग लेनेसे सुख बढता है, उन्नति होती है। मुखद्वारसे शब्द बोलनेका भी एक काम होता है। उत्तम शब्द-प्रयोगसे जगत्‌में शांति फैलती है और कुशब्दके प्रयोगसे अशांति फैलती है। इस विषयमें भी जिह्वापर संयम रखना आवश्यक है। अन्यथा अनर्थ होनेमें कोई देर नहीं लगेगी। इस प्रकार इस द्वितीय द्वारकी आशाका सम्बन्ध मनुष्यकी उन्नतिके साथ है।

कामोपभोग

तीसरा दक्षिण द्वार है। इस शिश्न द्वारा जगत्‌में उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजाजनन करना आवश्यक है। परन्तु जगत्‌में इसके असंयमसे जो अनर्थ हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं है। इसका संयम महत्प्रयाससे साध्य होता है। ऊर्ध्वरेता होना ही वैदिक धर्मका साध्य है। इसके विचारसे इस द्वारकी आशाका पता लग जायगा। यह केन्द्र अत्यन्त महत्वका है, परन्तु जनताका लक्ष्य इसके कार्यमें बिगाड करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न अति कम है।

बन्धनका नाश

अब चतुर्थ विवृति द्वारपर हम आते हैं। यह विवृति-द्वार है। इससे जीवात्मा इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, परन्तु इसी द्वारसे बाहर जानेका मार्ग इसको मिलता नहीं है। युद्धभूमिमें प्रवेश करना यह जानता है, परन्तु सुरक्षित वापस फिरनेकी विद्याका से पता नहीं है। चक्रव्यूहमें घुसनेकी विद्या जाननेवाला, परन्तु चक्रव्यूहमें घुसकर युद्धमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित वापस आनेकी विद्या न जाननेवाला अभिनव कुमार अभिमन्यु यही है। यदि यह सुरक्षित वापस आनेकी विद्या जानेगा तो यह विजय-अर्जुन- होगा, फिर इसको डर किसका है? 'विजयी' बननेके लिये ही ये वेद धर्ममार्ग हैं। जिस समय आये हुए मार्गसे यह जीवात्मा वापस जानेकी शक्ति प्राप्त कर सकेगा, उस समय इसको कोई बन्धन कष्ट नहीं पहुंचा सकता। हरएक बन्धनको दूर करनेकी इच्छा इसमें इस द्वारके कारण है।

इस प्रकार चार द्वारकी चार आशाएं हैं और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें बुरा या भला कार्य करता है और गिरता या उठता है।

अमर दिक्पाल

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रके कथनमें तीन बातें कही हैं— '(१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक हैं। (२) वे ही भूताध्यक्ष हैं। (३) उनकी पूजा हम हवनसे करते हैं।'

मनुष्यमें चार आशाएं कौनसी हैं, उन आशाओंका स्वरूप क्या है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उत्थानका किस प्रकार सम्बन्ध है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है। चार आशाएं मनुष्यके अन्दर सनातन हैं, (१) शरीरधर्मका पालन करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) कामका भोग करना और (४) बन्धनसे निवृत्त होना। ये चार भावनाएं अथवा कामनाएं मनुष्यमें सदा जागती रहती हैं, सूक्ष्म तथा स्थूल रूपमें वे समानतासे रहती हैं। पशुपक्षियोंमें भी अल्पांशसे ये रहती

हे अर्थात् भूतमात्रमें ये सदा रहती हैं, इसलिये इनका सनातन अधिकार प्राणीमात्रपर है, मानो ये ही भूतोंके अध्यक्ष हैं। इनको अध्यक्ष इसलिये कहा है कि इनकी प्रेरणासे ही प्राणी अपने अपने सब व्यवहार करते हैं। यदि ये आशाएं प्राणियोंके अन्दर न रहीं, तो उनकी हलचल भी बन्द हो जायगी। मनुष्यके सम्पूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो रहे हैं। इसलिये ये ही चार आशा-पालक मनुष्योंपर अधिकारी हैं। इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका बुरा या भला परिणाम भोगता है।

हवनसे पूजन

इनका पूजन हवनसे ही हो रहा है। पूर्वद्वार मुख है, उसमें अन्नपानका हवन हो रहा है। कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता। इसी प्रकार दक्षिणद्वार शिश्न-देवके पूजक सब प्राणी हैं, इतना ही नहीं परंतु इस कामदेव की अति पूजासे लोग अपना ही घात कर रहे हैं, इतनी बात सत्य है कि उत्तरद्वार जिसका नाम विदृति है उसके पूजक अत्यन्त अल्प हैं और पश्चिमद्वारकी पूजा करना थोडे ही जानते हैं। पश्चिमद्वारकी पूजा योगमें प्रसिद्ध 'अपानायाम' से की जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वारसे करने का व्यायाम 'प्राणायाम' होता है, उसी प्रकार पश्चिम गुदा द्वारसे अपानायाम किया जाता है। इसकी क्रिया भी थोडे लोग जानते हैं। यह क्रिया योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे नाभिके निचले भागका आरोग्य प्राप्त होता है। उत्तरद्वार विदृतिके उपासक खास योगी होते हैं, वे इस स्थानपर अपना ध्यान करके मुक्तता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा यह है—

१ पूर्वद्वार- (मुख)- अन्नपानादिके हवनसे पूजा।
२ दक्षिणद्वार (शिश्न)- भोगादि द्वारा कामदेवकी पूजा।
३ पश्चिमद्वार (गुदा)- अपानायाम - अपानका प्राणमें हवन करके पूजा।

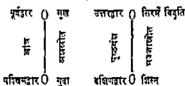
इसका उल्लेख भगवद्गीतामें भी है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
(भ. गी. ४।२९)

४ उत्तरद्वार (विदृति)- मस्तिष्कके मज्जाकेन्द्रके सहस्रार-चक्रमें ध्यानादिसे पूजा।

इनमें पहिली दो उपासनाएं जगत्में अधिक हैं और दूसरी दो कम हैं। परंतु ओजस्वी हैं। प्रथम मन्त्रमें 'इन चारों अमर आशापालोंकी हवन द्वारा पूजा करेंगे' ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इसलिए कि हरएक मनुष्य चारोंकी उपासना द्वारा अपना उद्धार करे।

यह नियमन इस प्रकार है—



पूर्व तथा पश्चिमद्वार ये हमारे आंतोंके विरुद्ध दिशाके मुख हैं। मुखका अतिरेक होनेसे गुदाका कार्य बिगडता है और गुदाका कार्य ठीक रहनेसे मुखकी रुचि ठीक रहती है। इस प्रकार ये एक दूसरेपर नियमन करते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क और शिश्न ये परस्परका नियमन करते हैं। यदि शिश्नदेवने अतिरेक किया, तो मस्तिष्क हलका होजाता है और मनुष्य बुद्धिका कार्य करनेमें असमर्थ होजाता है, पागल बनकर निकम्मा होजाता है। तथा मस्तिष्कमें सुविचारोंको स्थिर करनेसे वे सुविचार शिश्नदेवका संयम करनेमें सहायक होते हैं। इस प्रकार ये परस्पर उपकारक भी हैं और घातक भी हैं। अब द्वितीय मन्त्रका विचार करेंगे—

पापमोचन

द्वितीय मन्त्रका आशय यह है— 'चार आशाओंके चार आशापालक देव हैं, वे हमें पापसे तथा अधोगतिके पाशसे बचावें।'

पूर्वोक्त वर्णनसे यह बात होगया होगा कि ये चार देव हमें किस प्रकार बचा सकते हैं और किस प्रकार गिरा सकते हैं। देखिये—

१ पूर्वद्वार- मुख- जिह्वाको गुलामीसे खानपानमें विकृति होकर, पेटका बिगाड और स्वास्थ्यका नाश। इसी जिह्वाके संयमसे आरोग्य - प्राप्ति।

२ पश्चिमद्वार- गुदा- पूर्वोक्तके संयम और असंयमसे ही इसके लाभ या हानि होनेका सम्बन्ध है।

३ दक्षिणद्वार- शिश्न- ब्रह्मचर्य द्वारा संयमसे उन्नति, संयमपूर्वक गृहस्थधर्म पालनसे सुप्रजा प्राप्ति और असंयमसे क्षय।

४ उत्तरद्वार- विदृति- पूर्वोक्तके संयम और असंयमसे इसके लाभ और हानि होनेका सम्बन्ध है।

इसका मनन करनेसे ये पापसे किस तरह छुडा सकते हैं इसका ज्ञान हो सकता है। पापसे छूटनेसे ही निर्ऋतिके पाशसे मनुष्य छुट सकता है। निर्ऋतिका अर्थ नाश है। पाप करनेवालेको निर्ऋतिके अर्थात् विनाशके पाश बांध देते हैं और पुण्यवानोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस मन्त्रका यह कथन बडा बोधप्रद है कि ये चार द्वारकी चार आशाएं मनुष्यको पापसे छुडा सकती हैं और बन्धनसे भी मुक्त कर सकती हैं। कोई आशापालक उनके विरुद्ध कार्य करता हो या शत्रुके आधीन हुआ हो, तो सावधानीसे अपने बचावका यत्न करे। इस प्रकार द्वितीय मन्त्रका विचार करनेसे इतना बोध मिला, अब तृतीय मन्त्र देखते हैं—

चतुर्थ देव

तृतीय मन्त्रका आशय यह है— मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हवनसे तथा घीसे इनकी तृप्ति करता हूं। इन चार आशापालोंमें जो चतुर्थ आशापालक देव है वह हमें सुखसे यहां आनन्द स्थानमें पहुंचावे।'

इस मन्त्रमें कहा हुआ ' तुरीयः देव ' अर्थात् चतुर्थ देव निवृत्तिद्वारका रक्षक मोक्षकी आशाका पालक है। इसी देवकी कृपासे अन्य सब द्वारोंका नियमन हो सकता है। इसी दृष्टिसे अन्य सब कार्य-व्यवहारका नियमन होना चाहिए। वैदिक धर्मके सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार इसी दृष्टिसे रचे गए हैं। मोक्षके मार्गके ध्यानसे जगत्के सब व्यवहार होने चाहिए। इसीका नाम धर्म है। बन्धनसे मुक्त होना मुख्य साध्य है, उसके सहायकारी सब अन्य व्यवहार होने चाहिए। अन्यथा जगत्के व्यवहारको अधिक महत्त्व देनेसे और मोक्ष-धर्मको कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें लोभवृद्धि होनेके कारण बडा अनर्थ होगा। त्यागपूर्ण जीवन और भोगपूर्ण जीवनका भेद यहां स्पष्ट होता है।

मन्त्रमें कहा है कि न थकता हुआ और अवयवोंसे विकल न होता हुआ मैं इन देवोंकी पूजा करूंगा। इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनुष्य प्रयत्न करके अपना शरीर सुदृढ बनावे और अनेक पुरुषार्थ करनेका उत्साह मनमें स्थिर करे।

इन चार देवोंकी अन्नादिसे तथा घी आदिसे तृप्ति करनी चाहिए। जिसका जो हवन है उसीके अनुकूल उसका घी भी है। अतः उस घीको यथायोग्य रीतिसे देकर उसकी तृप्ति करनी चाहिए। इस विषयमें उपेक्षा करना योग्य नहीं। न थकते हुए और न श्रांत होते हुए ये भोग प्राप्त करने और योग्य प्रमाणसे उनको स्वीकार भी करना चाहिए। अर्थात् बडी दक्षतासे जगत्का व्यवहार करना चाहिए। परन्तु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थ देवकी कृपा सम्पादन करनेका भी प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उसीकी कृपासे आनन्द, उन्नति यश आदिकी यहां प्राप्ति होती है और सद्गति भी मिल सकती है।

*

दीर्घ आयु

पूर्वोक्त प्रकार तीन मन्त्रोंका विचार करनेके पश्चात् अब चतुर्थ मन्त्र इस प्रकार हमारे सम्मुख आता है- ' इन आशा-पालोंकी सहायतासे हम तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, गाय, घोडे आदि सब सुखी हों। हमारा अभ्युदय होवे तथा हम ज्ञानी बनकर निःश्रेयसके भागी बनें और दीर्घायु बनें।' इस मन्त्रमें चार बातें कही हैं—

१ स्वस्ति- (सु+अस्ति)- सबका उत्तम अस्तित्व हो अर्थात् इस लोकका जीवन सुखपूर्वक हो।

२ सुभूतं (सु+भूति)- उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, यह उत्तम अभ्युदयका सूचक विधान है।

३ सुविदत्रं- (सु+विद्+त्र)- उत्तम ज्ञान मिले। आत्मज्ञान ही सब ज्ञानोंमें उत्तम और निःश्रेयसका हेतु है। वह हमें प्राप्त हो।

४ ज्योक्- दीर्घकालतक जीवन हो। यह तो अभ्युदय और निःश्रेयससे सहज ही प्राप्त हो सकता है।

वेदमन्त्रोंमें वारम्वार कहा है, ' ज्योक् च सूर्यं दृशेम ' अर्थात् ' दीर्घकालतक सूर्यको हम देखते रहें। ' इसका तात्पर्य ' हमारी आयु अतिदीर्घ हो ' यह है। परन्तु यहां ध्यानमें विशेषतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका सम्बन्ध सूर्यसे अवश्य ही है। जहां जहां दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपदेश वेदमें आया है, वहां वहां सूर्यका सम्बन्ध अवश्य बताया है। इसलिये जो लोग दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं, वे सूर्यके साथ आयुष्यवर्धनका सम्बन्ध है, यह बात न भूलें। ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, इस विषयमें अथर्ववेदमें अन्यत्र कहा है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
(अथर्व १।२)

' जो निश्चयसे ब्रह्मकी अमृतसे परिपूर्ण नगरीको जानता

है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके साथी अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ २९ ॥ अति वृद्धावस्थासे पूर्व उसको प्राण और चक्षु छोडते नहीं जो ब्रह्मपुरीको जानता है और जिस पुरीमें रहनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं ॥ ३० ॥

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु सुसन्तान और आरोग्यपूर्ण इंद्रियोंसे युक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है। यही भाव संक्षेपसे अपने प्रचलित सूक्तके चतुर्थ मन्त्रमें कहा है । इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस लोक एवं पर लोकमें यशस्वी होता है। यही इस सूक्तका उपदेश है।

विशेष दृष्टि

यह सूक्त केवल बाह्य दिशाएं और उनके पालकोंका ही वर्णन नहीं करता है। बाह्य दिशाओंका वर्णन इस सूक्तमें है परन्तु दिशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए 'आशा' शब्दका प्रयोग इसमें इसीलिए हुआ है कि मनुष्य अपनी आशाओं और उनकी पालक शक्तियोंको अपने अंदर अनुभव करे और उनके संयम नियमन और योग्य उपासना आदिसे अपना अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करे।

इस सूक्तका यह श्लेषालंकार बडा ही महत्त्वपूर्ण है और जो इस सूक्तको केवल बाह्य दिशाओंके लिए ही समझते हैं वे इसके महत्त्वपूर्ण उपदेशसे वंचित ही रहते हैं।

इस सूक्तका सम्बन्ध आयुष्य गण अपराजित गण आदि अनेक गणोंके विषयको अनुकूलतासे है। यह सूक्त स्वयं वास्तोष्पति गण अथवा वसु गणका है। इसलिए 'घरोंके निर्माण' के साथ इसका अपूर्व सम्बन्ध है।

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त

कांड १, सूक्त २९

(ऋषि - वसिष्ठ । देवता - अभीवर्ती मणि ।)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे । तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥
अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः । अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥
अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् । अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) जिससे इन्द्रको विजय हुई थी, (तेन अभिवर्तेन मणिना) उस विजयको प्राप्त करानेवाली मणिसे (अस्मान्) हमें (राष्ट्राय अभिवर्धय) राष्ट्रके लिये बढा ॥ १ ॥

(याः नः अरातयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नान्) वैरियोंको (अभिवृत्य) पराभूत करके (यः नः दुरस्यति) जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो (पृतन्यन्तं) सेनासे हमपर चढाई करता है उसके (अभि अभि तिष्ठ) युद्ध करनेके लिये स्थिर हो ॥ २ ॥

(सविता देवः) सूर्य देवने तथा (सोमः) चन्द्रमा देवने भी (त्वा) तुझ (अभि अभि अवीवृधत्) सब प्रकारसे बढाया है। (विश्वा भूतानि) सब भूत (त्वा अभि) तुझे बढा रहे हैं जिससे तू (अभिवर्तः असासि) शत्रुको दबानेवाला हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राष्ट्रके ज्ञानी पुरुषो ! जिस राजचिह्नरूपी मणिको धारण करके इन्द्र विजयी हुआ था उसी विजयी मणिसे हमें राष्ट्रके हितके लिये बढाइये ॥ १ ॥

जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं उनको परास्त करके लिये, तथा जो हमसे बुरा व्यवहार करते हैं और जो हमपर सेना भेजकर चढाई करते हैं उनको हरानेके लिये अपनी तैयारी करके आगे बढ ॥ २ ॥

सूर्य, चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमात्र तुझे सहायता देकर बढा रहे हैं, जिससे तू सब शत्रुओंको दबानेवाला बन गया है ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः । राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥
उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः । यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः । यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ— (अभिवर्तः) शत्रुको घेरनेवाली, (अभिभवः) शत्रुका पराभव करनेवाली, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाली यह (मणिः) मणि है। यह (सपत्नेभ्यः पराभुवे) प्रतिपक्षियोंके पराभव करनेके लिये तथा (राष्ट्राय) राष्ट्रके अभ्युदयके लिये (मह्यं बध्यतां) मुझपर बांधी जावे ॥ ४ ॥

(असौ सूर्यः उदगात्) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, (यथा) जिससे (अहं शत्रुहः) शत्रुका नाश करनेवाला तथा (सपत्नहा) प्रतिपक्षोका घात करनेवाला होकर मैं (असपत्नः असानि) शत्रुरहित होऊं ॥ ५ ॥

(यथा) जिससे (अहं) मैं (सपत्न- क्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, (वृषा) बलवान् और (विषासहिः) विजयी होकर (अभिराष्ट्रः) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्राप्त करके (एषां वीराणां) इन वीरोंका (जनस्य च) और सब लोगोंका (वि राजानि) विशेष प्रकारसे रंजन करनेवाला राजा होऊं ॥ ६ ॥

भावार्थ— शत्रुको घेरनेवाली, वैरोका पराभव करनेवाली और प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाली यह राजचिन्हरूपी मणि है। इसलिए प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये मुझपर यह मणि बांधो ॥ ४ ॥

जैसे यह सूर्य उदय हुआ है, वैसे यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि जिससे मैं शत्रुका नाश करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित होजाऊं ॥ ५ ॥

मैं प्रतिपक्षियोंका नाश करके बलवान् बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरों का और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित साधन करूं ॥ ६ ॥

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त

अभीवर्त मणि

जिस प्रकार राजाके चिन्ह राजदण्ड, छत्र, चामर आदि होते हैं, उसी प्रकारका ' अभीवर्त मणि ' भी एक राज-चिन्ह है। इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है।

देवोंका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति है। यह पुरोहित इन्द्रके शरीरपर यह अभीवर्त मणि बांधता है। अर्थात् राज पुरोहित राजाके शरीरपर यह राजचिन्हरूपी मणी बांधे। यहां सम्बन्ध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त संवादरूप है। यह संवाद इस प्रकार है। देखिए—

इस सूक्तका संवाद

राजा— हे पुरोहित ! जो अभीवर्त मणि इन्द्रके शरीरपर देव गुरु बृहस्पतिने बांधा था, वह राज्यचिन्हरूपी मणि मेरे शरीरपर आप बांधिये, जिससे मैं राष्ट्रका वर्धन करनेमें समर्थ होऊं ॥ १ ॥

पुरोहित— हे राजन् ! जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रति-पक्षी हैं तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ बुरा व्यवहार करते हैं और हमपर सैन्यसे चढाई करते हैं उन्हींको परास्त करने की तैयारी करो ॥ २ ॥

सूर्य, चन्द्र तथा सब भूत तुम्हारी सहायता कर रहे हैं, जिससे तुम शत्रुको दबा सकते हो ॥ ३ ॥

राजा- पुरोहित ! यह राजचिन्ह रूपी मणि शत्रुको घेरने, वैरीका पराभव करने और प्रतिपक्षियोंको हटानेका सामर्थ्य देनेवाली है। इसलिए विरोधियोंका पराभव और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्यमें मुझे समर्थ बनानेके लिये मुझपर यह मणि बांध दीजिए ॥ ४॥

जैसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरे सन्देशब्दोंका प्रकाश होता है, इसलिए आप ऐसा करें कि जिससे मैं शत्रुका नाश कर सकूं ॥ ५॥

मैं बलवान् बनकर प्रतिपक्षियोंको दूर करूं और विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरों का और राष्ट्रका हित करूं ॥ ६ ॥

राजा राजचिन्ह धारण करता है, उस समय पुरोहित राजासे प्रजाहितकी कुछ बातें करनेके लिये कहते हैं और राजा भी राष्ट्रहित करनेकी प्रतिज्ञा उस समय करता है। पुरोहित ब्राह्मशक्तिका और राजा क्षात्रशक्तिका प्रतिनिधि है। राष्ट्रको ब्राह्मशक्ति पुरोहितके मुखसे राजकर्तव्यका उपदेश राजाको करती है, राजगद्दीपर राजाको रखना या न रखना राष्ट्रकी ब्राह्मशक्तिके आधीन रहना चाहिये अर्थात् ब्राह्मशक्तिके आधीन क्षात्रशक्ति रहनी चाहिये। ज्ञानी लोगोंपर शूरोंकी हुकुमत न रहे, अपितु शूर ज्ञानी लोगोंके आधीन कार्य करें। राष्ट्रकी (Civil and military) ब्राह्म तथा क्षात्रशक्ति एक दूसरेके साथ किस तरहका बर्ताव करे, यह इस सूक्तमें स्पष्ट किया है। ब्राह्मशक्ति द्वारा सम्मत हुआ राजा ही राजगद्दीपर आसकता है अन्य नहीं।

राजाके गुण

इस सूक्तमें राजाके गुण बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय- हमारी शक्ति राष्ट्रकी उन्नतिके लिये बढे अर्थात् राजाके अंदर जो शक्ति बढती है, वह राष्ट्रकी उन्नतिके कार्यमें ही लगे, यही भाव राजाके अन्दर रहे। अपनी बढी हुई तन, मन, धन आदि सब शक्ति अपने भोगके लिये नहीं है, प्रत्युत राष्ट्रकी भलाईके लिये ही है, यह जिस राजाका निश्चय होगा वही सच्चा राजा कहा जासकता है। (मं. १)

२ राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे -राष्ट्रकी उन्नति और वैरियोंका पराभव करनेके लिये राजचिन्ह रूप मणि मेरे (राजाके) शरीरपर बांधी जावे। मणि आदि रत्न तथा अन्य राजचिन्ह जो राजा धारण करता है वह अपनी शोभा बढानेके लिए नहीं है, प्रत्युत वे केवल दो ही उद्देश्यके लिए हैं- (१) राष्ट्रकी उन्नति हो और (२) अन्तःके शत्रु दूर किये जाय। राजाके अन्दर यह शक्ति उत्पन्न करनेके लिये ही उसपर राजचिन्ह बांधे जाते हैं। (मं. ४)

३ अभिराष्ट्रः- (अभितं राष्ट्रं यस्य)- जिसके चारों ओर राष्ट्र है, ऐसा राजा हो। अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे, राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे। राजाका हित राष्ट्रहितमें ही निहित हो और राष्ट्रका हित राजहित हो, अर्थात् दोनोंके हितोंमें फरक न रहे। राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो। राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने सामने रखनेवाले राजाका बोध इस शब्दसे होता है। जिस राजाके लिये अपनी जान देनेके लिये राष्ट्र तैयार होता है उस राजाका यह नाम है। यह शब्द आदर्श राजाका वाचक है। (मं. ६)

४ शत्रुहः- शत्रुका नाश करनेवाला।

५ असपत्नः- अन्दरके प्रतिपक्षी या विरोधी जिसके न हों। (म. ५)

६ सपत्न-हा- प्रतिपक्षीका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेवाला। (मं. ५) ' सपत्नक्षयणः ' यह शब्द भी इसी अर्थमें (मं. ६ में) आया है।

७ वृषा- बलवान्। सब प्रकारके बलोंसे युक्त राजाको होना चाहिये, अन्यथा वह परास्त हो जायगा। (मं. ६)

८ विषासहिः- शत्रुके हमले होनेपर उनका मुकाबला करते हुए अपने स्थानसे पीछे न हटनेवाला (मं. ६)

९ वीराणां जनस्य च विराजानि- राष्ट्रके शूरोंऔर तथा राष्ट्रकी सम्पूर्ण जनता इन सबको सन्तुष्ट करनेवाला। (मं. ६)

१० प्रतिपक्षियोंको दबाना, वैरियोंका नाश करना, सेना के साथ चढाई करनेवालेका प्रतिकार करना और जो दुष्ट व्यवहार करता है उसको ठीक करना आदि राजाके कर्तव्य (मं. २ में) कहे हैं।

ये दस कर्तव्य राजाके इस सूक्तमें कहे हैं, ये सब मनन करने योग्य हैं। ये सब कर्तव्य यही भाव बता रहे हैं कि राजा अपने भोगके लिए राजगद्दीपर नहीं आता है, प्रत्युत राष्ट्रका हित करनेके लिए आता है।

राजचिन्ह

छत्र, चामर, राजदण्ड, मणि, रत्न, रत्नमाला, मुकुट, विशेष वस्त्रोंसे राजसभाका ठाठ, हाथी, घोडे आदि सब जो राजचिन्ह समझे जाते हैं, इन चिन्होंके धारण करनेसे

जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पडता है और उस प्रभावके कारण राजाके इर्दगिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिन्हमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिन्ह धारण करनेवाले साधारण सिपाहीमें भी अन्य सामान्य जनोंकी अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है; इसी प्रकार उक्त चिन्होंके कारण अमूर्त राजशासनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पडता है, जिस कारण राजा शक्तियोंका केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिन्होंसे और सम्पूर्ण ठाठसे राजा जाता है, उस समय उसका बडाभारी प्रभाव सामान्य जनतापर पडता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है। इस सूक्तके चतुर्थ मन्त्रमें 'यह मणि ही शत्रुनाश करनेवाला, प्रभाव बढानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है' इत्यादि कहा है, उसका सार उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। सिपाहीकी शक्ति उसके चिन्होंसे ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक भावनासे ही उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण राज चिन्होंकी शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है। अस्तु, अब शत्रुके लक्षण देखिए--

शत्रुके लक्षण

इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है--

१ यः दुरस्यति- जो दुष्ट व्यवहार करता है। (मं. २)

२ सपत्नः- भिन्न पक्षका मनुष्य। राष्ट्रमें जितने पक्ष होंगे, उतने पक्षवाले आपसमें सपत्न होंगे। सपत्न शब्द (Party Politics) पक्षभेदका राजकारण बता रहा है।

३ अरातिः- अनुदार, जो मनमें श्रेष्ठभाव नहीं रखता।

४ पृतन्यन्- सैन्यसे चढाई करनेवाला।

इन शब्दोंके विचारसे शत्रुका पता लग सकता है। इनमें कई अन्दरके शत्रु हैं और कई बाहरके हैं।

सबकी सहायता

तृतीय मन्त्रमें कहा है कि, 'सूर्य, चन्द्र और सब भूत-मात्र जिस राजाके सहायक होते हैं, वह शत्रुको पराजित करता है।' (मं. ३) इसमें सूर्य, चन्द्र आदि शब्द बाह्य सृष्टिकी सहायता बता रहे हैं, निसर्गकी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्त्वपूर्ण भाग है राष्ट्रकी रचना ही ऐसी हो कि जहां शत्रुका प्रवेश सुगमतासे न हो सके। यह एक शक्ति ही है।

दूसरी शक्ति (विश्वा भूतानि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है। पंचमहाभूतोंसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे ज्ञात हो सकती है। 'भूत' शब्दका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ 'प्राणी, मनुष्य' ऐसा होता है। जिस राजाके राष्ट्रके सभी प्राणी और सब मनुष्य सहायक हों, उनकी शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या सन्देह है? यही सब जनताकी शुभ इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिए, क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलंबित है।

केवल राष्ट्रके लिये

इस सूक्तके अन्दर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहां विचार करना आवश्यक है। इससे पाठकोंको इस बात-का भी पता लग जायगा कि विशेष उपदेशोंसे भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त हो सकते हैं। देखिए प्रथम मन्त्रमें कहा है--

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय। (मं १)

इसका अर्थ- 'हमें राष्ट्रके लिये बढाओ' अर्थात् हमारी उन्नति इसलिए करो कि हम राष्ट्रहित साधन करनेके योग्य बनें। हमारा शरीर सुदृढ हो, हमारी आयु दीर्घ हो, हमारे इन्द्रिय अधिक कार्यक्षम बनें, हमारा मन मननशक्तिसे युक्त हो, हमारी बुद्धि ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आत्मिक बल बढे, तथा हमारी कौटुंबिक, सामाजिक तथा अन्यान्य शक्ति-यां बढें। ये सब शक्तियां इसलिए बढें कि इनके योगसे हमारा राष्ट्र अभ्युदयसे युक्त हो। इन शक्तियोंकी वृद्धि इस लिए नहीं करनी है कि इनसे केवल व्यक्तिका ही सुख बढे, केवल एक जातिके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलके पास अधिकार हो जाय; अपितु ये शक्तियां इसलिए बढानी चाहियें कि इनके संयोगसे राष्ट्रको प्रगति हो, राष्ट्र-की उच्चता हो।

सामान्य अर्थ देखनेके समय इस प्रथम मन्त्रका 'अस्मान्' शब्द बडा महत्त्व रखता है। इसका अर्थ होता है, 'हम सबको' अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हितके लिये वृद्धि-गत करो। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एककी ही उन्नति या किसी एककी शक्तिका विकास ही यहां अपे-क्षित नहीं, अपितु सबकी शक्तिका विकास यहां अपेक्षित है। राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रजाजनोंकी शक्तिका विकास करना है वह हरएक प्रजाजनका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए करना चाहिए। अर्थात् जातिविशिष्ट या संघ-विशिष्ट पक्षपातके लिये यहां कोई स्थान रहना नहीं चाहिये।

जो मैं करता हूं वह राष्ट्रके लिए समर्पित हो यही भाव हरएकके मनमें रहना चाहिये ।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां ।
सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ (मं. ४)

'मुझे राष्ट्रके लिये बांध, ताकि मैं राष्ट्रके शत्रुओंका पराभव कर सकूं ।' यह भाव मनमें धारण करना चाहिये । मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊं, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा सम्बन्ध जुड जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक ही बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जीवित रहूं इत्यादि प्रकारके भाव उक्त मन्त्रमें हैं । जो जिनके साथ बांधा जाता है वह उसीके साथ रहता है । यदि स्वराष्ट्राभिमानसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एकबार अच्छीप्रकार बंध जाय तो वह वहांसे नहीं हट सकेगा । इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांधे जांय और ऐसा परस्पर सम्बन्ध जुडनेके कारण राष्ट्रमें अपूर्व संघ शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदको अभीष्ट है ।

हरएक मनुष्य 'अभिराष्ट्र' (मं. ६) बने अर्थात् राष्ट्र हित करनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे । वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके सन्मुख अपने राष्ट्रके अभ्युदयका विचार जाग्रत रहे । इस प्रकार जिसके मनके सामने राष्ट्रका विचार सदा जाग्रत रहता है, उसीको वेद 'अभिराष्ट्र' कहता है (अभितः राष्ट्रं) अपने चारों ओर राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने संमुख अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है ।

'राष्ट्र' का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनताका वाचक वेदमें नहीं है । केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्य समाजका बोध 'राष्ट्र' शब्दसे वेदमें नहीं होता है । इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परन्तु वेद जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र अल्प ही होंगे । वेदमें 'राष्ट्र' शब्द (राजते इत् राष्ट्रं) जो चमकता है, वह राष्ट्र है, इस अर्थका बोधक है । जो मनुष्योंका समुदाय भूमंडल पर अपने कमाये यशसे चमकता है और सब अन्य लोगोंका ध्यान अपनी ओर खींच सकता है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है । अन्य मानवी समुदाय राष्ट्र नहीं हैं । इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बडा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा । परंतु जो विस्तारसे अति प्रचंड हो, परंतु यशकी दृष्टिसे जिसमें चमक न हो वह राष्ट्र नहीं होगा । वैदिक धर्मियोंको अपने परिश्रमसे अपने राष्ट्रमें इस प्रकारका तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, तभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा । वेदमें राष्ट्रवर्धन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है, ।



संरक्षक कर

कांड ३, सूक्त २९

(ऋषिः – उद्दालकः । देवता – शितिपाद्, अविः, काम, भूमिः ।)

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा ॥ १ ॥

अर्थ– (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियम से चलनेवाले राजाके ये सभासद (इष्टापूर्तस्य यत् षोडशं विभजन्ते) अन्नादिका जो सोलहवां भाग विभक्त करते हैं । वह (दत्तः) दिया हुआ भाग (अविः) रक्षक बनकर (शिति-पात्) हिंसकोंको गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ॥ १ ॥

भावार्थ– नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजसभाके सभासद वस्तुतः सच्चे राजा ही हैं । ये प्रजाके अन्न आदि प्राप्तिका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं । राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले जो होते हैं उनको दण्ड देकर दबाता है, प्रजाकी धारण शक्ति बढाता है और उनको भयसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन् । आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥
यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥
इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् । देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ— यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकूति- प्रः) संकल्पोंको पूर्ण करनेवाला, (शिति-पात्) हिंसकोंको दबानेवाला, (अविः) संरक्षण करनेवाला, (आ-भवन्) राष्ट्रको फैलानेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्) अस्तित्वका का कारण बनता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

(यः लोकेन संमितं) जो जन लोगोंके द्वारा सम्मानित (शिति-पादं अविं ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है, (सः नाकं अभ्येति) वह उस दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते) जहां निर्बल मनुष्यको बलवान्के लिये धन देना नहीं पडता है ॥ ३ ॥

(पञ्च-अ पूप) पांचोंको नष्ट न करनेवाले, अत एव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(पञ्च अ-पूपं) पांचोंको नष्ट न करनेवाले (लोकेन संमित) जनता द्वारा संमानित (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-मासयोः अक्षित उपजीवति) सूर्य और चन्द्रके सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

(इरा इव) भूमिके समान तथा (महत् पयः समुद्रः इव) बडे जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवौ इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (शितिपात् न उपदस्यति) हिंसकको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सज्जनोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है, और जातिका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपालन करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें निर्बलसे जबर्दस्तीसे धन लेनेवाला कोई बलवान् मनुष्य नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्तिहीनताके कारण बलवान्के लिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिए सब लोग आनंदसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते ॥ ७ ॥
भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् । माहं मा प्राणेन मात्मना प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥८॥

अर्थ— (इदं कः कस्मै अदात्) यह किसने किसको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है । (कामः दाता) काम ही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) काम ही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तुझे स्वीकार करता हूं । हे काम ! (एतत् ते) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बडा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णातु) तुझे स्वीकार करे । (अहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन, आत्मना, प्रजया) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिषि) अलग न होजाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ— भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बडी बडी आपत्तियां स्वयं सिर पर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥ ८ ॥



संरक्षक कर

राज्य-शासन चलानेके लिये कर

राजा राज्यका शासन करता है । इस महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको ' कर ' समर्पण करती है । इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कौनसा भाग राजाको समर्पित करे और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें किया है ।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग

प्रजाकी जो आमदनी होती है, उसका सोलहवां भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके सभासद् अलग करते हैं, यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

यमी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥
(मं. १)

' राजसभाके ये सभासद् प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं । ' और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है । यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये । खेतीसे जो धान्य उत्पन्न हो उसका सोलहवां भाग राजाकी ग्रामसभाके सभासद् लेकर उसका संग्रह करें । जो उत्पन्न हो उसका सोलहवां भाग लेना है । अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जावे । धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न हो, उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है । जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता, उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जावे तथा जो वैश्य धन कमाते हों, उनसे उनकी कमाईका यह भाग धनके रूपमें लिया जावे । कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी असह्य नहीं हो सकता ।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठा भाग लेनेका विधान है । इसप्रकार करकी वृद्धि हुई है और आजकल तो कई गुना वृद्धि हुई है । इस मंत्रमें ' विभजन्ते ' क्रिया वर्तमान कालकी है । राजसभाके सभासद् स्वयं उत्पन्न देख कर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशिके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राज्यप्रबंधके लिये ले लेते हैं । केवल अदाजासे नहीं लेते,

अपितु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक ' अमी सभासदः विभजन्ते ' इस वाक्यसे प्राप्त होता है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आजकलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते।

प्राप्तिके दो साधन

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक ' इष्ट ' और दूसरा ' पूर्त '। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको ' इष्ट ' कहते हैं, इसमें उद्योग धंदे शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी सत्ता निर्भर है। दूसरा है ' पूर्त '। इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागमें फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए पशुओंसे फल प्राप्त होना इ०। पूर्वजोंसे चली आई व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह ' पूर्त ' है, क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोशकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहार वैसा नहीं है, उसमें तो इच्छापूर्वक काम करके सफलता होनेपर ही प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल ' इष्ट ' का अर्थ ' यज्ञयाग ' और ' पूर्त ' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कूप तालाब धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक ही भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं हैं। इस सूक्तमें ' प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग कर रूपमें लिया जाता है ' ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें ' यज्ञ और कुंवे ' का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसी लिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है। यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंगमें प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा, उसका कुछ भाग राजाके यश संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता, अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यहां लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्तिका सोलहवां भाग राजाके सभासद् राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये—

राजा कैसा हो

इस सूक्तमें राजाका नाम ' यम ' आया है। यमका अर्थ ' ' स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला ' है। ' यम-धर्म ' इस शब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्म नियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा ही यहां इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहांका राजा मनमानी करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है। वस्तुतः इसके राज्यमें—

अमी सभासदः राजानः। (मं १)

' राजसभाके ये सभासद् ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं। ' राजा तो नाम मात्रका अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्यशासन चलता रहता है। वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है। इस राजाकी राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्य शासनके व्ययके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं और इसका उपयोग भी प्रजाकी उन्नतिके कार्योंमें ही करते हैं। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका उपयोग राजाको कैसे करना चाहिए—

करका उपयोग

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन कार्योंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। ' यह कर निम्न लिखित कार्य करता है, ' ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजा द्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित कार्य करता है—

(१) अविः- (अवति इति अविः)- रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा करता है। (मं १, ३-५)

(२) स्वधा- (स्वस्य धारणा)- अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा - शक्ति करती

*

बढती है। कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है (मं १)

(३) पञ्चापूपः- (पञ्च+अ+पूपः पूयते विशीर्यते इति पूपः। न पूप अपूपः। पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः) - जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे रहते हैं उसका नाम ' पूप ' है। तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको ' अ-पूप ' कहते हैं। पञ्चजनोंको संघटित करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पाचों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका अभेद्य संघ होता है। राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है।

(मं ४, ५)

(४) भवन्- होना, अस्तित्व रखना। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्योंमें उसका विनियोग करता है, कि जिससे प्रजाका अस्तित्त्व चिरकालतक रहता है। (मं. २)

(५) भामघन्- धन ऐश्वर्य संपन्न होना। राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तियुक्त होती जाय। (मं. २)

(६) प्रभवन्- प्रभावशाली। प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सामर्थ्यवान्, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं. २)

(७) आकूतिप्रः- (आकूतिः) संकल्पोंको (प्र) पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिससे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखण्डित उन्नति होती रहती है।

(मं २)

(८) सर्वान् कामान् पूरयाति- प्रजाकी संपूर्ण उन्नतिकी कामनाएं सफल और सुफल होती हैं। किसीप्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होतीं। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों। (मं. २)

(९) यो...ददाति स नाकं अभ्येति- जो (कर) देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने देशमें सुखी रहते हैं। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है कि सब प्रजा सुखी होती है। (मं. ३)

(१०) प्रदाता पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति- कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें चिरकालतक आनंदसे रहते हैं। राजा प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें। (मं ४)

(११) प्रदाता सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति - कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्ये) दिनमें वैसे (मास-चंद्रमाः) रात्रिके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्य - शासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रिके समयमें भी सुरक्षित होवे। (मं ५)

(१२) इरा इव न उपदस्यति- कर देनेवाली प्रजा पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका नाश कोई नहीं कर सकता। (मं. ६)

(१३) महत् पयः समुद्र इव न उपदस्याति- कर देनेवाली प्रजा बडे जलसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गंभीर और प्रशांत रहती है। छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त होती। (मं ६)

(१४) सवासिनौ देवौ इव न उपदस्यति- साथ साथ रहनेवाले दो देव श्वास और उच्छ्वासके समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है (मं. ६)

(१५) तस्मात् प्रमुञ्चति- उस महाभयसे मुक्त करता है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महाभयसे बचाता है।

(मं १)

(१६) शिति-पाद्- (शीयते इति शितिः हिंसनं, शितिं पातयति) ' शिति ' का अर्थ है नाश, उन नाशका पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता है, उसको ' शिति-पाद् ' कहते हैं। यह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है। (मं. १-६)

(१७) अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते- निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं ३)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करनी चाहिये। यहां ऊपर दिये हुए ये सत्रह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुन संक्षेपसे यहां देते हैं--

"(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब

प्रकारकी धारणाशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघशक्ति बढानेमें, इन सबको संघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्य संपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें, (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संग्रहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रिमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें, ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान् मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबंध संपूर्ण राज्यभरमें करनेके कार्यमें करें।'

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है। पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है। जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा, वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा।

स्वर्गसदृश राज्य

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धन उपभोग प्रजाके बंधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये—

१ स नाकं अभ्येति।

२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे। (म ३)

'(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पहुंचते हैं, (२) जहां निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता।' यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है। जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता वह स्वर्गधाम है और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है। 'नर-क' का अर्थ 'हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीची श्रेणीका मनुष्य' है। जिस राज्यमें हीनभावना-वाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावना-वाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल और निषादों-का केवल शारीरिक बल होता है। ये लोग स्वार्थी होकर इन बलोंसे मदोन्मत्त होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं। ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, राज्य व्यवस्थाका ऐसा प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है। जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। यही 'वैदिक राज्य' है।

कामनाका प्रभाव

पूर्वोक्त प्रकारकी राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंके सुधार करनेके यत्न करना, यह सब मनुष्यकी कामना, इच्छा, संकल्प, आकांक्षा आदि पर निर्भर है। मनुष्यमें जैसी इच्छा होती है वैसा वह चलता है और वैसा ही व्यवहार करता है। यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है। इसका पहला ही प्रश्नोत्तर देखिये—

प्रश्न– इदं कः कस्मै अदात्?– यह कौन किसको देता है?

उत्तर– कामः कामाय अदात्– काम ही कामके लिये देता है।

काम दाता, काम प्रतिग्रहीता– काम ही देने और लेनेवाला है।

ये मंत्रभाग बडे महत्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो, यह काम ही सबमें ये व्यवहार करा रहा है यहांतक कि—

कामः समुद्रं आविवेश। (म ७)

'काम ही समुद्रमें घुसा है।' अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामका ही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य समुद्रमें

जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाता है वह भी कामकी ही प्रेरणासे ही जाता है। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडता है वह भी कामकी प्रेरणासे ही उडता है। इस प्रकार इस जगत्‌का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे ही हो रहा है। ' भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है।' (मं. ८) सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं।

कामः ! एतत् ते। (मं. ७)

' हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है ' तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामको स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसीप्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं. तात्पर्य कामका सर्वतोपरि शासन है।

कामकी मर्यादा

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर सप्तम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्र भागमें किस सीमातक कामका उपभोग करना चाहिए, इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है—

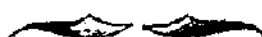
प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (मं. ८)

' काम ! तुझे स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं, मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं और मैं अपने प्रजननको भी हीन न बना दूं।' यहांतक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है। काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेंद्रियके साथ संबंध रखता है। इस इंद्रियसे ज्यादा उपभोग करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून हो जाती है और ऐसे कामी पुरुषकी जो भी सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होती हैं। इस प्रकारकी आपत्ति न आए इसलिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयमकी मर्यादा यह कि ' उस मर्यादा तक कामका उपभोग लिया जावे कि जहांतक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है।'

यद्यपि हमने यहां एक ही इन्द्रियको लक्ष्य करके संयमकी महत्ता बताई है, पर अन्य इन्द्रियोंपर भी यही नियम लागू होता है। अन्य इन्द्रियोंका संयम भी उतना ही आवश्यक है, जितना जननेन्द्रियका।

कामका यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्‌में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाके उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करे कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम रीतिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसीलिये (लोकेन संमितं। मं. ४, ५) ' प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर ' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहांकी प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करनेवाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शोंसे चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्यके वैदिक आदर्शोंसे दूर न रहे।



दुष्टोंका नाश

कांड ८, सूक्त ३

(ऋषिः - चातनः । देवता - अग्निः ।)

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥
अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥ २ ॥
उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३ ॥
अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (रक्षो-हणं वाजिनं प्रथिष्ठं मित्रं आ जिघर्मि) राक्षसोंका नाश करनेवाले बलवान् प्रसिद्ध मित्रको मैं प्रकाशित करता हूं और उससे (शर्म उपयामि) सुख प्राप्त करता हूं । (सः क्रतुभिः समिद्धः) वह यज्ञोंसे प्रदीप्त हुआ (शिशानः अग्निः) तीक्ष्ण अग्नि (नः दिवा नक्तं रिषः पातु) हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद अग्ने ! (समिद्धः अयोदंष्ट्रः) प्रदीप्त होकर लोहेकी दाढोंसे युक्त होकर (अर्चिषा यातु-धानान् उपस्पृश) अपने प्रकाशसे यातना देनेवालोंको जला । तथा (मूरदेवान् जिह्वया आरभस्व) मूढविनोदोंको अपनी जिव्हारूप ज्वालासे ठीक करना आरंभ कर । (वृष्ट्वा) बलयुक्त होकर (क्रव्यादः आसन् अपि धत्स्व) मांस खानेवाले हिंसकोंको अपने मुखमें डाल ॥ २ ॥

हे (उभयाविन् अग्ने) दोनोंको जाननेवाले अग्ने ! तू (हिंस्रः शिशानः) शत्रुओंकी हिंसा करनेवाला होकर और तीक्ष्ण बन कर (अवरं परं च उभौ) निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकारके शत्रुओंको अपने (दंष्ट्रौ उपधेहि) दाढोंमें रख, (उत अन्तरिक्षे परियाहि) और अन्तरिक्षमें तू संचार कर और वहांसे (जम्भैः यातु-धानान् अभि-संधेहि) अपने जबडोंसे यातना देनेवाले शत्रुओंपर चढाई कर ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (यातुधानस्य त्वचं भिन्धि) कष्ट देनेवालेकी त्वचाको छिन्नभिन्न कर । (हिंस्र-अशनिः हरसा एनं हन्तु) हिंसक विद्युत् वेगसे इसका नाश करे । हे (जातवेदः) जातवेद ! शत्रुके (पर्वाणि शृणीहि) पर्वोंको काट । (क्रविष्णुः क्रव्यात् एनं विचिनोतु) मांसभक्षक क्रूर प्राणी इस दुष्टको पकड पकड कर खा जाय ॥ ४ ॥

भावार्थ— दुष्टोंका नाश करनेवाला बलवान् प्रसिद्ध हितकर्ता सदा प्रशंसनीय है । इससे सुख प्राप्त होता है । वह उत्तम प्रशस्त कर्म करनेवाला, तीक्ष्ण अथवा उग्र प्रयत्न करके हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावे ॥ १ ॥

ज्ञानी अपने तेजसे दुष्टोंको निर्बल करे, मूढोंको अपने जिव्हाके उपदेशोंसे सुधारे । मांसभक्षक क्रूरोंको क्रूरतासे निवृत्त करे ॥ २ ॥

दोनोंको जाननेवाला देव बलवान् और निर्बल हिंसकोंको अपने काबूमें रखे । सब स्थानपर संचार करके कष्ट देनेवाले दुष्टोंको दबावे ॥ ३ ॥

दुष्टोंको पीट कर उनकी चमडीको छिन्नभिन्न कर दे । बिजलीके आघातसे दुष्टोंका नाश हो । दुष्टोंके जोडोंको काट दे । मांसभक्षक हिंसक और क्रूरको पकड पकडकर नष्ट कर दे ॥ ४ ॥

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥
यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥
उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥
इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥
तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे (जातवेदः) ज्ञानी अग्ने ! तू (यत्र इदानीं) जहां अब (तिष्ठन्तं चरन्तं उत अन्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं पश्यसि) खडे हुए, भ्रमण करनेवाले और अन्तरिक्षमें संचार करनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको देखता है, वहां (शिशानः अस्ता शर्वा) तीक्ष्ण शस्त्र फेंकनेवाला शत्रुहिंसक तू (तं विध्य) उस शत्रुका वेध कर ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (यज्ञैः) सत्कर्मोंद्वारा बढता हुआ (इषूः संनममानः) अपने बाणोंको ठीक करके (वाचा) वाणीसे उपदेश करता हुआ (शल्यान् अशनीभिः दिहानः) शल्योंको बिजलीसे तीक्ष्ण करता हुआ (ताभिः प्रतीचः यातुधानान् हृदये विध्य) उनसे शत्रुके संमुख होकर उन दुष्टोंके हृदयको वेध करके (एषां बाहून प्रति भंग्धि) इनके बाहुओंको तोड डाल ॥ ६ ॥

हे जातवेद ! (उत आरब्धान् उत आरेभाणान्) सत्कार्यका आरंभ करनेवाले और किये हुए लोगोंको (ऋष्टिभिः स्पृणुहि) शस्त्रोंसे सुरक्षित रख । हे अग्ने ! (यातुधानान् पूर्वः शोशुचानः निजहि) दुष्टोंको सबसे प्रथम प्रकाशित होकर नष्ट कर । (आमादः एनीः क्ष्विंकाः एनं अदन्तु) मांसखानेवाले लाल पक्षी इनको खा जावें ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! (यः यातुधानः इदं कृणोति) जो दुष्ट यह दुष्ट कार्य करता है (यतमः सः इह प्रब्रूहि) वह कौन है, यह यहां कह दे । (तं आरभस्व) उसको दण्ड देना आरंभ कर । (तं समिधा आरभस्व) उसको लकडियोंसे जलाना आरंभ कर । (नृचक्षसः चक्षुषे एनं रन्धय) मनुष्योंके हितकी दृष्टिसे इस दुष्टका नाश कर ॥ ८ ॥

हे अग्ने ! (तीक्ष्णेन चक्षुषा प्राञ्चं यज्ञं रक्ष) तू अपने तीक्ष्ण आंखसे श्रेष्ठ यज्ञकी रक्षा कर । हे (प्र-चेतः) ज्ञानी ! तू (वसुभ्यः प्रणय) वसुओंके लिये उसको ले जा । (नृ-चक्षः) लोगोंके निरीक्षक ! (हिंस्रं रक्षांसि अभि शोशुचानं) हिंसकको और राक्षसोंको तपानेवाले (त्वा) तुझको (यातुधाना मा दभन्) यातना देनेवाले न दबावें ॥ ९ ॥

भावार्थ— जहां कष्ट देनेवाले हिंसक दुष्ट हों वहां उनको दबा दिया जावे ॥ ५ ॥

सत्कर्मोंसे बढ, अपने शस्त्रास्त्र तैयार रख, वाणीसे उत्तम उपदेश कर, अपने शस्त्रोंको बिजलीसे तीक्ष्ण कर और उनसे शत्रुओंके हृदयोंका वेध कर, तथा उनके बाहुका छेदन कर ॥ ६ ॥

शुभ कर्म करनेवालोंकी रक्षा अपने शस्त्रोंसे कर । दुष्टोंका नाश कर । मांस खानेवाले पक्षी दुष्टोंका मांस खावें ॥ ७ ॥

जो दुष्ट हैं उनकी दुष्टता यहां कह, उनको दण्ड दे, जनताका हित करनेकी दृष्टिसे उनका नाश कर ॥ ८ ॥

अपनी दृष्टिसे-शक्तिसे-सत्कर्मका संरक्षण कर और निवासकोंकी ओर उसे ले चल । हिंसकोंको अपने तेजसे दूर कर और ऐसा कर कि दुष्ट तुझे न दबावें ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥
त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥ ११ ॥
यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥ १२ ॥
परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

अर्थ — हे अग्ने ! तू (नृ-चक्षाः विक्षु रक्षः परिपश्य) मनुष्योंका निरीक्षण करते हुए सब दिशाओंमें राक्षसोंको देख । (तस्य त्रीणि अग्रा प्रति शृणीहि) उसके तीनों अग्रभागोंका नाश कर । (तस्य पृष्टीः हरसा शृणीहि) उसकी पसलियोंको अपने बलसे तोड ! (यातुधानस्य मूलं त्रेधा वृश्च) यातना देनेवालेकी जड तीनों प्रकारोंसे काट डाल ॥ १० ॥

हे अग्ने ! (यः अनृतेन ऋतं हन्ति) जो असत्यसे सत्यका नाश करता है, वह (यातुधानः ते प्रसितिं त्रिः एतु) दुष्ट तेरे बन्धनमें तीन प्रकारोंसे प्राप्त होवे । हे जातवेद ! (तं अर्चिषा स्फूर्जयन्) उसको अपने प्रकाशसे प्रभावित करता हुआ तू (एनं समक्षं गृणते नि युङ्ग्धि) उसको अपने सामने ईशस्तुति करनेवालेके हितके लिये प्रतिबन्धमें रख ॥ ११ ॥

हे अग्ने ! (यत् अद्य मिथुना शपातः) जो आज दोनों एक दूसरेको शाप देते हैं, (यत् रेभाः वाचः तृष्टं जनयन्त) जो आक्रोश करनेवाले वाणीकी कठोरता प्रकाशित करते हैं । (या मन्योः मनसः शरव्या जायते) जो क्रोधी मनसे शस्त्रकी पूजा करता है (तया यातुधानान् हृदये विध्य) उससे पीडकोंके हृदयोंको वेध डाल ॥ १२ ॥

(यातुधानान् तपसा परा शृणीहि) यातना देनेवालोंको अपने तपसे दूर करके नष्ट कर और हे अग्ने ! (हरसा रक्षः परा शृणीहि) अपने बलसे उन्हें दूर करके उनका नाश कर । (मूरदेवान् अर्चिषा परा शृणीहि) मूढोंको अपने तेजसे दूर करके उनका नाश कर तथा (असुतृपः शोशुचतः परा शृणीहि) दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवाले तथा शोक देनेवाले दुष्टोंको भी दूर करके उनका नाश कर ॥ १३ ॥

भावार्थ — जनताकी रक्षा करनेके लिये तू सब दिशाओंसे दुष्टोंको ढूंढ निकाल । और उनके तीनों प्रकारके प्रयत्नोंका प्रतिबंध कर । दुष्टोंकी पीठ तोड और उनकी जड उखाड दे ॥ १० ॥

जो असत्यसे सत्यको दबाता है उस दुष्टको बंधनमें डाल । अपने तेजसे उसको निःसत्व कर और ईश्वर भक्तके सन्मुख उसका प्रतिबंध कर ॥ ११ ॥

जो दुष्ट परस्परको शाप देते हैं और आक्रोश करके कठोर भाषण बोलते हैं, उनके मनके दुष्ट भावोंसे जो घातक परिणाम होता है, उससे दुष्टोंके हृदय जल जायें ॥ १२ ॥

जो दुष्ट लोगोंको कष्ट देते हैं उनको अपने तप, बल और तेजसे दूर कर और उनका नाश कर । मूढोंकी उपासना करनेवालोंको भी दूर कर । जो दूसरेके प्राण लेकर तृप्त होते हैं उनको जलाते हुए हटा दे ॥ १३ ॥

परा॑द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः ।
वा॒चास्ते॒नं शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥ १४ ॥
यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धानः॑
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒साऽपि॑ वृश्च ॥ १५ ॥
वि॒षं गवां॑ यातु॒धाना॑ भरन्ता॒मा वृ॑श्चन्ता॒मदि॑तये दु॒रेवाः॑ ।
परै॑णान्दे॒वः स॑वि॒ता द॑दातु॒ परा॑ भा॒गमोष॑धीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥
सं॒व॒त्स॒रीणं॒ पय॑ उ॒स्रिया॑या॒स्तस्य॒ माशी॑द्यातु॒धानो॑ नृचक्षः ।
पी॒यूष॑मग्ने यत॒मस्तितृ॑प्सा॒त्तं प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ विध्य॒ मर्म॑णि ॥ १७ ॥
स॒नाद॑ग्ने मृणसि यातु॒धाना॒न्न त्वा॒ रक्षां॑सि॒ पृत॑नासु जिग्युः ।
स॒हमू॑रा॒ननु॑ दह क्र॒व्यादो॒ मा ते॑ हे॒त्या मु॑क्षत॒ दैव्या॑याः ॥ १८ ॥

अर्थ— (देवाः अद्य वृजिनं परा शृणन्तु) देव आज पाप करनेवाले पापीको दूर करें। (सृष्टाः शपथाः एनं प्रत्यक् यन्तु) भेजी हुई गालियां उसके प्रति वापस जांय। (वाचा स्तेनं मर्मन् शरवः ऋच्छन्तु) वाणीके चोरके मर्मको शस्त्र काटें। (यातुधानः विश्वस्य प्रसितिं एतु) यातना देनेवाला दुष्ट सबके बन्धनमें जाय ॥ १४ ॥

(यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते) जो मनुष्यके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है और (यः यातुधानः अश्व्येन पशुना) जो दुष्ट अश्व आदि पशुके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है, हे अग्ने ! (यः अघ्न्यायाः क्षीरं भरति) जो गायका दूध चुरा कर ले जाता है (तेषां शीर्षाणि हरसा अपि वृश्च) उनके सिरोंको अपने बलसे तोड डाल ॥ १५ ॥

(यातुधानाः गवां विषं भरन्तां) जो दुष्ट गौओंको विष देते हैं और (दुरेवाः अदितये आवृश्चन्तां) जो दुष्ट गौको काटते हैं, (सविता देवः एनान् परा ददातु) सविता देव इनको दूर हटावे (ओषधीनां भागं परा जयन्तां) इनको औषधियोंका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

हे (नृ-चक्षः) मनुष्योंके निरीक्षक ! (उस्रियायाः संवत्सरीणं पयः) गायका वर्षभर प्राप्त होनेवाला जो दूध है (तस्य यातुधानः मा आशीत्) उसका पान यातना देनेवाला दुष्ट न करे। हे अग्ने ! (यतमः पीयूषं तितृप्सात्) उनमेंसे जो दुष्ट दूधरूपी अमृतको पीयेगा, (तं प्रत्यञ्चं अर्चिषा मर्मणि विध्य) उसको सबके संमुख अपने तेजसे मर्मस्थानमें वेध डाल ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! तू (यातुधानान् सनात् मृणसि) यातना देनेवाले दुष्टोंका सदा नाश करता है। (रक्षांसि त्वा पृतनासु न जिग्युः) राक्षस तुझे युद्धोंमें नहीं जीत सकते। (सहमूरान् क्रव्यादः अनुदह) मूढोंके साथ मांस भक्षकोंको जला दे। (ते दैव्यायाः हेत्याः) वे तेरे दिव्य शस्त्रास्त्रसे (मा मुक्षत) छूट न जांय ॥ १८ ॥

भावार्थ— पापी मनुष्योंको और पापको दूर किया जाय, दी हुई गालियां देनेवालेके पास वापस जांय। वाणीसे चोरी करनेवालेके मर्मस्थान शस्त्रोंसे काटे जांय। जनताको यातना देनेवालेको प्रतिबंधमें रखा जाए ॥ १४ ॥

मनुष्य और घोडे आदि पशुका मांस खा कर जो दुष्ट अपना शरीर पुष्ट करता है और गायका दूध चोरी करके पीता है उसका सिर काट दे ॥ १५ ॥

जो दुष्ट मनुष्य गौको विष देते हैं और गौ काटते हैं, उनको समाजसे हटाया जावे और उनको धान्यादिका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

हे मनुष्योंका हित करनेवाले ! गायका दूध दुष्ट मनुष्य न पीवे। जो दुष्ट चुराकर पीयेगा उसको शारीरिक दण्ड दिया जावे ॥ १७ ॥

तू सदा दुष्टोंका नाश करता है, तुझे राक्षस पराभूत नहीं कर सकते। तू मांसभक्षक क्रूरोंको जला, तेरे शस्त्रसे वे दुष्ट न छूटें ॥ १८ ॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥
पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥ २० ॥
तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ २१ ॥
परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि । धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥
विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि । अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिरर्चिभिः ॥ २३ ॥
वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे ॥ २४ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (त्वं नः अधरात् उदक्तः पश्चात् उत पुरस्तात् रक्ष) तू हमारी नीचे ऊपर पीछे और आगेसे रक्षा कर। (ते त्ये शोशुचतः अजरासः तपिष्ठाः) वे सब तेजस्वी, अक्षीण होकर तपानेवाले (अघशंसं प्रति दहन्तु) पापीको जला देवें ॥ १९ ॥

हे अग्ने ! तू (कविः काव्येन) कवि है अतः अपने काव्यसे (पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उत् उत्तरात् परिपाहि) पीछेसे आगेसे नीचेसे और ऊपरसे सब रीतिसे रक्षा कर। (त्वं सखा सखायं) तू मित्र है अतः मुझ जैसे मित्रकी, (अजरः जरिम्णे) तू जरारहित है अतः मुझ जराग्रस्तकी और (अमरः मर्त्यान् नः परिपाहि) तू अमर है अतः हम मरनेवालोंकी रक्षा कर॥ २० ॥

अग्ने ! (येन शफा-रुजः यातुधानान् पश्यसि) जिससे तू लातों द्वारा ठोकरें लगानेवाले दुष्टोंका निरीक्षण करता है, (तत् चक्षुः रेभे प्रतिधेहि) उस नजरको तू शोर मचानेवालेपर रख। (अथर्व-वत् दैव्येन ज्योतिषा) अहिंसक दिव्य तेजसे (सत्यं अचितं धूर्वन्तं) सत्य अचेत नाश करनेवालेको (नि ओष) जला दे ॥ २१ ॥

हे अग्ने ! हे (सहस्य) बलवन् ! (वयं) हम सब (विप्रं पुरं) ज्ञानी और पूर्णता करनेवाले, (धृषद्वर्णं) धर्षण करनेवाले और (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकोंका नाश करनेवाले, (त्वा दिवे दिवे परिधीमहि) तेरा प्रति-दिन ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

हे अग्ने ! (तिग्मेन शोचिषा) तीक्ष्ण तेजसे युक्त (तपुः अग्राभिः अर्चिभिः) तपानेवाले तेजकी दीप्तियोंसे (विषेण भंगुरावतः रक्षसः प्रति जहि स्म) विषसे नाश करनेवाले राक्षसोंका नाश कर ॥ २३ ॥

(अग्निः बृहता ज्योतिषा विभाति) अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशता है। (महित्वा विश्वानि आविः कृणुते) अपने सामर्थ्यसे सब जगत्को प्रकट करता है। (अदेवीः दुरेवाः मायाः प्रसहते) राक्षसोंके दुःखदायक कपट जालोंको जीतता है। (शृंगे रक्षोभ्यः विनिक्ष्वे शिशीते) अपने दोनों सींगोंको राक्षसोंका नाश करनेके लिये तीक्ष्ण करता है ॥२४॥

भावार्थ— तू सब ओरसे हमारी रक्षा कर। तेजस्वी लोग पापियोंको दण्ड देवें ॥ १९ ॥

तू कवि, मित्र, जरारहित और अमर है अतः तू हमारी रक्षा कर। हम तेरे मित्र बनना चाहते हैं। हम जराग्रस्त होते हैं और मृत्युसे भी ग्रस्त हैं अतः तू हमारी सहायता कर ॥ २० ॥

जो दुष्ट लातें मारकर हमारे शरीर तोडते हैं तथा जो हमारे विरुद्ध कोलाहल मचाते हैं उनको तू देख। तू अपने तेजसे हमारा नाश करनेवालेका नाश कर ॥ २१ ॥

ज्ञानी, मनोकामना पूर्ण करनेवाले, शत्रुका धर्षण करनेवाले, दुष्टोंका नाश करनेवाले तुझ बलवान् देवका हम सब प्रतिदिन ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

विष देकर जगत्में नाश करनेवाले दुष्टोंका नाश तू अपने तीक्ष्ण और उग्र तेजसे कर ॥ २३ ॥

अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशता है और अपने सामर्थ्यसे जगत्को प्रकाशित करता है। राक्षसोंके कपट जाल दूर करके उनके नाशके लिये अपने दो सींग तीक्ष्ण करता है ॥ २४ ॥

#

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व ॥ २५ ॥
अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः । शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) वेदज्ञ ! (ये ते अजरे तिग्म-हेती) जो तेरे तीक्ष्ण हथियारके समान (ब्रह्मसंशिते शृंगे) ज्ञानसे तीक्ष्ण किये हुए सींग है, हे जातवेद ! (ताभ्यां) उन दोनों सींगोंसे और (अर्चिषा) अपने तेजसे (दुर्हार्दं किमीदिनं अभिदासन्तं) दुष्ट हृदय, भूखे और दूसरेका नाश करनेवाले दुष्टका (प्रत्यञ्चं वि निक्ष्व) सामनेसे नाश कर ॥ २५ ॥

(शुक्रशोचिः अमर्त्यः) शुद्ध प्रकाशवाला अमर (शुचिः पावकः ईड्यः) पवित्र, शुद्धता करनेवाला स्तुत्य अग्नि (रक्षांसि सेधति) राक्षसोंका नाश करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— तेरे सींग तीक्ष्ण हथियार जैसे हैं और वे ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए हैं, उनसे और अपने तेजसे दुष्ट हृदयवाले घातकी शत्रुका नाश कर ॥ २५ ॥

शुद्ध, तेजस्वी, अमर, पवित्र, शुद्धता करनेवाला प्रशंसनीय अग्नि राक्षसोंका नाश करनेवाला है ॥ २६ ॥

दुष्टोंका नाश

दुष्टोंके लक्षण

इस सूक्तमें दुष्ट मनुष्योंके नाश करनेका विषय है । अतः दुष्ट कौन है इसका पहिले निश्चय करना चाहिये । अतः वेदने इस सूक्तमें दुष्टोंके लक्षण कहे हैं, देखिये—

१ दुर्हार्दः (दु + हार्दः)- दुष्ट हृदयवाला, जिसके अन्तःकरणमें दुष्ट विचार रहते हैं, जो दुष्ट भाव मनमें धारण करता है, जो हृदयमें घातपातकी कल्पनाओंको धारण करता है । (मं. २५)

२ रक्षः, राक्षसः (रक्षति)- जो रक्षण करनेका भाव प्रकट करके घात करता है । जो बाहरसे रक्षा करनेका ढोंग रखकर अन्दरसे उसीका नाश करता रहता है । (मं. ९)

३ असु-तृप्- जो दूसरोंके प्राणोंकी बलि लेकर तृप्त होता है, जो दूसरोंका नाश करके अपना स्वार्थसाधन करता है, जो दूसरोंका घात करके अपनी पुष्टि करता है । (१३)

४ धूर्वन्- जो दूसरोंका घात और नाश करता है । (२१)

५ भंगुरावत्- जो दूसरोंका सत्यानाश करता है । (२२)

६ अभिदासन्- जो दूसरोंका वध करता है, दूसरोंको बन्धनमें डालता है, दूसरोंको गुलाम बनाता है, दूसरोंको पारतंत्र्यमें रखकर स्वय अपने भोग बढाता है, जो दूसरोंको दास बनाता है । (२५)

७ हिंस्रः (३) द्रुहः (१४)- जो हिंसा करता है, घातपात करता है । दूसरोंका नाश करता है ।

८ शफा-रुज्- अपने लातोंके प्रहारोंसे जो दूसरोंको मारता है, दूसरोंके अवयव लातोंकी मारसे तोड देता है ।

९ रिपुः- हिंसक, घातपात करनेवाला, जो दूसरोंका विध्वंस करता है । (१)

१० क्रव्यात् (२), मविष्णुः, आमादः (४)- जो मांस खाता है, जो कच्चा मांस खाता है, जो रक्त पीता है, जो दूसरोंके जीवनपर जीवित रहता है ।

११ यः पौरुषेयेण क्रव्येन क्रविषा, यः पशुना समंक्ते- जो मनुष्य, अश्व और अन्यान्य पशुओंके मांससे अपना शरीर पुष्ट करता है, जो अपने देहके लिये दूसरोंके प्राण लेता है । (१५)

१२ दुरेवाः अदितये आवृश्चन्तां- जो दुष्ट गायको काटता है अथवा कटवाता है । अ-दिति अर्थात् अहिंसनीय गौका भी जो वध करता है । (१६)

१३ गवां विषं भरन्तां- गौओंको जो विष देते हैं और विषसे गौका वध करते हैं । (१६)

१४ किमीदिन्- (किं-इदानीं)- अब आज क्या खायें, कल उसका वध किया और पेट भरा, आज किसका वध करके पेटपूर्ति करें इसका जो सदा विचार करते हैं। जो कभी दूसरोंका घात किये बिना नहीं रहते। (२५)

१५ यातुधानाः (यातु+धानाः)- यातना देनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले, दूसरोंको पीडा देनेवाले। (२)

१६ दुरेवः- (दुः+एवः)- दुष्ट मार्गपर चलनेवाला, बुरे कार्यमें प्रवृत्त होकर दूसरोंको कष्ट देकर अपना सुख बढानेका प्रयत्न करनेवाला। (२४)

१७ अदेवीः मायाः- (अ-दिव्याः मायाः)- जो बुराई और कपट करते हैं, जो धोखा देकर दूसरोंको लूटते हैं, धोखेबाजीसे अपना ऐश्वर्य बढाते हैं। (२४)

१८ वृजिनः- जो पाप करता है, पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। (१४)

१९ वाचास्तेनः (वाचा+स्तेनः)- जो वाणीका चोर है, जिसका भाषण सत्य नहीं होता। जो एक बोलता है और दूसरा ही करता है, जो विश्वास करने अयोग्य है। (१४)

२० मूरदेवाः, (२) सहमूरः (१८)- घातपात करनेवाला मूढ, डाकुओंके साथ रहनेवाला, महामूर्ख, महा-पातकी, महाहिंसक। (२)

२१ मिथुना शपातः- एक दूसरेको गालियां देते हैं, परस्पर बुरे शब्दोंके प्रयोग करते हैं। अपशब्द बोलते हैं। (१२)

ये सब दुष्ट हैं। ये दुष्टोंके लक्षण हैं। इन लक्षणोंके विचारसे श्रेष्ठ सज्जनोंके लक्षण भी जाने जा सकते हैं। जैसे 'जो दूसरोंका घातपात नहीं करते, जो किसीकी हिंसा नहीं करते, जो अहिंसा भावसे बर्तते हैं, जो सदा सत्य बोलते हैं, कभी कपट नहीं करते, हृदयमें शुद्ध भाव धारण करते हैं, कभी किसीका नाश करके अपना पेट भरना नहीं चाहते, अपितु अपने प्रयत्नसे दूसरोंका सुख बढाना चाहते हैं, दुष्ट मनुष्योंके साथ कभी नहीं रहते, मुखसे कभी बुरे शब्द नहीं उच्चारते, जो पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, जो मांसभोजन नहीं करते, जो दूसरोंसे मारपीट नहीं करते, जो दूसरोंको दासभावसे छुडानेके लिये प्रयत्न करते हैं, जो दूसरोंकी रक्षा करते हैं।' जो ऐसा शुद्ध सदाचार रखते हैं वे सज्जन कहे जाते हैं। इन सज्जनोंको पूर्वोक्त दुष्ट दुर्जन सदा कष्ट देते हैं, अतः दुष्टोंको दूर करना धर्म होता है। सज्जनोंका परि-त्राण करना, दुष्ट दुर्जनोंका नाश करना और धर्मकी व्यवस्था स्थापित करना यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका कर्तव्य है। जो यह कर्तव्य करेंगे वे ही आदरके योग्य पुरुष हैं। यही मनुष्यका धर्म है, अतः इस सूक्त द्वारा कहा है कि इन दुष्टोंका नाश करना चाहिये। नाश करनेका भाव यह है कि उनका दुष्ट भाव दूर करना, उनके स्वभावका सुधार करना, उनको दुष्ट व्यवहारसे निवृत्त करना, उनको समाज या राष्ट्रसे बहिष्कृत करना और इतनेसे भी कार्य सिद्धि न हो, तो उनका नाश करना। इन दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो, इस विषयमें कहा है—

दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?

पूर्वोक्त विवरणमें दुष्टोंके लक्षण कहे हैं, इन लक्षणोंसे दुष्टोंकी पहचान हो सकती है। इन लक्षणोंसे दुष्टोंका ज्ञान होनेके पश्चात् उनका नाश करनेका कार्य कौन करे, इसपर विचार करना चाहिये। हरएक मनुष्य दुष्टोंके नाश करनेके कार्यका अधिकारी नहीं है, यह कार्य विशेष जिम्मेवारीका है, अतः यह कार्य विशेष सावधानतासे होना चाहिये और विशेष योग्यतावाले मनुष्यके आधीन यह कार्य रहना चाहिये। इस विषयके निर्देश इस सूक्तमें हैं, उनका अब यहां विचार करते हैं—

१ मित्रः (मं. १), सखा (मं. २०)- जो सब मनुष्योंसे मित्रताका बर्ताव करता है, जो सबका (सखा अर्थात्) हित चाहनेवाला है। जनताका हित करनेमें जो तत्पर रहता है।

२ विप्रः (मं. २१), कविः (मं. २०)- जो विशेष प्राज्ञ अर्थात् ज्ञानी है, जो कवि है अर्थात् क्रान्तदर्शी है, जो दूरदृष्टिवाला है, जो गहराईसे हरएक बातपर विचार कर सकता है, जो पवित्र दृष्टिके साथ सब बातोंपर आगेपीछे विचार करनेमें चतुर है।

३ जातवेदः (ज्ञातवेदः)- जो ज्ञानी है, जिसने अध्ययन उत्तम प्रकारसे पूर्ण किया है, जो बहुश्रुत और वेद-शास्त्रज्ञ है, जिसके अंदर ज्ञानकी वृद्धि उत्पन्न हुई है। (मं. ३)

४ अथर्ववत् दिव्यज्योतिः (मं २१)- जो (अ-थर्व) अचञ्चल स्थितप्रज्ञ योगीके समान दिव्य तेजसे युक्त है, जिसने योगसाधनादि द्वारा अपना मन स्थिर किया है, जो चञ्चल वृत्तिवाला नहीं है, जो शान्ति और गंभीरतासे सब बातोंका विचार कर सकता है और शीघ्रता करके जो कार्यको बिगाडता नहीं है।

५ शुक्रशोचिः, शुचिः, पावकः (मं. २१)- जो पवित्र तेजसे युक्त, स्वयं आचारसे शुद्ध और पवित्रता करने-

वाला है, जो स्वयं पवित्र विचार, पवित्र उच्चार और पवित्र आचारसे युक्त है। जिसके मन, बुद्धि, चित्त, आदि अन्तरिंद्रिय तथा बाह्य इंद्रिय पवित्र हैं और जो सदा शुद्ध व्यवहार ही करता है—

६ ईड्यः (मं. २९), प्रविष्टः (मं. १)- पूर्वोक्त कारणसे जो प्रशंसनीय है, स्तुति करने योग्य है, सब लोग जिसके पवित्र आचारकी प्रशंसा करते हैं।

७ वाजी (मं. १), सहस्यः (मं. २२) जो बलवान् है, कर्तव्यका निश्चय करके जो निश्चयपूर्वक अपने बलसे उसको निभाता है, जो प्रतिपक्षीको परास्त कर सकता है, जो अपने बलसे अपने कर्तव्य कर सकता है।

८ ब्रह्मसंशितः (मं. २५)- ज्ञानसे तीक्ष्ण, ज्ञानसे तेजस्वी, ज्ञानसे सुसंस्कृत, ज्ञानसे प्रशंसा युक्त बना हुआ।

९ अजरः, अमर्त्यः (मं. २०)- जरारहित और मृत्युरहित बना हुआ, क्षीण न होनेवाला और मृत्युसे न डरनेवाला, देवोंके समान जरामृत्युको दूर रखनेवाला, दिव्यजीवन युक्त।

१० क्रतुभिः समिद्धः (मं. १)- विविध सत्कर्मोंसे प्रदीप्त हुआ हुआ, श्रेष्ठ प्रशस्ततम कर्मोंसे प्रकाशित, सत्यमय, प्रशंसनीय उत्तम कर्म करनेवाला, जिससे उत्तम कर्म ही होते हैं।

११ शिशानः (मं १)- तीक्ष्ण, तेजस्वी।

१२ शर्वा (मं. ५)- शत्रुओंका नाश करनेवाला।

१३ प्रतीचः (मं. ६)- दुष्टोंका सामना करनेवाला, शत्रुओंके सन्मुख खडा होकर उनका प्रतिकार करनेवाला।

१४ भंगुरावतः हन्ता (मं २२)- घातकोंका नाश करनेवाला।

१५ रक्षोहा (मं १)- राक्षसों, क्रूरकर्म करनेवालोंका नाश करनेवाला।

१६ क्रव्यादः अपिधास्य (मं. २)- मांसभक्षकोंको, दूसरोंके जीवनोंपर अपनी पुष्टि करनेवालोंको दबानेवाला।

१७ अर्चिषा यातुधानान् उपस्पृश (मं. २)- अपने तेजसे यातना देनेवालोंका नाश करनेवाला।

१८ दिवा नक्तं रिपः पातु (मं. १)- दिन रात घातकोंसे सज्जनोंकी रक्षा करनेवाला,

१९ अग्नैः यातुधानान् संधेहि (मं. ३)- हथियारोंसे दुष्टोंको दण्ड देनेवाला।

इस प्रकार दुष्टोंका नाश करनेवाला ज्ञानी, शान्त, समबुद्धि रखनेवाला, गंभीर, विचारवान्, जनताका हित करनेवाला, पवित्र विचारवाला और सुयोग्य पुरुष होना चाहिये। हरएक मनुष्य यह पवित्र कार्य कर नहीं सकता। जिससे कभी अन्याय होनेकी संभावना नहीं होती, ऐसे सज्जनके आधीन यह अधिकार होना चाहिये। जब कभी न्यायाधीश अथवा दण्डविधान करनेके कार्यके लिये किसी मनुष्यको नियुक्त करना हो, तो उस स्थानके लिये इन गुणोंसे युक्त पुरुष ही नियुक्त किया जावे। और इन गुणोंसे युक्त मनुष्य ही उस स्थान पर जाकर कार्य करे। इस दृष्टिसे इस सूक्तके मंत्र बडे उपयोगी हैं। ऐसे सात्विक पुरुषसे कभी अन्याय नहीं होगा, जो योग्य होगा, वही कार्य यह करेगा और सब मनुष्योंको इसके कार्यसे संतोष होगा।

इन दुष्टोंको जो दण्ड देना योग्य है, उन दण्डोंके विविध प्रकार जो इस सूक्तमें लिखे हैं, जो इन मंत्रोंमें स्पष्ट लिखे हैं, तथापि सुबोधताके लिये उनका यहां वर्णन करते हैं—

दण्डका विधान

इस सप्तकके जो विवरण दिया गया, उससे दुष्टोंके लक्षण और दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षण ज्ञात हुए। दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षणोंमें भी अन्तिम कुछ लक्षण ऐसे हैं कि जिनसे दण्डविधानका भी पता चल सकता है। अब इसी दण्ड विधानका अधिक विचार करते हैं—

१ रक्षो-हा- इस शब्दसे राक्षसोंको ' वध ' दण्ड देना योग्य है यह सिद्ध होता है। ' हन् ' धातुका दूसरा अर्थ ' गति ' है। यह अर्थ लिया जाय तो राक्षसोंको अपने स्थानसे भगा देना अर्थात् ' देशसे निकाल देना ' यह अर्थ होगा। ' रक्षस् ' (रक्षन्ति यस्मात् इति रक्षः) शब्दका अर्थ है जिससे सुरक्षित रहनेकी आवश्यकता होती है, जिससे जनताका बचाव किया जाता है। ऐसे दुष्टोंको ऐसे स्थानमें रखना और उनपर ऐसा पहरा बिठाना चाहिए कि ये दुष्ट दूसरोंको यातना न दे सकें, आदि बोध इससे प्राप्त होता है (मं. १)

२ अयोदंष्ट्र- लोहेकी दाढें। इस मंत्रमें दुष्टको रख कर उसका नाश करना। ऊपरसे और नीचेसे कील घुसाकर दुष्टके शरीरको काटना। (मं. २)

३ क्रव्यादः अपिधास्य- दूसरोंके मांस पर अपने शरीरकी पुष्टि करनेवालोंको बंद करके रख, कैदमें रख (इव आसन्) जैसे खाद्य पदार्थ अपने मुखमें बंद रखा जाता है, उसी प्रकार उन दुष्टोंको रख। (मं. २)

४ अधरं पर च दंष्ट्रोऽपधेहि- दोनों प्रकारके कनिष्ठ और श्रेष्ठ शत्रुको अपनी दाढोंमें दब रख । अर्थात् उसको इधर उधर हिलने न दे । (मं ३)

५ यातुधानान् उभे संधेहि- यातना देनेवालोंपर जबड़ोंके समान शस्त्रोंके साथ चढ़ाई कर । शस्त्रोंसे उनका नाश कर । (मं. ३)

६ यातुधानस्य त्वचं भिन्धि- यातना देनेवाले दुष्टों की चमड़ी छिन्न विच्छिन्न कर । अर्थात् उनको इतना मार कि उनकी चमड़ी उघड़ जाय । (म. ४)

७ हिंस्र-अशनि एनं हरसा हन्तु- हिंसक बिजली इनका वध वेगसे करे । अर्थात् बिजुलीके प्रयोगसे इन दुष्टोंका वध किया जावे । (म. ४)

८ पर्वाणि प्रशृणीहि- दुष्ट जोडोंको काट दे । (म ४)

९ क्रविष्णुः क्रव्याद् एनं विचिनोतु- मांसभक्षक सिंह, व्याघ्र आदि प्राणियोंके द्वारा दुष्टोंके शरीरोंको नुचवाया जावे (म. ९)

१० यातुधानं विध्य- यातना देनेवाले दुष्टको बाण आदिसे वेध डाल । (म. ५) हृदये विध्य- हृदय पर बाण मार । (म. ६)

११ एषां बाहून् प्रतिभिंधि- दुष्टोंके बाहू काट दे । (म. ६)

१२ यातुधानान् ऋष्टिभिः स्पृणुहि- यातना देनेवालोंका शस्त्रोंसे वध कर । (म. ७)

१३ यातुधानान् निजहि- दूसरोंको यातना देनेवालोंका नाश कर (आमादः एनीः अदन्तु) दूसरोंका मांस खाकर अपनी पुष्टि करनेवालोंको गीध खा जावें । (म ७)

१४ रक्षः प्रति शृणीहि- राक्षसोंका नाश कर । (म १०)

१५ पृष्टीः हरसा शृणीहि- दुष्टोंकी पसलियां वेगसे तोड दे । (यातुधानस्य मूलं वृश्च) यातना देनेवाले दुष्टकी जड काट डाल । (म. १०)

१६ यातुधानं नियुङ्ग्धि- यातना देनेवालोंको कारागृहमें रख । (मं. ११)

१७ यातुधानान् हृदये विध्य- यातना देनेवाले दुष्टोंके हृदयमें वेध कर । (मं १२)

१८ असुतृपः पराशृणीहि- दूसरोंके प्राणोंको लेकर अपनी तृप्ति करनेवाले दुष्टोंका नाश कर । उनको दूर करके उनका नाश कर । (म. १३)

१९ मर्मन् क्रुञ्चन्तु- दुष्टोंके मर्मस्थान काटे जांय । (म. १४)

२० यातुधानः प्रसितिं एतु- दुष्ट बन्धनस्थान- कारागार-को प्राप्त होवे । अर्थात् दुष्टोंको कारागृहमें रखा जावे । (मं. १४)

२१ तेषां शीर्षाणि वृश्च- दुष्टोंके सिर काटे जावें । (मं. १५)

२२ यातुधानः उस्रियायाः संवत्सरीणं पयः माशीत्- दुष्टोंको गायका दूध एक वर्षतक पीनेको न दिया जावे । एक वर्षतक गायका दूध पीनेको न देना, यह भी एक दण्ड है । आजकल तो जो भैंसका ही दूध पीते हैं, वे तो यह दण्ड स्वभावतः भोग ही रहे हैं, क्योंकि गायका दूध बहुतोंको प्राप्त हो नहीं होता है । आजकल कैदियोंको भैंसका ही दूध दिया जावे तो उनको कुछ भी बुरा प्रतीत नहीं होगा । परन्तु वैदिक कालमें गायका दूध पीनेके लिये न मिलना भी एक दण्ड माना जाता था । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कारागृहवासी कैदियोंको भी गायका दूध पीनेको प्रतिदिन मिलता होगा और जो विशेष प्रकारके दुष्ट लोग होंगे, उनको ही वर्षभरतक गायका दूध न देनेका दण्ड होता होगा । इसीलिये आगे इसी मन्त्रमें कहा है कि- (यतमः पीयूषं तितृप्सात् तं मर्मणि विध्य)- जिस दुष्टको गायका दूध न पीनेका दण्ड होनेपर भी यदि वह चोरी करके या अन्य युक्तिसे गायका दूध पीनेकी चेष्टा करे तो, उसके मर्म स्थानको वेध डाल । इससे स्पष्ट होता है कि विशेष प्रकारके घोर अत्याचारी कैदियोंको ही गायका दूध न पीनेका दण्ड दिया जाता था और ऐसे कैदी यदि गायका दूध नियम तोड़कर पीते थे, तो उनको कठोर दण्ड किया जाता था । (म १७)

२३ अघशंसं दहन्तु- पापोको जलाया जावे । यह वध दण्ड है । यहां जलाकर वध करना है । (म. १९) यही भाव (धूर्वन्तं न्योष) विनाश करनेवालेका वध कर, नाश कर अथवा जलाकर नाश कर इस आदेशमें है ।

२४ रक्षसः प्रतिजहि- दुष्ट राक्षसोंका नाश कर । (म. २१)

२५ दुर्हार्द अभिदासन्त विनक्ष्व- दुष्ट हृदयवाले और दूसरोंको दास बनानेवाले दुष्टका नाश कर । (म. २५)

इस प्रकार त्रिविध प्रकारके दण्डोंका विधान इस सूक्तमें है । विविध प्रकारके अपराधोंके प्रमाणसे ये विविध दण्ड देने योग्य ही हैं । जो ज्ञानी और सम्मत विद्वान् न्यायाधीश होगा, वही अपराधोंकी न्यूनाधिकताके अनुसार न्यूनाधिक दण्ड दे सकता है । किस अपराधके लिए कौनसा दण्ड देना योग्य है, इसका विचार करनेके लिए ज्ञानी और गंभीर स्वभाववाला न्यायाधीश होना चाहिए ।

दुष्टनाशन सूक्त

कांड १, सूक्त २८

(ऋषिः – चातनः । देवता – स्वस्त्ययनम् ।)

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः । दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥
प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः । प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे । या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥
पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो ३ वि घ्नतां यातुधान्यो ३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

अर्थ– (अमीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला और (रक्षोहा) राक्षसोंका नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) सदाके भूखोंको (यातुधानान्) लुटेरोंको तथा (द्वयाविनः) कपटियोंको (अप दहन्) जलाता हुआ (उप प्रगात्) पास आ पहुंचा है ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! (यातुधानान् प्रति दह) लुटेरोंको जलावे तथा (किमीदिनः प्रति) सदाके भूखोंको भी जला दे । हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण मार्गवाले अग्निदेव ! (प्रतीचीः यातुधान्यः) संमुख आनेवाली लुटेरी स्त्रियोंको भी (संदह) अच्छी तरह जला दे ॥ २ ॥

यह दुष्ट लुटेरी स्त्रियां (शपनेन शशाप) शापसे शाप देती हैं, (या अघं मूरं आदधे) जो प्रारंभसे पाप ही करती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरेभे) जन्मे हुए बालकको खाना आरंभ करती है और (सा अत्तु) यह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥

(यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अत्तु) पुत्र खाती है । (स्वसारं उत नप्त्यं) बहिनको तथा नातीको खाती है । (अध) और (विकेश्यः) केश पकड पकड कर (मिथः घ्नतां), आपसमें झगडती हैं । (अराय्यः यातुधानीः) दानभाव-रहित घातकी स्त्री (वितृहन्तां) आपसमें मारपीट करती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— रोग दूर करनेमें समर्थ अर्थात् उत्तम वैद्य, आसुर भावको हटानेवाला, अग्निके समान तेजस्वी, उपदेशक स्वार्थी लुटेरे तथा कपटियोंको दूर करता हुआ आगे चले ॥ १ ॥

हे उपदेशक ! तू लुटेरे स्वार्थी दुष्टोंका नाश कर तथा सामने आनेवाली दुष्ट स्त्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥२॥

इन दुष्टोंका लक्षण यह है कि ये आपसमें गालियां देते रहते हैं, हरएक काम पाप भावसे करते हैं, यहांतक ये क्रूर होते हैं कि रक्त पीनेकी इच्छासे नये उत्पन्न बालकको ही चूसना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥

इनकी स्त्री अपने पुत्रको भी खा जाती है, बहिन तथा नातीको भी खा जाती है, तथा एक दूसरेके बाल पकडकर आपसमें ही लडती रहती हैं ॥ ४ ॥



दुष्टनाशन सूक्त

संस्कृतमें ' वि दग्ध ' (विशेष प्रकारसे जला हुआ) यह शब्द ' अति विद्वान् ' के लिये प्रयुक्त होता है । यहां अज्ञानका दहन अर्थात् आदि अर्थ समझना उचित है । जिस प्रकार अग्नि लोहे आदिको तपाकर शुद्ध करती है, उसी प्रकार उपदेशक द्वारा प्रेरित ज्ञानाग्नि अज्ञानी मनुष्योंके अज्ञानको जला देती है । इस कारण ' ब्राह्मण ' के लिये वेदमें ' अग्नि ' शब्द आता है । ब्राह्मण और क्षत्रियके वाचक वेदमें ' अग्नि और इन्द्र ' शब्द प्रसिद्ध हैं । ब्राह्मणधर्म अग्नि देवताके और क्षात्रधर्म इन्द्र देवताके सूक्तोंसे प्रकट होता है।

इस सूक्तमें ' अमीव-चातनः ' (रोगोंको दूर करनेवाला)

यह शब्द विशेषण रूपमें आया है। यह यहां चिकित्सा द्वारा रोग दूर कर सकनेवाले उत्तम वैद्यका भी बोध कराता है। उपदेशकको जैसे शास्त्रमें प्रवीण होना चाहिये वैसे ही उसे उत्तम वैद्य भी होना चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगोंकी चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है।

दुर्जनोंके लक्षण

इस सूक्तमें दुर्जनोंके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक लक्षण कहे हैं, इसलिये उनका विचार यहां करते हैं—

१ द्वयाविनः- मनमें एक भाव और बाहर एक भाव, ऐसा कपट करनेवाले। (मं १) 'किमीदिन् यातुधान्' इन शब्दोंका भाव सूक्त ७, ८ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। इस सूक्तमें दुर्जनोंके कई व्यवहार बताये हैं, वे भी यहां देखिये—

२ शपनेन शशाप- शापसे शाप देना, बुरे शब्द बोलना, गालियां देना इत्यादि। (मं ३)

३ अघं मूरं आदधे- प्रारंभमें पापका भाव रखना। हरएक कामका प्रारंभ पाप दृष्टिसे ही करना।

४ रसस्य हरणाय जातं तोकं आरेभे- रक्त पीनेके लिये नवजात बच्चेको खा जाती है।

५ यातुधानी पुत्रं स्वसारं नप्त्यं अत्ति- यह दुष्ट आसुरी स्त्री बच्चा, बहिन अथवा नातीको खा जाती है।

६ विकेश्याः मिथः विघ्नतां, विहघ्नतां- आपसमें केश पकड कर परस्पर मारपीट करती हैं।

ये सब दुर्जन स्त्रीपुरुषोंके लक्षण हैं। बालबच्चोंको खानेवाले लोग इस समय अफ्रीकामें कई स्थानोंपर हैं, परंतु अन्य देशोंमें अब ये नहीं हैं। जहां कहीं ये हों, वहां धर्मोपदेशक जावे और उनको उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देवे, ज्ञानी बनावे, उनकी दुष्टता दूर करके उनको सज्जन बना देवे।

ऐसे मनुष्य-भक्षक दुष्ट, क्रूर, हिंसक मनुष्योंमें भी जाकर धर्मोपदेश देकर उनको सुधारनेका यत्न करनेका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुधरे हुए किंचित् उपरकी श्रेणीके मनुष्योंमें धर्म जागृति करनेका आशय स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

दुष्टोंका सुधार

दुष्ट लोगोंमें दुष्टता होनेके कारण ही वे असभ्य समझे जाते हैं। उनकी दुष्टता उपदेश आदि द्वारा हटाकर उनको सभ्य बनाना ब्राह्ममार्ग है और उनको दंड देकर या डरा धमकाकर उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्रमार्ग है। वेदमें अग्नि देवतासे ब्राह्ममार्ग और इन्द्र देवतासे क्षात्रमार्ग बताया है। जलाते या तपाते तो दोनों ही हैं। परंतु एक उपदेश द्वारा उनके अज्ञानको जलाता है और दूसरा शस्त्र दण्ड और इसी प्रकारके कठोर उपायोंसे पीडा देकर उनको सुधारता है।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंड द्वारा तपानेके उपायसे ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्नि द्वारा तपानेका उपाय अधिक उत्तम है और इसमें कष्ट भी कम है।

यहां अग्नि शब्दसे आगका ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूक्तका नहीं है, क्योंकि इस सूक्तका सबंध आगेपीछेके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंकि प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्नि शब्दसे ऐसे सूक्तोंमें अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त 'रोग दूर करनेवाला अग्नि' इस सूक्तमें कहा है यदि यह उन लोगोंको जला ही देवे तो उनके रोगमुक्त करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है। इसलिये यह अग्निका जलाना 'ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना' ही है। दुष्ट गुणधर्मोंको हटाना और वहां श्रेष्ठ गुणधर्म स्थापित करना ही यहां अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्य ही धर्मोपदेशकका कार्य करे यह सूचना इस सूक्तमें हमें मिलती है। क्योंकि रोगीके मन पर वैद्यके उपदेशका जैसा असर होता है, वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओंपर नहीं होता। रोगीका मन आतुर होता है इसलिये श्रवण की हुई उत्तम बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है।

[यहां तृतीय और चतुर्थ मन्त्रमें 'अत्तु' शब्द है जिसका अर्थ 'खावे' ऐसा होता है परंतु 'शशाप आदधे' इन क्रियाओंके अनुसंधानसे 'अत्तु' के स्थानपर 'अत्ति' मानना युक्त है।। क्योंकि यहां यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अघ आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोकं अत्ति) बच्चेको खाते रहते हैं अर्थात् यह उनकी रीति है। पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है।]

शत्रुदमन

कांड ८, सूक्त ४

(ऋषिः - चातनः । देवता - इन्द्रासोमौ)

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥ १ ॥
इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव ।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ २ ॥
इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ३ ॥
इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत्तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (वृषणा) बलवान् इन्द्र और सोम ! (रक्षः तपतं) राक्षसोंको ताप दो, (उब्जतं) उनको मारो ! (तमो-वृधः नि अर्पयतं) अन्धकार बढानेवालोंको नीचे गिरा दो । (अ-चितः परा शृणीतं) अन्तःकरण रहित दुष्टोंका नाश करो, (नि ओषतं, हतं,) उनका नाश करो, उनका वध करो । उनको (नुदेथां) निकाल दो, (अत्रिणः निशिशीतं) दूसरोंको खानेवालोंको निर्बल करो ॥ १ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (अग्निमान् चरुः इव) आगपर चढे हुए हाण्डीके समान (अघशंसं अघं अभि) पाप करनेवाले पापीके सन्मुख (तपुः सं ययस्तु) ताप-दुःख देते रहो । (ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे) ज्ञानके शत्रु, मांसभक्षक, (घोरचक्षसे किमीदिने) क्रूर दृष्टिवाले दुष्टसे (अनवायं द्वेषः धत्तं) निरन्तर द्वेष करो ॥ २ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (अनारम्भणे वव्रे तमसि अन्तः) अगाध आवरक अन्धकारके बीचमें (दुष्कृतः प्रविध्यतं) दुष्कर्म करनेवालोंको वेध डालो, (यतः एषां एकः चन) जिससे इनमेंसे एक भी दुबारा (न उत् अयत्) न उठ सके । इस प्रकारका (वां मन्युमत् तत् शवः) तुम्हारा उत्साहयुक्त वह बल (सहसे अस्तु) शत्रुदमनके लिये होवे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र और सोम ! आप दोनों (अघ-शंसाय) पाप करनेवाले दुष्ट मनुष्यके लिये (दिवः पृथिव्याः) द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें (तर्हणं वधं संवर्तयतं) विनाशक वध करनेवाले शस्त्रको प्रवृत्त करो । (पर्वतेभ्यः स्वर्यं उत् तक्षतं) पर्वतनिवासी शत्रुओंके लिये अतितीक्ष्ण शस्त्र तैय्यार रखो । (येन वावृधानं रक्षः निजूर्वथः) जिससे बढनेवाले राक्षसोंका तुम नाश कर सको ॥ ४ ॥

भावार्थ— दुष्टोंको दण्ड दो, उनका ताडन करो, अज्ञान फैलानेवालोंको दूर हटा दो, दुष्ट हृदयवालोंको समाजसे बाहर निकाल दो, उनका वध भी करो, अथवा उनको बाहर निकाल दो । जो दूसरोंको खाते हैं उनको निर्बल बनाओ ॥ १ ॥

जो सदा पाप करता है उसको कठिन दण्ड दो । ज्ञानका नाश करनेवाले, मांसभक्षक, क्रूर और हिंसकोंसे द्वेष करो ॥ २ ॥

गाढ अन्धकारमें रहनेवाले, दुष्कर्मियोंको वेध डालो । ऐसी व्यवस्था करो कि इनमेंसे एक भी फिर कष्ट देनेके लिये न उठ सके, तुम्हारा उत्साहयुक्त बल अपने विजयके लिये ही लगे ॥ ३ ॥

पाप करनेवाले दुष्टकी निन्दा करो और वध करो । उनको दूर करनेके लिये अपने शस्त्र सिद्ध रखो। जिससे तुम उनका नाश कर सको ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥
इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥
प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥
यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ ८ ॥
ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥ ९ ॥

अर्थ— हे इन्द्र और सोम ! (युवं) तुम दोनों (अग्नितप्तेभिः अश्महन्मभिः) अग्निमें तपे और फौलादसे बने हुए (अजरेभिः तपुर्वधेभिः) क्षीण न होनेवाले और सताप देकर वध करनेवाले शस्त्रोंसे (दिवः अत्रिणः परिवर्तयतं) द्युलोकसे भोगी चोरोंको हटा दो और उनके (पर्शाने नि विध्यतं) कठिन स्थानमें उनका वेध करो, जिससे वे (निस्वरं यन्तु) शब्द न करते हुए भाग जाय ॥ ५ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (कक्ष्या वाजिना अश्वा इव) जैसे चमंपट्टी बलवान् घोडोंसे संबंधित होती है, वैसे ही (इयं मतिः) यह हमारी बुद्धि (वां परि भूतु) तुमको सब प्रकार प्राप्त होवे । (यां होत्रां वां मेधया परिहिनोमि) इस आह्वान करनेवाली वाणीको अपनी बुद्धिके साथ तुम्हारे प्रति प्रेरित करता हू, अत तुम दोनों (नृपती इव) राजाओंके समान (ब्रह्माणि आ जिन्वतं) इन स्तुति वाक्योंको प्रेमसे स्वीकार करो ॥ ६ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (तुजयद्भिः एवैः प्रतिस्मरेथां) वेगवान् वाहनोंसे दुष्टोंके गतिका पीछा करो । (भंगुरावतः द्रुहः रक्षसः हतं) विनाशक और द्रोहशील राक्षसोंका नाश करो । (यः द्रुहः कदाचित् मा अभिदासति) जो दुष्ट मुझे कभी कष्ट पहुचावे (दुष्कृते सुग मा भूतु) उस दुष्कर्म करनेवालेको सुखसे घूमनेका अवकाश न हो ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! (पाकेन मनसा चरन्तं मा) परिपक्व शुद्ध मनसे आचरण करनेवाले मुझको (यः अनृतैः वचोभिः अभिचष्टे) जो असत्य वचनोंसे झिडकता है, (काशिना संगृभीताः आपः इव) मुठ्ठी द्वारा पकडे जलके समान वह (असतः वक्ता) असत्य वचन बोलनेवाला (अ-सन् अस्तु) न होनेके समान होवे ॥ ८ ॥

(ये एवैः पाकशंसं विहरन्ते) जो विशेष गति साधनोंसे परिपक्व बुद्धिवालेको विशेष प्रकारसे हराते हैं, (ये वा भद्रं स्वधाभिः दूषयन्ति) जो अच्छे मनुष्यको अपनी शक्तियोंसे दूषित करते हैं, (सोम वा तान् अहये प्रददातु) सोम उन दुष्टोंको सांपके लिये सौंप देवे अथवा (निर्ऋतेः उपस्थे वा आदधातु) विनाशके समीप उनको पहुचावे ॥ ९ ॥

भावार्थ— अग्निमें तपा कर फौलादसे बनाये अतितीक्ष्ण और शत्रुका नाश करनेमें समर्थ शस्त्रोंसे अपने दुष्ट शत्रुओंको वेध डालो, जिससे वे बिना चिल्लाये ही नाशको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

तुम्हारे अन्दर यह विचार-शत्रुनाश करनेका विचार स्थिर रहे, जिससे तुम प्रशंसाको प्राप्त हो, जैसे ऋत्विजनोंसे राजा लोक प्रशंसित होते हैं ॥ ६ ॥

वेगवान् वाहनोंमें बैठकर शत्रुओंका पीछा करो । सब दुष्टोंको प्राप्त करके उनका नाश करो । दुष्ट कर्म करनेवाले तुम्हारे राज्यमें सुखसे न भ्रमण कर सके और किसीको कष्ट न पहुचावें ॥ ७ ॥

शुद्ध मनसे कार्य करनेवालेको जो बिना कारण झूठ मूठ गालियां देता है, वह असत्यवादी जीवित न रहनेवालेके समान बन जावे ॥ ८ ॥

*

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।
रिपुः स्तेन स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥
परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥
सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥
न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः नः पित्वः रसं दिप्सति) जो हमारा अन्नके रसको बिगाडता है, (यः अश्वानां गवां तनूनां) जो घोडों, गौओं और अन्य शरीरोंका नाश करता है, वह (स्तेयकृत् रिपुः स्तेनः) चोरी करनेवाला शत्रुरूपी चोर (दभ्रं एतु) नाशको प्राप्त होवे । (सः तन्वा तना च नि हीयतां) वह शरीरसे और पुत्रादिसे हीन बने ॥ १० ॥

हे देवो ! (यः मा दिवा) जो मुझे दिनके समय (यः च नक्तं दिप्सति) और जो रात्रीके समय पीडा देता है, (सः तन्वा तना च परः अस्तु) वह अपने शरीरके साथ और पुत्रके साथ दूर रहे, वह (विश्वाः तिस्रः पृथिवीः अधः अस्तु) सभी तीनों भूविभागोंसे नीचे रहे और (अस्य यशः प्रति शुष्यतु) इसका यश सूख जाय ॥ ११ ॥

(चिकितुषे जनाय सुविज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्यके लिये यह उत्तम ज्ञान कहा जाता है कि, (सत् च असत् च) सत्य और असत्यके (वचसी पस्पृधाते) भाषणोंमें स्पर्धा होती है । (तयो यत् सत्य) उनमें जो सत्य है और (यतरत् ऋजीयः) जो सरल है, (तत् इत् सोमः अवति) उसकी सोम रक्षा करता है और (असत् हन्ति) असत्यका विनाश करता है ॥ १२ ॥

(सोमः वृजिनं न वा उ हिनोति) सोम पापकी कभी सहायता नहीं करता, (मिथुया धारयन्तं क्षत्रियं न) मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियकी कभी सहायता नहीं करता । (रक्षः हन्ति) वह राक्षसोंको मारता है, (असत् वदन्तं हन्ति) असत्य बोलनेवालेको मारता है, व दोनों (इन्द्रस्य प्रसितौ शयाते) इन्द्रके बंधनमें रहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट अपने अनेक साधनोंसे सज्जनोंको लूटते हैं, और अच्छे आदमियोंके अन्नोंका बिगाड करते हैं, वे वधके योग्य हैं ॥ ९ ॥

जो अन्नरसोंको बिगाडता है, मनुष्यों और पशुओंका घात करता है, चोरी करता है, वह अपने बालबच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे ॥ १० ॥

जो दुष्ट दिन रात दूसरोंको पीडा देता है वह अपने बाल बच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे और उसका यश कम होवे ॥ ११ ॥

सब लोगोंको यह सत्य ज्ञान कहा जाता है कि सत्य और असत्यकी स्पर्धा इस जगत्में चल रही है । जो सत्य और जो सीधा है उसकी रक्षा परमेश्वर करता है और जो असत्य है उसका नाश करता है ॥ १२ ॥

जो पाप करता है, मिथ्या व्यवहार करता है, असत्य भाषण करता है और घात करता है उसको बंधनमें डालना चाहिये अथवा उसका वध करना चाहिये ॥ १३ ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने ।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥
अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥
यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ १६ ॥
प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना ।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥ १७ ॥
वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वीच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

अर्थ— (यदि वा अहं अनृतदेवः अस्मि) यदि मैं असत्यका उपासक बनूं, (अपि वा देवान् मोघं ऊहे) अथवा देवोंको व्यर्थ उपासना करूं, तो हे (जातवेद् अग्ने) जातवेद अग्ने ! (किं अस्मभ्यं हृणीषे) क्या हमारे ऊपर क्रोध करोगे ? (द्रोघवाचः ते निर्ऋथं सचन्तां) द्रोहका भाषण करनेवाले विनाशको प्राप्त हों ॥ १४ ॥

(यदि यातुधानः अस्मि) यदि मैं पीडा देनेवाला हूं (यदि वा पूरुषस्य आयुः ततप) और यदि मैं किसी मनुष्यकी आयुको ताप देऊं तो (अद्य मुरीय) आज ही मर जाऊं। (अधा) और (यः मा मोघं यातुधानः इति आह) जो मुझे व्यर्थ ही दुष्ट कहता है, (सः दशभिः वीरैः वि यूयाः) वह दसों वीरोंसे वियुक्त हो जाय ॥ १५ ॥

(यः मा अ-यातुं यातुधानः इति आह) जो मुझ यातना न देनेवालेको भी दुष्ट कहता है, (यः वा) और जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस होते हुए भी (शुचिः अस्मि इति आह) मैं शुद्ध हूं ऐसा कहता है। (इन्द्रः तं महता वधेन हन्तु) इन्द्र उसको बडे वध दण्डसे मारे। और वह (विश्वस्य जन्तोः अधमः पदीष्ट) सब प्राणियोंमें नीचे गिर जावे ॥ १६ ॥

(या नक्तं खर्गला इव) जो रात्रीके समय उल्लूके समान (तन्वं गूहमाना) अपने शरीरको छिपाती हुई (प्रजिगाति) जाती है और (द्रुहुः अपाजिगाति) द्रोह करके भटकती है, (सा अनन्तं वव्र पदीष्ट) वह गहरे गढेमें गिर पडे और (ग्रावाणः रक्षसः उपब्दैः घ्नन्तु) पत्थर राक्षसोंको शब्दोंके साथ मारें ॥ १७ ॥

हे (मरुतः) मरुतो ! (विक्षु वि तिष्ठध्वं) प्रजाओंमें विशेष प्रकारसे स्थिर रहो (इच्छत) अपना कार्य करनेकी इच्छा करो, (ये वयः भूत्वा) जो पक्षियोंके समान होकर (नक्तभिः पतयन्ति) रात्रियोंमें घूमते हैं, (ये वा) अथवा जो (देवे अध्वरे रिपः दधिरे) यज्ञ देवके विषयमें विनाशक भाव धारण करते हैं (रक्षसः गृभायत) उन राक्षसोंको पकडो और (संपिनष्टन) पीस डालो ॥ १८ ॥

भावार्थ— यदि हमने असत्य कहा अथवा देवोंकी पूजा कपटसे की, तो हमारी अधोगति होगी। सब द्रोहका भाषण करनेवाले नाशको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

यदि मैंने किसीको पीडा दी हो अथवा किसीके स्वास्थ्यमें बिगाड किया हो, तो मेरी मृत्यु हो जावे। परंतु मेरे ऐसा कभी न करने पर भी जो मुझे दुष्ट कहता है उसके दसों प्राण दूर हो जाएं ॥ १५ ॥

शुद्धाचारी होते हुए भी मुझे जो दुष्ट कहे और जो दुराचारी स्वयं दुष्ट होते हुए भी अपने आपको पवित्र कहता रहे, उसका वध हो और वह सबसे अधोगतिको प्राप्त हो ॥ १६ ॥

जो उल्लूके समान रात्रिके समय छिपछिपकर दुष्टभावसे संचार करती है वह गढेमें पडे और पत्थरोंसे उसका वध किया जावे ॥ १७ ॥

प्रजाजनोंमें पहरा दो, दुष्टको दूढकर निकालनेकी इच्छा करो, दुष्टोंको पकडो, उनको पीस डालो, जो दुष्ट रात्रीके समय संचार करते हैं और ईश्वर तथा यज्ञके विषयमें बुरा भाव धारण करते हैं, उनका नाश किया जावे ॥ १८ ॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥
एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥
इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥
उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥
मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

अर्थ— हे (मघवन् इन्द्र) धनवान् इन्द्र ! (दिवः अश्मानं प्रवर्तय) द्युलोकसे अश्मास्त्रको चला और (सोम-शितं सं शिशाधि) सोम द्वारा तीक्ष्ण किये हुए अस्त्रको नियमसे प्रेरित कर। (पर्वतेन) पर्वतास्त्रसे (प्राक्तः अपाक्तः अधरात् उदक्तः रक्षसः) सामनेसे, पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे राक्षसोंका (अभिजहि) विनाश कर ॥ १९ ॥

(एते उ त्ये श्व-यातवः) ये ये कुत्तोंके समान बर्ताव करनेवाले दुष्ट (पतयन्ति) हमला करते हैं, (दिप्सवः अदाभ्यं इन्द्रं दिप्सन्ति) हिंसक शत्रु न दबनेवाले इन्द्रको सताते हैं । (शक्रः पिशुनेभ्यः वधं शिशीते) इन्द्र इन चोर दुष्टोंको वध दण्ड देता है। (यातुमद्भ्यः अशनिं नूनं सृजत्) यातना देनेवालोंके लिये विद्युत्को भेजता है ॥ २० ॥

(इन्द्रः) इन्द्र (हविर्मथीनां) हवियोंके विनाशक (अभि आविवासतां) समीप स्थित (यातूनां) यातना देनेवाले दुष्टोंको (परा-शरः अभवत्) दूर हटाकर नाश करनेवाला होता है। (यथा वनं परशुः) जैसे वनको कुल्हाडा काटता है, तथा जैसे (पात्रा इव) मिट्टीके बर्तनोंको तोडा जाता है, उसीप्रकार (शक्रः) समर्थ इन्द्र (सतः रक्षसः भिन्दन्) उपस्थित राक्षसोंको तोडता हुआ (इत् उ अभि एतु) आगे बढे ॥ २१ ॥

हे इन्द्र ! (कोकयातुं) चिडियोंके समान व्यवहार करनेवाले अर्थात् कामी, (शुशुलूकयातुं) भेडियेके समान बर्ताव करनेवाले अर्थात् क्रोधी, (गृध्रयातुं) गीधके समान बर्ताव करनेवाले अर्थात् लोभी, (उलूकयातुं) उल्लूके समान बर्ताव करनेवाले अर्थात् मोहित, (सुपर्णयातुं) गरुडके समान बर्ताव करनेवाले अर्थात् घमंडी (उत श्वयातुं) और कुत्तेके समान आपसमें झगडा करनेवाले अर्थात् मत्सरी लोगोंको (जहि) मार और (दृषदा इव) जैसे पत्थरोंसे पक्षोंको मारते हैं वैसे (रक्षः प्रमृण) राक्षसोंका नाश कर ॥ २२ ॥

(यातुमावत् रक्षः नः मा अभिनट्) यातना देनेवाला राक्षस हमतक न आवे। (ये किमीदिनः) जो भूखे हैं और जो (मिथुनाः अप उच्छन्तु) यातक हैं वे दूर भाग जावें। (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी संबंधी पापसे (पृथिवी नः पातु) पृथिवी हमारी रक्षा करे। तथा (दिव्यात् अंहसः) द्युलोक संबंधी पापसे (अन्तरिक्षं अस्मान् पातु) अन्तरिक्ष हमें बचावे ॥ २३ ॥

भावार्थ— अपने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंसे दुष्टोंका सब ओरसे नाश करो ॥ १९ ॥

जो कुत्तोंके समान दुष्ट हैं, जो दूसरोंको हिंसा करते हैं, उनका वध और नाश शस्त्रास्त्रोंसे किया जावे ॥ २० ॥

यज्ञोंका नाश करनेवाले, हवनसामग्री बिगाडनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले दुष्टोंको हटा दो और जैसे पशुसे वनका नाश किया जाता है वैसे ही उनका नाश किया जावे ॥ २१ ॥

कामी, क्रोधी, लोभी, अज्ञानी, घमंडी और मत्सरी ये छः प्रकारके दुष्ट हैं इनका नाश कर ॥ २२ ॥

यातना देनेवाले हमसे दूर हों, सदा भूखे रहनेके समान व्यवहार करनेवाले दुष्ट दूर भाग जावें । पृथ्वी और स्वर्गके संबंधसे होनेवाले सब पापोंसे हम बच जांय ॥ २३ ॥

इन्द्र॑ ज॒हि पुमां॑सं यातु॒धान॑मु॒त स्त्रियं॑ मा॒यया॒ शाश॑दानाम् ।
विग्री॑वासो॒ मूर॑देवा ऋदन्तु॒ मा ते दृ॑श॒न्त्सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तम् ॥ २४ ॥
प्रति॑ चक्ष्व॒ वि च॒क्ष्वेन्द्र॑श्च सोम जागृतम् । रक्षो॑भ्यो व॒धम॑स्यतम॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥ २५ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (यातुधानं पुमांसं) यातना देनेवाले पुरुषका तथा (मायया शाशदानां स्त्रियं) कपटसे व्यवहार करनेवाली स्त्रीका (जहि) नाश कर । (मूरदेवाः विग्रीवासः ऋदन्तु) मूर्खोंके उपासक गर्दन रहित होकर नाशको प्राप्त हों । (ते उच्चरन्तं सूर्यं मा दृशन्) वे उदयको प्राप्त होनेवाले सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

हे सोम ! (इन्द्रः प्रतिचक्ष्व) इन्द्र निरीक्षण करे, (विचक्ष्व) विशेष प्रकारसे देखे । आप दोनों (जागृतं) जाग्रत रहो । (रक्षोभ्यः यातुमद्भ्यः) राक्षस और पीडक इन सब पर (वधं अशनिं) मृत्युरूप और वज्ररूप (अस्यतं) फेंको ॥ २५ ॥

भावार्थ— यातना देनेवाला चाहे वह पुरुष हो या स्त्री हो, उसका नाश हो । मूर्खोंके अनुयायियोंकी गर्दन काटी जाय । ये दुष्ट सूर्योदय होनेतक भी जीवित न रहें ॥ २४ ॥

निरीक्षण करो और सबका अवलोकन करो, जागते रहो । जो राक्षस अर्थात् घातपात करनेवाले और दूसरोंको सतानेवाले हों, उनको भयंकर दण्ड दिया जावे ॥ २५ ॥

शत्रुदमन

दुष्टोंका दमन

दुष्ट मनुष्योंका दमन करनेका विषय इस सूक्तमें है । यही विषय पूर्व सूक्तमें भी था । ' चातन ' ऋषिके सूक्तोंमें प्राय ऐसे ही शत्रुदमनके विषय हुआ करते हैं । ' चातन ' शब्दका ही अर्थ ' हटाना, हटा देना, निकाल देना, दूर करना, नाश करना ' है । शत्रुको हटानेका उपदेश करनेवाले सूक्तोंके ऋषिके नामका भी ' शत्रुको हटाना ' ही अर्थ हो, ऐसे अर्थवाला यही एक सूक्त और यही ऋषि है ऐसा नहीं है । कई अन्य सूक्तोंमें यह बात ऐसी ही दिखाई देती है । ऋग्वेदमें (ऋ० १० सू० १८६ का) ' उलो वातायनः ' ऋषि है और इसमें शुद्ध वायु जीवन देनेवाला है ऐसा विषय आया है । वातायनका अर्थ खिडकी है और खिडकीका संबंध शुद्ध हवा घरमें आनेके साथ है । इस प्रकार कई ऋषियोंके नाम और उनके सूक्तोंके आशय परस्पर संबंधित हैं । इस सूक्तमें दुष्टोंका दमन करनेका उपदेश है । अतः प्रथम दुष्टोंके कुछ लक्षण यहां देखते हैं । पूर्व सूक्तके विवरणके प्रसंगमें जिन लक्षणोंका विचार किया है, उनको यहां नहीं दुहरायेंगे । इस सूक्तमें जो नये लक्षण आये हैं वेही यहां देखेंगे—

दुष्टोंका लक्षण

पूर्वके सूक्तमें ' रक्षः, राक्षसः, भंगुरावन्, क्रव्याद्, किमीदिन्, यातुधान, मूरदेव ' ये शब्द दुष्ट वाचक आये हैं, जो लक्षण पूर्व सूक्तमें नहीं दिये और इस सूक्तमें विशेष रूपसे कहे हैं, उनका ही विचार यहां अब करते हैं—

१ तमोवृध्- अज्ञानको बढानेवाले, ज्ञानप्रसारका प्रतिबंध करनेवाले, ज्ञान देनेवालोंको कष्ट देनेवाले अथवा उनके कार्यमें रुकावट उत्पन्न करनेवाले । (मं. १)

२ अचित्- जिनके चित्त नहीं है, अर्थात् जिनका अन्तःकरण उत्तम नहीं है, श्रेष्ठ मनुष्यके चित्तके समान जिनका चित्त नहीं, किंवा जिनके मनमें दुष्टताके विचार हैं । (मं. १) पूर्व सूक्तमें इसीका भाव बतानेवाला ' दुर्हार्द् ' शब्द है ।

३ अत्रिन्- (अत्ति इति) जो दूसरोंको खाकर अपनी पुष्टि करता है, अपने स्वार्थके लिये जो दूसरोंके स्वत्वों पर छूरी चलाता है । (मं. १)

४ अघः अघशंस – पाप कर्मके लिये जिसका नाम विख्यात है, जिसके पाप कर्मके कारण ही जिसको सब लोग जानते हैं । (मं. २)

५ ब्रह्मद्विष्- ज्ञानका द्वेष करनेवाला, ज्ञानका प्रतिबंध करनेवाला, ज्ञान प्रसारमें रुकावटें उत्पन्न करनेवाला। (मं २) तमोवृध् (मं १) यह शब्द इसी अर्थका सूचक है।

६ दुष्कृत्- दुष्कर्म करनेवाला, पापी। (मं ३)

७ द्रुह्- द्रोह करनेवाले, जो विश्वासघात करते हैं, जो कपटसे लूटमार करते हैं, जो अत्याचारी हैं। (मं ७)

८ अनृतेभिः वचोभिः अभिचष्टे- असत्य भाषण करता है, असत्य गवाही देकर दूसरोंको कष्ट पहुंचाता है। (मं ८)

९ असतः वक्ता (मं ८), असत् वदन् (मं १३) - असत्य वचन बोलनेवाला।

१० ये पर्वैः वि हरन्ते- जो विविध साधनोंसे दूसरोंके धनादिकोंका विशेष रीतिसे हरण करते हैं। (मं. ९)

११ स्वधाभिः भद्रं दूषयन्ति- जो अपनी शक्तियोंसे दूसरोंको दूषण देते हैं। जो अन्नोंके द्वारा भले मनुष्यको दूषित करते हैं, बुरे अन्न प्रयोगसे सज्जनोंको कष्ट पहुंचाते हैं। (मं ९)

१२ स्तेनः, स्तेनकृत्- चोर और चोरी करनेवाला, अथवा चोरोंका संगठन बनानेवाला बडा डाकू। (मं १०)

१३ रिपुः- जो शत्रुता करता है, छल कपट करनेवाला है। (मं १०)

१४ मिथुया चरन्- मिथ्या व्यवहार करनेवाला, मिथ्या भावको धारण करनेवाला। (मं १३)

१५ अनृतदेवः- असत्यका उपासक, सदा असत्यविचार, असत्य भाषण और असत्य आचार करनेवाला। (मं १४)

१६ देवान् मोघ ऊहे- (वहति)- जो देवोंको व्यर्थ उठाकर घूमता है, जो कपटसे देवताओंके उत्सव करता है, जो स्वयं भक्तिहीन होता हुआ अपने स्वार्थ साधनके लिये देवताके महोत्सव रचता है। (मं १४)

१७ द्रोघवाक्- द्रोहयुक्त भाषण करनेवाला, कठोर भाषण करनेवाला, दूसरोंको दुःख देनेके लिये कठोर भाषण करनेवाला। (मं १४)

१८ रक्षः शुचिः अस्मि इति आह- जो स्वयं राक्षस होता हुआ अपने आपको शुद्ध और पवित्र बताता है। (मं. १६)

१९ अयातुं यातुधान इत्याह- जो भले आदमीको बुरा कहता है। (मं १६)

२० तन्वं गूहमाना नक्तं अभिगाति- छिपकर रात्रीके समय हमला करती है। (मं १७)

२१ दिप्सुः- हिंसक, घातक। (मं २०)

२२ पिशुनः- चुगली करनेवाला। (मं २०)

२३ हविर्मथिन्- हविका नाश करनेवाला। (मं. २१)

२४ कोकयातुः- चिडियाके समान काम व्यवहार करनेवाला अर्थात् अत्यंत काम व्यवहारमें आसक्त। (मं. २२)

२५ शुशुलूकयातुः- भेडियेके समान क्रूरता करनेवाला, क्रूरतासे दूसरोंका नाश करनेवाला, महाक्रूर।

२६ गृध्रयातुः- गीधके समान दूसरोंके जीवन लेकर तृप्त होनेवाला, लोभी, इसीको पूर्व सूक्तमें 'असु-तृप्' कहा है।

२७ सुपर्णयातु- गरुडके समान ऊपर ही ऊपर घमंडसे व्यवहार करनेवाला, गर्विष्ठ, घमंडी।

२८ उलूकयातुः- उल्लूके समान दिवाभीत जैसे व्यवहार करनेवाला अर्थात् महामूढ।

२९ श्वयातुः- कुत्तोंके समान आपसमें लडनेवाला, स्वजातीयोंसे लडने और दूसरोंके सामने पूंछ हिलानेवाला। (मं २२)

३० मायया शाशदानः- कपटसे सब व्यवहार करनेवाला, कपटी छली। (मं २४)

इतने लक्षण दुष्टोंके हैं ऐसा इस सूक्तमें कहा है। पूर्व सूक्तमें २१ और इस सूक्तमें ३० लक्षण दुष्टोंके कहे हैं, दोनों सूक्तोंके मिलकर ५१ लक्षण हुए हैं। इन पचास लक्षणोंसे दुष्टोंकी पहचान हो सकती है। ये दुष्टों और राक्षसोंके लक्षण हैं। इन लक्षणोंकी तुलना श्रीमद्भगवद्गीताके (अ १६ में कहे) आसुर संपत्तिके लक्षणोंके साथ करनेसे दुष्टोंका निश्चय करनेमें बडी सहायता हो सकती है। ये राक्षस कोई भिन्नयोनिके प्राणी नहीं हैं, ये मानवजातिमें ही दुष्ट स्वभावके स्त्री पुरुष हैं, यह बात नहीं भूलनी नहीं चाहिये। अतः इन राक्षसोंसे अपनी रक्षा करनेका तात्पर्य अपने समाजके अथवा मानव जातिके दुष्ट जनोंसे रक्षा करना है। इसीलिये इस सूक्तमें कहा है—

प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व, जागृतम्। (मं. २५)

'प्रत्येक स्थानपर देख, विशेष रीतिसे देख और जाग्रत रह।' ये तीनों संदेश आत्मरक्षाकी दृष्टिसे अत्यंत महत्वके हैं, जो इस जनताकी रक्षा करनेके कार्यमें नियुक्त होते हैं, जो स्वयं सेवक होकर जनताकी रक्षा करना चाहते हैं वे सदा जाग्रत रहें, अपनी रक्षा जाग्रत रहनेसे ही हो सकती है। जो सोते हैं या जो सुस्त हैं वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। जाग्रत रहनेके पश्चात् (प्रतिचक्ष्व) प्रत्येक मनुष्यका

व्यवहार देखना चाहिये, अपने और पराये सब मनुष्योंके व्यवहारको अच्छी प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। और देखना चाहिये कि कौन मनुष्य सहायक है और कौन घातक है। यह निरीक्षण (विचक्ष्व) विशेष रीतिसे करना चाहिये, गहराईके साथ निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो मित्रता करनेके बहाने पास आते हैं और किस समय कपटसे गला काट देते हैं, इसका पता ही नहीं चलता। अतः हरएक बातका विशेष दक्षतासे निरीक्षण करना चाहिए। अपनी रक्षा करनेके इच्छुक पाठक इन तीन आज्ञाओंका अच्छी प्रकार स्मरण रखें। इसी भावका अधिक स्पष्टीकरण करनेवाली आज्ञाएं १८ वें मन्त्रमें निम्नलिखित प्रकार आई हैं—

विक्षु वितिष्ठध्वं, विक्षु इच्छत,
रक्षसः गृभायत, रक्षसः संपिनष्टन। (मं. १८)

' प्रजाजनोंमें विशेष प्रकारसे उपस्थित रहो, प्रजाजनोंमें शान्ति सुख स्थापन करनेकी इच्छा करो और इस कार्यके लिये राक्षसोंको ढूंढ निकालो, उनको पकड़ रखो और उनको पीस डालो। ' यहां प्रजाजनोंमें विशेष रीतिसे उपस्थित होनेकी आज्ञा है, साधारण मनुष्य जैसे होते हैं, वैसा रहनेकी आज्ञा यहां नहीं है, यहां वेद कहता है कि असाधारण रीतिसे प्रजाजनोंमें सर्वत्र सचार करो, विविध रूपोंको धारण करके सब जनोंका विशेष ख्यालके साथ निरीक्षण करो और पता लगाओ कि कौन मनुष्य राक्षस है और कौन देव है। सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये पहिले सज्जनों और दुर्जनोंका निश्चय करना चाहिये। यह निश्चय विशेष निरीक्षणके बिना नहीं हो सकता, अतः यह आज्ञा की है।

(विक्षु इच्छत) प्रजाजनोंमें शांति और सुखस्थापन करनेकी इच्छा धारण करो, इसी उद्देश्यसे प्रजाजनोंमें विविध प्रकारसे उपस्थित हो और राक्षस कौन हैं इस बातका पता लगाओ। जो राक्षस हैं उन राक्षसोंको (गृभायत) पकड़ रखो, उनको जनसमाजमें घूमनेसे रोक दो, उनकी हलचलपर रोक लगाओ और उनको (संपिनष्टन) पीस डालो। यहां पीसनेका अर्थ चूर्ण करना अभीष्ट नहीं है। उनके संगठन बढ़ने न दो, उनको अलग अलग करके उनका नाश करो। उनको असफल बनाओ। इसी विषयमें देखिये—

रक्षसः प्राक्तो अपाक्तो अधरात् उदक्त जहि।
(मं १९)

' इन दुष्टोंको सामनेसे, पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे अर्थात् सब ओरसे प्रतिबंधमें रखकर नष्ट करो। ' यहां उनके देहोंको काटनेका तात्पर्य नहीं है। शरीर उनके बेशक जीवित रहे, परंतु उनकी गति (प्राक्तः) सामनेसे रुक जाय, (अपाक्तः) वे पीछे न जा सकें, (अधरात्) वे नीचे न जा सकें और (उदक्तः) ऊपर भी न हो सकें, अर्थात् चारों ओरसे उनकी चलचल बंद हो जावे और वे ऐसे प्रतिबंधमें रहें कि वे किसी प्रकार दुष्टता न कर सकें। इस प्रकार वे अपनी दुष्टतामें असफल हुए, तो उनका मानो पूर्ण नाश हो हुआ। अर्थात् यहां उनको दुष्ट कर्म करनेसे रोकना अथवा उनकी दुष्टताका नाश करना अभीष्ट है, इसीलिये कहा है—

उभौ प्रसितौ शयाते। (मं १३)

' दोनों प्रकारके दुष्ट बंधनमें सोते रहें। ' अर्थात् कारागारमें पड़े रहें, जिससे वे आगे पीछे नीचे और ऊपर हिल न सकें। ये दुष्ट पुरुष हों या स्त्रियां हों, दोनोंका समान रीतिसे प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य है—

पुमांसं यातुधानं जहि।
मायया शाशदानां स्त्रियं जहि। (मं २४)

' पुरुष दुष्ट हो, या कपटाचारिणी स्त्री हो, दोनोंको उसी प्रकार असफल करना चाहिये। ' स्त्री है, इसलिये उसको क्षमा करना योग्य नहीं, क्योंकि एक दुष्ट अनेकोंको कष्ट पहुंचाता है, अतः किसी भी दुष्टको क्षमा नहीं देनी चाहिये। सभी दुष्ट अपनी दुष्टता छोडें और सज्जन बनें, ऐसा प्रबंध होना आवश्यक है। राष्ट्रमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि—

दुष्कृते सुगं मा भूत्। (मं ७)

' दुष्कर्म करनेवाले दुष्ट मनुष्य इधर उधर सुखसे न घूम सकें। ' उनके भ्रमणके ऊपर प्रतिबंध हो। जब वे अपनी दुष्टता छोड दें, तब उनको सब प्रदेशमें भ्रमण करनेकी सुविधा मिले। इस उपदेशसे पता लगता है कि वेद चाहता है कि राष्ट्रका प्रबंध करनेवाले अपने राष्ट्रमें अथवा ग्रामके प्रबंधकर्ता ग्रामके दुष्ट मनुष्योंकी एक पूर्ण सूची बनावें और उनके ऊपर निगरानी रखें, वे कहां रहते हैं, क्या करते हैं यह देखें और उनको ऐसे दबावमें रखें कि वे बुराई न कर सकें। सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये दुष्टोंपर इस रीतिसे दबाव रखना अत्यंत आवश्यक है, इसलिये कहा है कि—

इयं मतिः विश्वतः परिभूतु। (मं. ६)

' यह आत्मरक्षा और सज्जनरक्षाकी बुद्धि मनुष्योंमें सर्वत्र अर्थात् सब नगरोंके नागरिकोंमें स्थिर रहे। ' कोई मनुष्य इसको न भूले और—

वा मन्युमत् शव सहसे अस्तु । (मं ३)

'तुम्हारा उत्साह युक्त बल अपने विजय और शत्रुकी पराजयके लिये समर्पित हो । ' शत्रु तो वे ही लोग हैं कि जिनके लक्षण इस सूक्तमें और पूर्व सूक्तमें दुष्ट सज्ञाके साथ कहे हैं । इन दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंकी रक्षा करनेके कार्यमें सबको बल लगाना चाहिये । दुष्टोंके सचारके मार्ग बद हों और सज्जनोंके मार्ग अधिक खुले हों । यह बात अनेक प्रयत्नोंसे साध्य करनी चाहिये । हरएक मनुष्य अपने अपने कार्यक्षेत्रमें इस बातकी सिद्धताके लिये परम प्रयत्न करे । इस प्रयत्नका स्वरूप यह है—

असतः वक्ता अ-सन् अस्तु । (मं. ८)

'असत्य भाषण करनेवाला अर्थात् दुष्ट मनुष्य (अ–सन्) न होनेके समान होवे । ' न होनेके समान होनेका अर्थ यही है कि वह दुष्ट मनुष्य या तो प्रतिबन्धमें रहे या कारागृहमें रखा जावे, उसको दुष्टता मार्ग उसके लिये खुले न रहें ।

सत्यका रक्षक ईश्वर

इस सूक्तमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि ' सत्यका रक्षक परमेश्वर है । ' सत्यमार्गपर जानेवालेके सन्मुख अनन्त आपत्तियां आ खडीं हों तो भी वह नहीं डरेगा, क्योंकि वह इस आदेशके अनुसार जान जायगा कि उसका रक्षक परमेश्वर है । जब सत्यका रक्षक परमेश्वर है । तब उसको डरानेवाला कौन हो सकता है ?

सुविज्ञान चिकितुषे जनाय
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्य यतरदृजीयस्त-
दित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ (मं १२)

' यह उत्तम ज्ञान ज्ञानी बननेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके हितके लिये कहा जाता है कि सत्य और असत्य भाषणकी इस जगत्‌में स्पर्धा चल रही है । उनमेंसे जो सत्य और जो सीधा होता है, उसकी परमेश्वर रक्षा करता है और जो असत्य और कुटिल होता है उसका नाश करता है । ' अर्थात् सत्यका पालन करनेवाले और सरल आचरण करनेवाले मनुष्यको रक्षा परमेश्वर स्वय करता है और असत्य भाषणी तथा कुटिल व्यवहार करनेवालेका नाश करता है । हरएक मनुष्य इस ईश्वरके नियमका स्मरण रखे और अपना आचरण सीधा और सत्यके अनुसार रखे । जो अपना आचरण ऐसा रखेंगे वे कभी दोषी नहीं हो सकते और उनको ईश्वरकी ओरसे कभी दण्ड नहीं मिल सकता । परमेश्वरकी रक्षा प्राप्त करनेका यह एक उत्तम उपाय है ।

जो ऐसा आचरण करेंगे और सत्य पालनमें दत्तचित्त होंगे वे कभी दुष्ट नहीं होंगे । अपितु दुष्ट वे बनेंगे जो असत्य और कुटिल व्यवहार करेंगे । इन दुष्टोंको दण्ड देना परमेश्वरका ही कार्य है । इनको जो विविध दण्ड दिये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

वधदण्ड

इन दुष्टोंको वध देनेके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग प्रमाण हैं—

अत्रिणः हत, न्योषत,
अघशस तर्हण वध वर्तयतम् । (मं ४)
द्रुह भंगुरावत रक्षस हतम् । (मं ७)
रक्ष हन्ति । असत् वदन्त हन्ति । (मं १३)
तं महता वधेन हन्तु । (मं १६)
पिशुनेभ्यो वध शिशीते । (मं २०)
रक्षोभ्यो वधः । (मं २५)

' भोगी, पापी, द्रोही, नाश करनेवाले, असत्य भाषण करनेवाले, चुगली करनेवाले, जो राक्षसवृत्तिवाले लोग हों वे वधदण्डके लिये योग्य हैं । इसी प्रकार—

दुष्कृत अनारम्भणे तमसि वध्रे प्रविध्यतम् ।
(मं ३)
सः अनन्त वध अव पद्यि । (मं १७)
अग्नितप्तेभि अश्महन्मभि तपुर्वधेभि
आशियः विध्यतम् । (मं ५)

' दुष्ट कर्म करनेवालोंको अन्धकारके स्थानमें रखो और उनपर शस्त्रका वेध करो । अग्निमें तपे, फौलादसे बने, घातक शस्त्रसे भोगी लोगोंका वध करो ।' वेध करनेका अर्थ यह है कि उनपर शस्त्र फेंककर उनके शरीरको घायल करना । बाणोंसे अथवा बन्दूककी गोलीसे वेध करना आदि वेध दूरसे ही किया जाता है । इसी प्रकार—

यातुमद्भ्यः अशनि सृजतम् । (मं २०)
यातुमद्भ्यः अशनि अस्यतम् । (मं २५)
मूरदेवा निर्ऋत्याः ऋदन्तु । (मं २४)
तान् निर्ऋते उपस्थे आदधातु । (मं ९)
द्रोघवाच । निर्ऋत सचन्ताम् । (मं १४)

' यातना देनेवालोंपर बिजली छोडी जावे, मूढोंके उपर

शत्रोंका गला काटा जावे, वे नाशके द्वारपर पहुंचे, द्रोहका आरम्भ करनेवाले नाशको प्राप्त हों।' इस प्रकार यह करीब वध दण्ड ही है। तथापि इसमें अन्य प्रकारका नाश भी संभवनीय है। पत्थरोंसे दुष्टका वध करनेका भी उल्लेख है—

ग्रावाणः रक्षसः उपब्दैः घ्नन्तु। (म. १७)
द्रुपदा इव रक्ष- प्रमृण। (म २२)

'पत्थरोंसे राक्षसोंका वध किया जावे।' जो राक्षस है ऐसा निश्चय हो जाय, उसको किसी स्थानपर खड़ा करके अथवा वृक्षके साथ रस्सीसे बांधकर दूरसे उसपर पत्थर मारकर उसका वध किया जावे। इस प्रकारका वधदण्ड इस समय अफगानिस्थानमें है।

देशसे निकाल देना

यातूनां पराशर अभवत्।
रक्षस भिन्दन् एतु। (म २१)

'यातना देनेवालोंको दूर करनेवाला वीर राक्षसोंको तोडता हुआ चले।' यह वीरका लक्षण है, यह वीर यातना देनेवालोंके करतूतोंको सह नहीं सकता। 'परा+शर' शब्दका विलक्षण अर्थ है। (परा) दूर ले जाकर (शर) नाश करनेवाला जो वीर है उसको पराशर कहते हैं। राक्षसोंको समाजसे और ग्रामसे दूर करना चाहिये, ये कभी ग्रामवासियोंको कष्ट देनेके लिये न आवे, इस विषयमें वेदकी आज्ञा देखिये—

अचित्तः परा शृणीतं, नुदेथाम्। (मं १)
यतः एषां पुनः एकश्चन न उदयत्। (म. ३)
यातुमावत् रक्ष- न- मा अभिनट्। (म २३)
किमीदिनः मिथुना अपोच्छन्तु। (मं २३)

'जिनके अन्त करण सदय नहीं है, वे दूर हटाये जाय, इनमेंसे एक भी फिर न लौट सके, मिथ्याचारी सब दूर भाग जावें।' ये सब आज्ञाएं दुष्टोंको राज्यसे बाहर करनेका ही भाव बताती हैं। इस प्रकार देशसे निकाला हुआ कोई दुष्ट फिर देशमें या ग्राममें न आ सके। ऐसा करनेसे ही प्रजा सुखी रह सकती है।

दुष्टोंको तपाना

दुष्ट दुर्जनोंको सताप देनेका भी एक दण्ड इस सूक्तमें कहा है, विचार करना चाहिये कि इस तपानेका अर्थ क्या है। इस विषयके मत्र ये हैं—

*

रक्षः तपतं, उब्जतं। (मं १)
अघशंसं अघ तपु- ययस्तु। (म २)

'राक्षसों दुष्टों, पापवृत्तिवालोंको ताप दो।' उनको संतप्त करो। किन साधनोंसे सताप उत्पन्न करना है, इसका यहां उल्लेख नहीं। तथापि सूक्तका विचार करनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब दुष्ट अपनी दुष्टताके कार्योंसे हटाये जायेंगे और चारों ओरसे उनको रोका जायगा, तब उनको सताप होगा और इस प्रकारका सताप ही यहां अभीष्ट होगा।

दुष्टोंसे द्वेष

वस्तुत- देखा जाय तो कोई मनुष्य किसीसे कभी द्वेष न न करे। परस्पर मित्रदृष्टिसे देखें। यह नि सदेह धर्म है। परतु दुष्ट मनुष्य और दुष्टतासे द्वेष करनेकी आज्ञा वेद देता है। यदि द्वेष करना हो तो दुष्ट मनुष्योंसे और उनकी दुष्टतासे द्वेष करना योग्य है देखिये—

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे किमीदिने
अनवायं द्वेषो धत्तम्। (मं २)

'ज्ञानसे द्वेष करनेवाले, मासभोजी, क्रूरदृष्टि, सदा भोग विचार करनेवाले दुष्टके साथ निरतर द्वेष करो।' यदि द्वेष करना है, तो इससे द्वेष करो, अन्यथा (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु०) मित्रकी दृष्टिसे सबको ओर देखो और किसीसे कभी द्वेष न करो। स्वयं शुद्धाचारी होकर दुष्टोंसे द्वेष करना योग्य है। मनुष्य स्वय पापसे बचनेके लिये इस प्रकार प्रार्थना करे—

पार्थिवात् दिव्यात् च अंहस- नः पातु। (म २३)

'भूमिके सबधसे तथा स्वर्गके सबधमें जो पाप हो, उससे हमें बचाओ।' इस प्रकार मनुष्य ईश्वरको प्रार्थना करे। अपने आपको पापसे बचावे। ऐसे मनुष्यको ही अर्थात स्वय पापसे बचनेवालेको ही दुष्टसे द्वेष करनेका अधिकार है। जो स्वयं पाप करता है उसको दूसरेसे द्वेष करनेका अधिकार नहीं है।

पापीकी अधोगति

पापी दुष्ट मनुष्यकी अधोगति होती है उसकी अकीर्ति होती है, वह बदनाम होता है इस विषयमें इस सूक्तमें निम्न लिखित मत्रभाग मिलते हैं—

अस्य यशः प्रतिशुष्यतु।
यः दिवानक्तं दिप्सति स अघ अस्तु। (म ११)

स्तेनहत् स्तेनः रिपुः दभ्रं पतु ।
स तन्वा तना च निहीयताम् । (मं. १०)
स दृशाभि धीरैः वि यूया । (मं. १५)
विश्वस्य जन्तोः अधमः पस्पदीष्ट । (मं. १६)

' इस दुष्टका धन नष्ट हो जावे, जो दिनरात दुष्टता करता है वह नीचे गिरे, चोर लुटेरा दुष्ट शत्रु तन मनसे हीन होवे, वह बालबच्चोंसे हीन होवे । उसके दसों प्राण दूर हों । ऐसा दुष्ट सब प्राणियोंसे भी सबसे नीचे गिर जावे । ' अर्थात् जो इस प्रकारका दुष्ट है वह परमेश्वरीय नियमसे अधोगतिको प्राप्त होता है, जब तक वह अपनी दुष्टता नहीं छोडता तब तक उसकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । उन्नतिकी इच्छा है तो दुष्टता छोडनेकी आवश्यकता है, यह बात यहां सिद्ध होती है । सब दुष्टोंको उन्नतिका यह मार्ग खुला है, अर्थात् उन्नति करना उनके आधीन है । वे यदि पूर्वोक्त प्रकार ' पापसे बचनेके लिये ' ईश्वरकी प्रार्थना करेंगे, तो उनमें दुष्टता छोडनेका बल आ जायगा । इसके नियम ये हैं—

आत्मदण्ड

यः अ-यातुं यातुधान इत्याह ।
यः रक्षः शुचिः अस्मि इत्याह । (मं. १६)

' भलेको बुरा कहना और अपवित्रको पवित्र समझना ' यह दुष्टका लक्षण है । जो उन्नत होना चाहते हैं । वे ऐसा न करें, वे भलेको भला, बुरेको बुरा, राक्षसको राक्षस, पवित्रको पवित्र, अपवित्रको अपवित्र समझें । डरते हुए ऐसा माननेसे और माननेके अनुकूल कहनेसे आत्मिक बल बढता है । इसी रीतिसे हरएक मनुष्य कहे कि —

यदि यातुधानोऽस्मि, यदि वा पुरुषस्य आयु ततप, अद्या मुरीय । (मं. १५)

' यदि मैं किसीको यातना देनेवाला बनूं अथवा किसी मनुष्यको ताप दूं तो मैं आज ही मर जाऊं । ' ऐसा उन्नत होनेवाला मनुष्य कहे अर्थात् यदि अपने हाथसे कुछ पाप या दोष हुआ हो, तो उसके प्रायश्चित्तके लिए मनुष्य तैयार रहे । अपने द्वारा विशेष दोष होनेपर मरने तक तैयार होना चाहिये । जिसकी जिसप्रमाणसे इस प्रकारकी तैयारी होगी, वह उस प्रमाणसे उन्नत होगा । इस आत्मदण्डके मार्गसे मनुष्य शीघ्र उन्नतहो सकता है ।

शत्रुका निवारण

कांड ७, सूक्त १२२

(ऋषिः - अथर्वाङ्गिराः । देवता - इन्द्रः ।)

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिद्वि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥ १ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (मन्द्रैः मयूररोमभिः हरिभिः आयाहि) सुन्दर मोरके परोंके समान सुन्दर पुच्छवाले घोडोंके साथ यहां आ । (पाशिनः विं न) जैसे पक्षीको जालमें पकडते हैं उस प्रकार (त्वा केचित् मा वि यमन्) तुझे कोई न पकडे । (धन्व इव तान् अति इहि) रेतीले स्थानपरसे जैसे गुजरते हैं वैसे उनका अतिक्रमण कर ॥ १ ॥

इन्द्र (इन्+द्र) शत्रुका विदारण करनेवाले वीरका यह नाम है । ऐसे वीर सुंदर घोडोंपर अथवा ऐसे घोडोंवाले रथपर सवार होकर स्थान स्थानमें जाय । उसको रोकनेवाला कोई न हो । वे ही दुष्टोंको रोकें और उनको दबाकर रखें ।

शत्रुका नाश

कांड ७, सूक्त ११०

(ऋषि – भृगु । देवता – इन्द्राग्नी ।)

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥
याभ्यामजयन्त्स्वरग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा ।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥ २ ॥
उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः । इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! तू और (इन्द्रः च) इन्द्र मिलकर (दाशुषे) दान देनेवालेके लिये (वृत्राणि अप्रति हतः) शत्रुओंको बिना भूले मारो । क्योंकि (उभा) तुम दोनों (हि वृत्रहन्तमा) शत्रुके नाश करनेवाले हो ॥ १ ॥

(याभ्यां अग्रे एव स्वः अजयन्) जिन दोनोंकी सहायतासे पहिले ही स्वर्गलोकको जीत लिया था । (यौ विश्वा भुवनानि आतस्थतु) जो दोनों सपूर्ण भुवनोंमें व्यापते हैं । (प्र-चर्षणी) मनुष्य श्रेष्ठ, (वृषणा) बलवान्, (वृत्र-हणौ वज्रबाहू) शत्रुका वध करनेवाले शस्त्रधारी (अग्निं इन्द्रं अहं हुवे) अग्नि और इन्द्रको मैं बुलाता हूं ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (बृहस्पतिः देवः त्वा चमसेन उप अग्रभीत्) ज्ञानपति देव तुझे चमससे ग्रहण करता है । (सुन्वते यजमानाय) सोमयाजी यजमानके कारण (नः गीर्भिः आविश) हमारे किये हुए स्तुतिके साथ यहां प्रवेश कर ॥ ३ ॥

शत्रुका नाश

कांड ४, सूक्त ४०

(ऋषि – शुक्र । देवता – बहुदैवत्यम् ।)

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥
ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! (ये पुरस्तात् जुह्वति) जो सन्मुख रहकर आहुति देते हैं और (प्राच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पूर्व दिशासे हमें दास बनानेका प्रयत्न करते हैं (ते अग्निं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां) वे अग्निको प्राप्त हो कर पराजित होते हुए कष्ट भोगें । (एनान् प्रत्यक् प्रतिसरेण हन्मि) इनका पीछा करके और इनपर हमला करके मैं इनका नाश करता हूं ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! (ये दक्षिणतः जुह्वति) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और (दक्षिणायाः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, (ते यमं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां) वे यमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःखको प्राप्त हों (एनान्०) इनका पीछा करके और इनपर हमला करके मैं इनका नाश करता हूं ॥ २ ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ३ ॥
य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ४ ॥
येऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ५ ॥
येऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ६ ॥
य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ७ ॥
ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान् ।
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ८ ॥

अर्थ— हे सर्वज्ञ ! (ये पश्चात् जुह्वति) जो पीछेकी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं (ते वरुणं ऋत्वा०) वरुणको प्राप्त करके पराभूत होकर दुःख भोगें, मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ३ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उत्तरतः जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उदीच्याः दिशा०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं ऋत्वा०) सोमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःख भोगें । मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अधस्तात् जुह्वति) जो नीचेकी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवायाः दिशा०) इस ध्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं ऋत्वा०) भूमिको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ५ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायाः दिशा०) विशेष मार्गवाली दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, वे (वायुं ऋत्वा०) वायुको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ६ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उपरिष्टात् जुह्वति) जो ऊपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वाया दिशा०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं ऋत्वा०) सूर्यको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये दिशां अन्तर्देशेभ्यः जुह्वति) जो दिशा उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्म ऋत्वा०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश

शत्रुका नाश

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें दास बनाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे हमें सताते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये। जो शत्रु होते हैं वे पीछेसे, आगेसे, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य,उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते। ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बडा कठिन कार्य है। इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो धर्म-भावका ढोंग दिखाकर विश्वास उत्पन्न करके गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हैं। ये शत्रु (जुह्वति) हवन करनेका यत्न करते हैं, यज्ञयाग और सत्रका ढोंग रचकर जनताका भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनतामें उत्पन्न करके अंदर अंदरसे नाश करनेकी तैयारी करते हैं। हवनमें ऐसे अविधियुक्त पदार्थ-अर्थात् मांस आदिक-प्रयुक्त करते हैं, कि जिनसे देशमें रोगोंकी उत्पत्ति हो जावे और उससे मनुष्योंका क्षय हो जावे। यज्ञका और हवनका ढोंग रचकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उससे जनताका बडा नाश होता है। विधिपूर्वक किये हुए वैदिक यज्ञयाग तो आरोग्य बढानेवाले होते हैं, परतु ऐसे विधि होन आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं, ढोंग बढाकर नाश करनेके प्रकार और भी अनेक हैं, कई शत्रु ऐसे होते हैं, कि जो उपकार करनेका भाव दिखाकर अहित ही करते हैं, उन सबका यहां विचार करना चाहिये। ऐसे शत्रुओंका नाश करना बडा कठिन होता है, परतु इनका नाश तो अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि खुला हमला करने-वाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बडे घातक होते हैं। इनका नाश करनेके लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

दिशा	देवता	गुण	कर्म
प्राची	अग्नि	ज्ञान, तेज	अज्ञान नाश
दक्षिणा	यम	नियमन	दुष्टोंको दण्ड देना
प्रतीची	वरुण	निवारण	शत्रुका निवारण
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय
ध्रुवा	पृथ्वी	आधार	सज्जनोंको आधार देना
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	बलका उपयोग
ऊर्ध्वा	सूर्य	प्रकाश	प्रेरणा करना

दिशाओंकि अनेक देवताओंके ये गुण कर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है, कि अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। सबसे प्रथम अपने लोगोंके अज्ञानका नाश करना चाहिये और उनको ज्ञान उत्तम प्रकारसे देना चाहिये। जो इस ज्ञानसंवर्धनके कर्ममें विरोध करें उनको दण्ड देना चाहिये और फिर विरोध न हो ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये। इतना करनेपर भी जो शत्रुता करे उनका सुप्रबंध द्वारा निवारण करना चाहिये। सबसे प्रथम शान्तिके उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कार्यमें असफलता हो तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हटाना चाहिये। सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करके जनताको अपने अभ्युदय निःश्रेयसका मार्ग खुला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवस्था करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उसके शत्रु दूर हो जाएंगे और फिर रुकावटें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनको सतानेमें असमर्थ हो जायेंगे। शत्रु कैसा भी प्रयत्न करे, उस दिशासे अपनी रक्षा करनेके साधन अपने पास पहिलेसे ही तैयार रहने चाहियें। अर्थात् शत्रु यदि ज्ञानसे चढाई करे तो ज्ञान द्वारा उसका प्रतिबंध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बलसे उसका निवारण करना चाहिये। इसी प्रकार जिन शस्त्रोंको लेकर शत्रु हमपर हमला करे, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपने पास रहना चाहिये। देशके शत्रु-रहित होनेसे ही मनुष्योंका अभ्युदय होना और उनको निःश्रेयस प्राप्त होना संभव है। शत्रुके हमले वारंवार होते रहे तो उन्नति असंभव है।

इसलिये काया, वाचा, मनसे तथा अपने पासके अन्यान्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये और अपना आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु ठहर हो न सके।

शत्रु-नाशन-सूक्त

कांड १ सूक्त १९

(ऋषि – ब्रह्मा । देवता – ईश्वरः, ब्रह्म ।)

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥
विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥
यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥
यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (वि व्याधिनः) विशेष वेध करनेवाले शत्रु (नः मा विदन्) हमतक न पहुचे । (अभिव्याधिनः) चारों ओरसे मारकाट करनेवाले (नः मा विदन्) हमतक कभी न पहुचे । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विषूचीः शरव्याः) सब ओर फैलनेवाले बाण समूहोंको (अस्मत् आरात् पातय) हमसे दूर गिरा ॥ १ ॥

(ये अस्ताः) जो फेंके हुए और (ये च अस्याः) जो फेंके जायेंगे, वे सब (विष्वञ्चः शरवः) चारों ओर फैले हुए बाण आदि शस्त्र (अस्मत् पतन्तु) हमसे दूर जाकर गिरें, (दैवीः मनुष्येषवः) हे मनुष्योंके दिव्य बाणो ! (मम अमित्रान्) मेरे शत्रुओंको (विविध्यत) वेध डालो ॥ २ ॥

(यः नः स्वः) जो हमारा अपना अथवा (यः अरणः) जो दूसरा परकीय हो, किंवा जो (स-जातः) समान उच्च जातिका कुलीन (उत) अथवा जो (निष्ट्यः) भिन्न जातिवाला या संकर जातिका हीन मनुष्य (अस्मान् अभिदासति) हमपर चढाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, (एतान् मम अमित्रान्) इन मेरे शत्रुओंको (रुद्रः) रुलानेवाला वीर (शरव्यया विविध्यतु) बाणोंसे वेध करे ॥ ३ ॥

(यः) जो (सपत्नः) विरोधी और (यः अ-सपत्नः) जो प्रकट विरोधी नहीं है (च यः द्विषन्) और जो द्वेष करता हुआ (न शपाति) हमको शाप देता है (तं) उसका (सर्वे देवाः) सब देव (धूर्वन्तु) नाश करें । (मम अन्तर वर्म) मेरा आंतरिक कवच (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हमारे वीरोंका वीर्य ऐसा हो कि हमारा नाश करनेकी इच्छा करनेवाले सब शत्रु हमसे सदा दूर रहें और हमतक वे कभी न पहुच सकें । उनके शस्त्र भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥

सब शस्त्र हमसे दूर गिरें और हमारे शत्रुओंपर ही सब शस्त्र गिरते रहें ॥ २ ॥

कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जातिवाला या परजातिका, कुलीन या हीन, कोई भी क्यों न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा नाश करनेकी चेष्टा करता है तो उसका नाश शस्त्रोंसे करना योग्य है ॥ ३ ॥

जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या बुरे शब्द बोलता है, सब सज्जन उसको दूर करें । मेरा आंतरिक कवच सत्यज्ञान ही है ॥ ४ ॥



शत्रु-नाशन-सूक्त

आन्तरिक कवच

इस सूक्तमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही है वह आंतरिक कवचकी है। देशके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस नहीं सकते। ग्रामके कवच किले होते हैं इनके कारण शत्रु ग्राममें घुस नहीं सकते। शरीरके कवच लोहेके अथवा तारके बनाये जाते हैं जिनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर लगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है। शरीरके अंदर आत्मा और अंतःकरण है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये मिलकर अंतःकरण होते हैं, इनका सहयोग आत्माके लिये सदा रहता है। इस 'अंतःकरण' के लिये 'अंतः कवच' अवश्य चाहिये, जो इस शत्रुनाशन सूक्तने 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' शब्दों द्वारा बताया है। 'ज्ञानरूप कवच ही मेरा आंतरिक कवच' है। जिसके आत्मा और अंतःकरणका ज्ञानरूप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी भी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अजातशत्रु हो बना रहता है। इस ज्ञानरूप कवचके वर्णनमें जो ज्ञानवाचक 'ब्रह्म' शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है, वही परमेश्वर या परब्रह्मका वाचक है और इसलिये इस 'ब्रह्म' शब्दसे 'परमात्म विषयक आस्तिक्य बुद्धियुक्त ज्ञान' इतना अर्थ समझना योग्य है।

सूक्तके दो विभाग

इस सूक्तके दो विभाग हैं, प्रथम विभागमें प्रारंभसे चतुर्थ मन्त्रके तृतीय चरणतकके सब मन्त्र आते हैं और द्वितीय विभागमें चतुर्थ मन्त्रके चतुर्थ चरणका ही समावेश होता है। इन विभागोंको देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे बडा बोध मिलता है।

वैदिकधर्मका साध्य--ब्राह्म कवच

'परमात्माकी भक्तिसे परिपूर्ण सत्य सनातन ज्ञान ही मेरा कवच है' इस ब्राह्म कवचसे सुरक्षित होनेपर मुझे किसी भी शत्रुका भय नहीं, यह आत्मविश्वास मनुष्यमें उत्पन्न करना वैदिक धर्मका साध्य है। यह भाव मनुष्यमात्रमें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा है। परंतु यह ज्ञान समय समयपर थोडेसे परिशुद्ध महात्माओंमें ही उत्पन्न होता है और उनसे भी थोडे संतोंमें इसका साक्षात् अनुभव होता है, यह बात हम इतिहासमें देखते हैं। इसलिये यद्यपि वेदका यह साध्य है, तथापि सब मनुष्योंमें यह साध्य साक्षात् प्रत्यक्षमें आना कठिन है इसमें भी संदेह नहीं है। इसलिये सर्व साधारण मनुष्य आत्मिक दिव्य शक्तिकी शरण जानेकी अपेक्षा मतभेदका निश्चय करनेके समय शारीरिक पाशवी शक्तिका ही आश्रय लेते हैं। अतः इस प्रकार प्रथम विभागके मंत्र पाशवी शक्तिका विचार करते हुए साधारण जनोंका मार्ग बता रहे हैं और द्वितीय विभागका मंत्रभाग आत्मिक दिव्य शक्तिका मानवी अंतिम ध्येय बता रहा है।

'आत्मिक शक्ति या आत्मिक ज्ञान ही मेरा सबसे बडा कवच है, जिससे मैं सब प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रह सकता हूं, मेरे अंदर अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे स्थिर हो, तो जो जो मेरे पास आवेंगे उनके अंदरसे भी शत्रुताका भाव दूर हो जायगा।'

इत्यादि वैदिक धर्मकी शिक्षा अन्तिम साध्य है, मनुष्यको यही बात अंतमें स्वीकार करनी है, परंतु यह स्वीकार बाह्य दबावसे नहीं होना चाहिये, अपितु अंतःस्फूर्तिसे ही होना चाहिये, अपना स्वभाव ही ऐसा बनाना चाहिये। इसी भावसे मनुष्यका सबसे अधिक कल्याण है।

अन्य कवच--क्षात्र कवच

शरीरके, नगरोंके तथा देशोंके अन्यान्य कवच उक्त विश्वासके अभावमें आवश्यक ही हैं। स्वसंरक्षणके शस्त्रास्त्र आदि सब इस अवस्थामें ही सहायक हैं। अर्थात् जबतक जनता पूर्वोक्त अधिकारके लिये योग्य नहीं होती, तबतक शूरवीर क्षत्रियगण राष्ट्रका संरक्षण इन शस्त्रास्त्रोंसे करें। ये क्षात्र साधन हैं। ज्ञान कवचसे सुरक्षित होना ब्राह्म-साधन और लोहेके कवचों तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुरक्षित होना क्षात्र-साधन है। ब्राह्मसाधनको स्वीकार करने योग्य जनताकी उन्नति धर्मसाधनसे करनी चाहिये और जबतक उतनी उन्नति नहीं होती, तबतक क्षात्रसाधनसे शत्रुओंका प्रतिकार करना योग्य है। क्षात्रसाधनोंसे युद्धोंके बहुत होनेसे ही मनुष्य इन साधनोंकी क्रूरताका अनुभव करता है और ब्राह्मसाधनको अपनानेका यत्न करता है।

इस प्रकार युद्ध भी मनुष्यको ब्राह्मसाधनतक पहुंचानेवाले मार्गदर्शक बनते हैं।

दासभावका नाश

तृतीय मन्त्रमें कहा है कि 'जो अपना या पराया हमें दास

बनानेकी चेष्टा करता है उसका नाश करना चाहिये।' राष्ट्रीय पारतन्त्र्य शारीरिक दास भावका द्योतक है, इसके अतिरिक्त मानसिक, बौद्धिक तथा धार्मिक पारतन्त्र्य भी है और ये सबसे अधिक घातक हैं। किसी प्रकारका भी पारतन्त्र्य जो अपने नाशका कारण हो वह स्वीकार नहीं करना चाहिये, आर्योंको दास कभी नहीं बनना चाहिये। स्वाधीनता ही मनुष्यका साध्य है। ज्ञान और पुरुषार्थसे स्वाधीनता अर्थात् बन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसका भी आशय यही है। मनुष्यके सब दुःख दासत्वके कारण हैं। इसलिये कोई मनुष्य या कोई राष्ट्र दूसरे मनुष्यको या राष्ट्रको दासत्वमें दबानेका यत्न न करे और यदि कोई ऐसा प्रयत्न करे भी तो सब मनुष्य उसका विरोध करें।

शत्रुदमन

कांड ७, सूक्त ७०

(ऋषि. - अथर्वा। देवता - श्येनः, मन्त्रोक्ता ।)

यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥
यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत्सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥
अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव । आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥
अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥
अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अर्थ— (असौ यत् किं च मनसा) यह शत्रु जो कुछ भी मनसे और (यत् च वाचा) जो कुछ भी वाणीसे करता है तथा जो कुछ (यजुषा हविषा यज्ञैः जुहोति) यजु, हवि और यज्ञोंसे हवन करता है। (अस्य तत् संविदाना निर्ऋतिः) इसका वह उद्देश्य जाननेवाली संहारशक्ति (सत्यात् पुरा मृत्युना आहुतिं हन्तु) यज्ञकी पूर्णता होनेके पूर्व ही मृत्युसे उसकी आहुति नष्ट करे ॥ १ ॥

(यातुधानाः रक्षः निर्ऋतिः) यातना देनेवाले, राक्षस और विनाशशक्ति ये सब (आत् उ अस्य सत्यं अनृतेन घ्नन्तु) निश्चयपूर्वक इस दुष्ट शत्रुके सत्यका भी अनृतसे घात करें। (इन्द्र-इषिताः देवाः) इन्द्र द्वारा प्रेरित देव (अस्य आज्यं मथ्नन्तु) इस दुष्ट शत्रुके घृतको मथें और (यत् असौ जुहोति तत् मा संपादि) जिस उद्देश्यसे यह हवन करता है वह सिद्ध न हो ॥ २ ॥

(अजिर-अधिराजौ संपातिनौ श्येनौ इव) शीघ्रगामी पक्षिराज बाज जैसे एक दूसरेपर आघात करते हैं, उसी प्रकार (यः कः च नः अभि अघायति) जो कोई हमें पाप या कष्ट देता है उस (पृतन्यतः आज्यं हतां) सेनावाले शत्रुका घी नष्ट करें ॥ ३ ॥

(ते उभौ बाहू अपाञ्चौ) तुझ शत्रुके दोनों बाहू मैं पीछे मोडकर बांधता हूं तथा (आस्यं अपि नह्यामि) तेरा मुंह भी बांध देता हूं। (अग्नेः देवस्य तेन मन्युना) अग्निदेवके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरे हविका मैं नाश करता हूं ॥ ४ ॥

(ते बाहू अपि नह्यामि) तुझ शत्रुके दोनों बाहुओंको बांधता हूं। (आस्यं अपि नह्यामि) मुखको भी बांधता हूं। (घोरस्य अग्नेः तेन मन्युना) भयानक अग्निके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरी हविका मैं नाश करता हूं ॥ ५ ॥

जो शत्रु अपने (पृतन्यत.) सैन्यसे हमें सताता है और (न. अघायति) हमें पापी युक्तियोंसे विविध कष्ट देता है, उस दुष्ट शत्रुके अन्य सब यज्ञादि प्रयत्न भी सफल न हों। ऐसे दुष्ट शत्रु जो भी सत्य कर्म करते हैं उसका उद्देश्य इतना ही होता है कि उससे उनकी शक्ति बढे और उस शक्तिका उपयोग हमें दबानेकी युक्तियोंमें वे करें। दुष्ट लोग जो कुछ सत्कर्म करते हैं, वह सत्यके प्रेमसे नहीं करते, अपितु अपनी शक्ति बढानेके लिये करते हैं और वे मनमें यही इच्छा धारण करते हैं, कि इस शक्तिसे हम निर्बलोंको लूटें और अपने भोग बढावें। अत इस सूक्तमें ऐसी प्रार्थना की है कि ऐसे दुष्टोंके सत्कर्म भी सफल न हों और उनकी शक्ति भी न बढे, दुष्टोंकी शक्ति घटनेसे जगतमें शान्ति रह सकती है।

शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १३४

(ऋषि – शुक्र। देवता – मन्त्रोक्ता, वज्र.।)

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥
अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् । वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥
यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं ऋतस्य वज्रः तर्पयतां) यह सत्यका शस्त्र तृप्ति करे, यह (अस्य राष्ट्रं अपहन्तु) इसके शत्रु-भूत राष्ट्रका नाश करे और (जीवितं अपहन्तु) शत्रुके जीवनका भी नाश करे। (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रका पराभव करता है, उसी प्रकार यह शत्रुकी (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनोंको काटे और (उष्णिहा प्र शृणातु) धम-नियोंको काट देवे ॥ १ ॥

(उत्तरेभ्यः अधरः अधरः) उत्कृष्टोंसे नीचे और नीचे होकर (पृथिव्याः गूढः) पृथ्वीमें छिपकर रहे और (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे। तथा (वज्रेण अवहतः शयाम्) वज्रसे मारा जाकर पड़ा रहे ॥ २ ॥

हे वज्र ! (यः जिनाति तं अन्विच्छ) जो हानि करता है उसको ढूंढ निकाल। (यः जिनाति तं इत् जहि) जो कष्ट पहुंचाता है उसको मार डाल। (त्वं जिनतः सीमन्तं अन्वञ्चं अनुपातय) तू दुःख देनेवालेके सिरको सीधा गिरा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वज्र सत्यका संरक्षण करता है और असत्यका नाश करता है। जो इस राष्ट्रका नाश करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस वज्रसे हो। यह वज्र उनका नाश करे जो दूसरोंको सताते हैं ॥ १ ॥

शत्रुका अध पतन होवे, वे अपना सिर कभी ऊपर न करें और अन्तमें वज्रसे मारे जाकर भूमिपर गिर जावें ॥ २ ॥

जो बिना कारण दूसरेका नाश करता है, उसीका नाश करना योग्य है। उसी दुष्टका सिर काटा जावे ॥ ३ ॥

वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग

वज्र आदि शस्त्रास्त्रोंका उपयोग जनताको हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके कार्यमें ही किया जावे। सत्य पक्षकी सहायता करने और असत्पक्षके विरोध करनेके कार्यमें इन शस्त्रोंका उपयोग किया जावे। असत्पक्षके लोग समय-समयपर प्रबल भी हो जाएं तथापि वे दिन प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं। उनका पक्ष ही ऐसा होता है, कि वह उनको उठने नहीं देता। जिसके कारण जनताको हानि होती है, सब मिलकर उसका नाश करें।

*

शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १३५

(ऋषिः - शुक्रः । देवता - मन्त्रोक्ता, वज्रः ।)

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कु॒र्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे । स्क॒न्धान॒मुष्य॑ शा॒तय॑न्वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥ १ ॥
यत्पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः । प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥ २ ॥
यद्गिरा॑मि॒ सं गि॑रामि समु॒द्र इ॑व संगि॒रः । प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒गीर्य॒ सं गि॑रामो अ॒मुं व॒यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अश्नामि बलं कुर्वे) जो मैं खाऊं उससे मैं अपना बल बढाऊं। (इत्थं वज्रं आददे) इस प्रकार मैं वज्र हाथमें लेता हूं और (अमुष्य स्कन्धान् शातयन्) उस शत्रुके कन्धोंको काटता हूं (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रको काटता है ॥ १ ॥

(यत् पिबामि संपिबामि) जो मैं पीता हूं वह ठीक ही पीता हूं। (समुद्रः इव संपिबः) समुद्र जैसे पीता है। (अमुष्य प्राणान् संपाय) उस शत्रुके प्राणोंको पीकर (वयं अमुं सं पिबामः) हम,उसको पी जाते हैं ॥ २ ॥

(यत् गिरामि संगिरामि) जो मैं निगलता हूं उसको ठीक गलेके नीचे उतारदेता हूं (समुद्रः इव संगिरः) समुद्र जैसे निगलता है। (अमुष्य प्राणान् संगीर्य) उसके प्राणोंको निगलकर (वयं अमुं संगिरामः) हम उसको गलेके नीचे उतार देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ - जो मैं खाता हूं और गलेके नीचे उतारता हूं, उसका मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूं। जिस प्रकार समुद्र नदियों और वृष्टि जलोंको पीता है और अपनाता है, उसी प्रकार मैं भी खाये और पीये हुए अन्नरसोंको अपनाता हूं और उनसे अपना बल बढाता हूं और उस बलसे युक्त होकर हाथमें सत्य पक्षकी रक्षाके लिये शस्त्र लेता हूं और दुष्टोंका नाश करता हूं ॥ १-३ ॥

अपना बल बढाकर उस बलका उपयोग दुष्टोंके दमन करनेके कार्यमें करना चाहिये।



शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १०३

(ऋषिः - उच्छोचन. । देवता - इन्द्राग्नी, बहुदेवतम् ।)

सं॒दानं॑ वो॒ बृह॒स्पतिः॑ सं॒दानं॑ सवि॒ता क॑रत् । सं॒दानं॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा सं॒दानं॒ भगो॑ अ॒श्विना॑ ॥ १ ॥

अर्थ— हे शत्रुओ ! (बृहस्पतिः वः संदानं करत्) बृहस्पति तुम्हारे टुकडे करे, (सविता संदानं) सविता नाश करे, (मित्रः संदानं, अर्यमा संदानं) मित्र और अर्यमा टुकडे करें, (भगः अश्विना संदानं) भग और अश्विदेव तुम्हारा नाश करें ॥ १ ॥

भावार्थ— ज्ञानी, शूर, मित्र, न्यायकारी, धनवान्, अश्ववान् ये सब राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपनी अपनी शक्तिसे शत्रुका संहार करें, कोई डर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥

सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान् । इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥
अमी ये युधमायन्ति केतून्कृत्वानीकशः । इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— शत्रुओंके (परमान् अवमान् अथो मध्यमान् सं सं सं द्यामि) दूरके, पासके और बीचके सैनिकोंको काटता हूं, (इन्द्रः तान् परि अहाः) इन्द्र उन सबका निवारण करे। हे अग्ने ! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे अपने आधीन रख ॥ २ ॥

(केतून् कृत्वा) झण्डोंको उठाकर (अमी ये अनीकशः युद्धं आयन्ति) ये जो अपनी अपनी टुकडियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, (तान् इन्द्रः परि अहाः) उनका इन्द्र निवारण करे। हे अग्ने ! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे बांधे रख ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रुसेनामें जो पासवाले, बीचके और दूरके सैनिक हैं, उनका निवारण किया जावे और जो जीवित मिले उनको अपने आधीन किया जावे ॥ २ ॥

जो सैनिक झण्डोंको उठाकर छोटे छोटे टुकडियोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वोक्त प्रकार नाश किया जावे ॥ ३ ॥

शत्रुका दमन

जिस समय राष्ट्र रक्षाका प्रश्न उपस्थित हो, उस समय (बृहस्पति) ज्ञानी जन, (सविता) शूर वीर, (मित्र) मित्रदलके लोग, (अर्य-मा) न्याय करनेवाले, कौन श्रेष्ठ है और कौन नहीं इसका निश्चय करनेवाले, (भग) ऐश्वर्यवान्, (अश्विनौ) अश्ववाले, अर्थात् घोडोंपर सवार होनेवाले वीर, (इन्द्र) नरेन्द्र मंडल, शूर, धीर, (अग्नि) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये कटिबद्ध होकर हर प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका बचाव करें। इनमेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी अपनी शक्तिके अनुसार जो हो सके, वह हरएक मनुष्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे।

इस सूक्तमें जो देवतावाचक नाम आये हैं, वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदेदार हैं, देव राष्ट्रमें उनके कार्य निश्चित हैं। वे ही कार्य करनेवाले मानवराष्ट्रके ओहदेदार भी उसी प्रकारके अपने अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है। जैसा देव करते हैं वैसा ही मनुष्य यहां करें और देव बनें।

शत्रुका पराजय

कांड ६, सूक्त १०४

(ऋषि - प्रशोचन । देवता - इन्द्राग्नी, बहवो देवता ।)

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि । अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥

अर्थ— (आदानेन संदानेन) पकडके और वशमें करके (अमित्रान् आ द्यामसि) शत्रुओंको हम नष्ट करते हैं उन (एषां ये च प्राणाः अपानाः) इनके जो प्राण और अपान हैं उन (असून् असुना सं अच्छिदम्) प्राणोंको प्राणोंसे ही काट डालता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुसे पकडकर उनको वशमें रखकर हम उनका नाश करते हैं। उनके प्राणोंका बल ही हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् । अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥
ऐनान्द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ । इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रेण तपसा संशितं) इन्द्रके द्वारा तपसे तीक्ष्ण किया हुआ (इदं आदानं अकरं) यह पाश मैंने बनाया है, (ये अत्र नः अमित्राः सन्ति) जो यहां हमारे शत्रु हैं, हे अग्ने ! (तान् त्वं आ द्य) उनका तू नाश कर ॥ २ ॥

(इन्द्राग्नी एनान् आ द्यतां) इन्द्र और अग्नि इनका नाश करें (सोमः राजा च मेदिनौ) सोम और राजा भी आनंदसे यह कार्य करें। (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंके साथ इन्द्र (नः अमित्रेभ्यः आदानं कृणोतु) हमारे शत्रुओंको पकड कर रखे ॥ ३ ॥

भावार्थ— तपके द्वारा बनाया यह पाश है उससे शत्रुको बांध और उसका नाश कर ॥ २ ॥
सब देव शत्रुनाश करनेके कार्यमें हमारी सहायता करें ॥ ३ ॥

शत्रुको पकडना

शत्रुको पकडकर उसको बांध देना चाहिये। उसकी शत्रुता यदि नष्ट हो जाए तो शत्रु भी नष्ट हो जाता है। मनुष्यके तपके प्रभावसे उसका शत्रु क्षीण होता है और उसमें तप न होनेसे शत्रु भी प्रबल हो जाता है।

शत्रुके तेजका नाश

कांड ७, सूक्त १३

(ऋषिः – अथर्वा द्विषोवर्चोहर्तुकामः । देवता – सोमः ।)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे । एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥
यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ । उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

अर्थ— (यथा उद्यन् सूर्यः) जैसे उदय होता हुआ सूर्य (नक्षत्राणां तेजांसि आददे) तारोंके प्रकाशोंको हर लेता है, (एवा द्विषतां स्त्रीणां च पुंसां च) उसी प्रकार द्वेष करनेवाले स्त्रियों और पुरुषोंका (वर्चः आददे) तेज मैं हर लेता हूं ॥ १ ॥

(सपत्नानां यावन्तः) शत्रुओंमेंसे जितने (मां आयन्तं प्रतिपश्यथ) मुझे आते हुए देखते हैं, उन (द्विषतां वर्चः आददे) सब शत्रुओंका तेज मैं उसी प्रकार खींच लेता हूं, (सुप्तानां सूर्यः इव) जैसे सोते हुए मनुष्योंका तेज सूर्य खींच लेता है ॥ २ ॥

भावार्थ— शत्रु स्त्री हो अथवा पुरुष हो, वह सोता हो अथवा जागता हो, जो कोई शत्रुता करता है उसका तेज कम करना चाहिये, अर्थात् उससे अपना तेज बढाना चाहिये ॥ १–२ ॥

शत्रुका तेज घटाना

इस सूक्तमें शत्रुका तेज घटानेका उपाय कहा है। नक्षत्र और सूर्यकी उपमासे यह विषय कहा है। सूर्यके उदय होनेके पूर्व नक्षत्र चमकते रहते हैं, परंतु सूर्यके उदय होते ही नक्षत्रोंका तेज हलका हो जाता है। इसमें नक्षत्रोंका तेज घटानेके लिये सूर्य कोई यत्न नहीं करता है, अपितु सूर्य अपना तेज बढाता है जिससे आप ही आप नक्षत्रोंका तेज घट जाता है।

इसी प्रकार द्वेष करनेवालोंका विचार न करते हुए अपना तेज बढानेका यत्न करना चाहिये। जो शत्रुके तेजको घटानेका यत्न करेंगे वे पंछेगे, परंतु जो सूर्यके समान अपना तेज बढानेका यत्न करेंगे उनका अभ्युदय होगा। शत्रुका विचार करनेके समय 'सूर्य और नक्षत्रोंका दृष्टान्त' ध्यानमें रखें। इस सूक्तमें एक और भी बात बडे महत्वकी बताई है कि सोते हुए मनुष्योंका तेज सूर्य हर लेता है। अर्थात् सूर्यके उदय होनेपर भी जो सोते रहते हैं, वे मनुष्य निस्तेज हो जाते हैं। इसी लिए सूर्योदयसे पूर्व ही निद्रात्यागका विधान है।



शत्रुको दूर करना

कांड ६, सूक्त ९७

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - मित्रावरुणौ।)

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥
स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत्क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ २ ॥
इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

अर्थ- (यज्ञः अभिभूः) यज्ञ शत्रुका पराभव करता है, (अग्निः अभिभूः) अग्नि शत्रुका पराजय करता है, (सोमः अभिभूः) सोम शत्रुका पराभव करता है, (इन्द्रः अभिभूः) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है (यथा अहं विश्वाः पृतनाः अभि असानि) जिससे मैं भी सब सेनाओंका पराभव करूं। (एवा) इसलिए मैं भी (अग्निहोत्रा इदं हविः विधेम) अग्निहोत्र करनेवाला होकर इस हविका समर्पण करता हूं ॥ १ ॥

हे (विपश्चिता मित्रावरुणा) ज्ञानी मित्र और वरुण! आपके लिये (स्वधा अस्तु) यह अन्नभाग हो। (प्रजावत् क्षत्रं इह मधुना पिन्वतं) प्रजायुक्त क्षत्रिय बल यहां सींचो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरं बाधेथां) दुर्गतिको दूर करके दूर ही नष्ट करो और (कृतं चित् एनः) किये हुए पापको भी (अस्मत् प्रमुमुक्तं) हमसे दूर करो ॥ २ ॥

हे (सखायः) मित्रो! (उग्रं ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं वीरं) उग्र स्वभावयुक्त, गांवको जीतनेवाले, गौको जीतनेवाले अथवा इंद्रियोंको वश करनेवाले, वज्रधारण करनेवाले वीर, (ओजसा अज्म प्रमृणन्तं) बलसे शत्रुबलका नाश करनेवाले और (जयन्तं) विजय करनेवाले (इन्द्रं अनु सं रभध्वं) इन्द्रके अनुकूल अपने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ- यज्ञ अर्थात् परोपकार, अग्नि, सोमादि औषधि, शूर वीर ये सब अपने अपने शत्रुओंको दूर करते हैं। उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूंगा। मैं इस विजयके लिये ऐसा आत्मसमर्पण करूंगा, जैसा अग्निहोत्रमें हविर्द्रव्य अपने आपका समर्पण करता है ॥ १ ॥

इस राष्ट्रमें सब क्षत्रियोंके उत्तम शूरवीर बालबच्चे हों और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रबंध करें, कि उससे सब दुर्गति नष्ट होवे और सब पाप दूर होवें ॥ २ ॥

जो शत्रुके गांवको जीतनेवाला, शूरवीर, वज्रधारण करनेवाला अपने बलसे शत्रुसेनाका नाश करता है, उस विजय संपादन करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥



इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रः प्रथमं असुरेभ्यः नैर्हस्तं चकार) इन्द्रने पहिले असुरोंको निहत्था अर्थात् निर्बल बनाया। अतः (स्थिरेण मेदिना इन्द्रेण) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे (मम सत्वानः जयन्तु) मेरे सत्ववान् वीर लोग विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपना बल इतना रखना चाहिए कि अपने सम्मुख शत्रु निर्बल सिद्ध हों, इस प्रकार अपना बल बढानेसे और योजनापूर्वक शत्रुको कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होगी।

शत्रुपर विजय

कांड ६, सूक्त ६६

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - चन्द्रः, इन्द्रः ।)

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥
आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ । निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥२॥
निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि । अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहे ॥ ३ ॥

अर्थ— (नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु) हम पर हमला करनेवाला शत्रु निहत्था अर्थात् निर्बल होवे। (ये सेनाभिः अस्मान् युधं आयन्ति) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र ! (महता वधेन समर्पय) उनको बडे शस्त्रसे मार डाल। (एषां अघहारः विविद्धः द्रातु) इनका विशेष घात करनेवाला वीर विद्ध होता हुआ भाग जावे ॥ १ ॥

हे (शत्रवः) शत्रुओ ! (ये आतन्वानाः) जो तुम धनुष्य तानते हुए (आयच्छन्तः अस्यन्तः च धावथ) खींचते हुए और बाण छोडते हुए दौडते चले आते हो, तुम (निर्हस्ताः स्थन) हस्तरहित हो जाओ। (इन्द्रः अद्य वः पराशरीत्) इन्द्र आज तुमको मार डाले ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) सब शत्रु हस्तरहित हों, (एषां अंगा म्लापयामसि) इनके अंगोंको हम निर्बल करते हैं और (एषां वेदांसि शतशः विभजामहे) इनके धनोंको हम सैकडों प्रकारसे बांटते हैं ॥ ३ ॥

शत्रुपर विजय

कांड ६, सूक्त ६७

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - चन्द्रः, इन्द्रः ।)

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः पूषा च) इन्द्र और पूषा (सर्वतः वर्त्मानि परि सस्रतुः) सब मार्गोंमें भ्रमण करें, जिससे (अमित्राणां सेनाः परस्तरां मुह्यन्तु) शत्रुसेनाएं दूरतक घबरा जावें ॥ १ ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः । तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥
एषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि । पराङमित्र एषत्ववाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम (मूढाः) भ्रान्त होकर (अशीर्षाणः अहयः इव चरत) कटे हुए सिरवाले सर्पोंके समान चलो। (अग्निमूढानां तेषां वः) हमारे आग्नेयास्त्रसे मोहित हुए तुममेंसे (वरंवरं इन्द्रः हन्तु) वरिष्ठ वरिष्ठ वीरको इन्द्र मार डाले ॥ २ ॥

(एषु वृषा हरिणस्य अजिनं आनह्य) इन हमारे वीरोंको बलसे युक्त हरिणका चर्म पहिना। हमारे सैन्यसे शत्रुसैन्यमें (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर। (अमित्रः पराङ् एषतु) शत्रु परे भाग जावे और (गौः अर्वाची उप एषतु) उसकी भूमि या गौवें हमारे पास आजावे ॥ ३ ॥

ये तीन सूक्त शत्रुको पराजित करनेके हैं। शत्रुको मोहित करके उन्हें डरा कर ऐसे भगा देना चाहिये कि उनमेंसे कोई भी न बचे। उनमें जो शूर हों उनको मार डालना चाहिये और ऐसा पराक्रम करना चाहिये, कि जिससे शत्रुके मनमें डर पैदा हो जावे। ये तीनों सूक्त सरल हैं इसलिये अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शत्रुको दबाना

कांड ५, सूक्त ८

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – नानादेवत्यं, अग्निः, विश्वेदेवाः, इन्द्रः ।)

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह । अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु । इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।
तेभिः शकेम वीर्यं१ जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥
यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति ।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (वैकङ्कतेन इध्मेन) श्रुवा [एक प्रकारका वृक्ष] वृक्षके इन्धनसे (आज्य आ वह) देवोंके लिये घृत पहुंचा और (तान् इह मादय) उनको यहां प्रसन्न कर, वे (सर्वे) सब (मे हवं आयन्तु) मेरे यज्ञमें आवें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (मे हवं आयाहि) मेरे यज्ञमें आ। जो (इदं करिष्यामि तत् शृणु) यह प्रार्थना मैं करूं, उसे तू सुन। (इमे ऐन्द्रा अतिसराः) ये इन्द्र सबन्धी अग्रगामी पुरुष (मे आकूतिं सं नमन्तु) मेरे संकल्पके अनुकूल हों। हे (तनू-वशिन् जातवेद) शरीरको वशमें करनेवाले ज्ञानवान् ! (तेभिः वीर्यं शकेम) उन प्रयत्नोंसे वीर्यकी प्राप्ति हम कर सकें ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (असौ अ-देवः सन्) यह देवता रहित होकर (अमुतः यत् चिकीर्षति) वहांसे जो कुछ घात करना चाहता है, (तस्य हव्यं अग्निः मा वाक्षीत्) उसका हव्य अग्नि न पहुचावे (देवाः अस्य हवं मा उपगुः) देव भी इसके यज्ञमें न जावें। प्रत्युत (मम एव हवं एतन) मेरे ही यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— अग्नि इस यज्ञमें देवोंके लिये घृतकी आहुतियां पहुंचावे और यहां देवोंको आनन्दित करे, जिससे सब देव संतोषसे मेरे यज्ञमें आते रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! तू मेरे यज्ञमें आ और जो मैं प्रार्थना करता हूं उसे सुन। ये जो इन्द्रके संबंधमें कार्य करनेवाले हैं, वे मेरे अनुकूल कार्य करें। हे शरीरको वशमें करनेवाले ज्ञानी ! उन प्रार्थनाओंसे हमको वीर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

*

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।
अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥ ४ ॥
यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये । इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ ६ ॥
यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन्प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥ ७ ॥
यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् । कृण्वे३हमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अतिसराः) अग्रगामी पुरुषो ! (अतिधावत) वेगसे दौडो । (इन्द्रस्य वचसा हत) इन्द्रके वचनसे मारो । (अविं वृक इव मथ्नीत) जैसे भेडको भेडिया मारता है, उसी प्रकार शत्रुको मथ डालो । (सः जीवन्) वह शत्रु जीवित ही (वः मा मोचि) तुमसे न छूट जावे । तुम (अस्य प्राणं अपिनह्यत) इसके प्राणको भी बांध डालो ॥ ४ ॥

(अमी यं ब्रह्माणं) ये जिस ज्ञानीको (अपभूतये पुरः दधिरे) अवनतिके लिये आगे करते हैं । हे इन्द्र ! (सः ते अधस्पदं) वह तेरे पांवके नीचे होवे, (तं मृत्यवे प्रत्यस्यामि) उसको मृत्युके लिये फेंकता हूं ॥ ५ ॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि शत्रुओंने देवोंकि नगरोंपर चढाई की है और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानको ही अपना कवच बनाया है और (तनूपानं परिपाणं कृण्वाना) शरीररक्षक साधन भी बनाते हुए (यत् उप ऊचिरे) जो कुछ कहते हैं (सर्वं तत् अरसं कृधि) उस सबको शक्तिहीन करो ॥ ६ ॥

(असौ यान् अतिसरान् चकार) इसने जिनको अग्रगामी बनाया था और (च यान् कृणवत्) जिनको अभी बनाया है, हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (त्वं तान् पुनः प्रतीचः आकृधि) तू उनको पुनः वापस लौटा दे । (यथा अमुं जनं तृणहाम्) जिससे उस जनसमूहको हम मार डालें ॥ ७ ॥

(यथा इन्द्रः उद्वाचनं लब्ध्वा) जैसे इन्द्रने बडबडानेवाले शत्रुको प्राप्त करके उसको (अधस्पदं चक्रे) पांवके नीचे दबा दिया (तथा अहं) उस प्रकार मैं (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) सदाके लिये (अमून् अधरान् कृण्वे) इन शत्रुओंको नीचे करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे देवो ! जो वस्तुतः प्रभुकी भक्ति न करता हुआ कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी आहुतियां अग्नि भी देवोंको न पहुंचावे और देव भी इसके यज्ञमें न जावें । अपितु वे मेरे यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे अग्रगामी पुरुषो ! वेगसे शत्रुपर हमला करो । इन्द्रकी आज्ञासे शत्रुका वध करो । जैसे भेडिया भेडको मारता है, उसी प्रकार तुम शत्रुको मार डालो । शत्रुके प्राण लो । कोई शत्रु तुम्हारे हाथसे न बच पावे ॥ ४ ॥

जो शत्रु अपने विद्वान् पुरुषोंको भी अवनतिके कार्यमें लगाते हैं, उनकी अधोगति होवे, मैं तो उसको मृत्युके लिये समर्पित करता हूं ॥ ५ ॥

यदि देवोंके नगरोंपर शत्रुओंने चढाई की है और अपनी शरीररक्षाके लिये कवचादिके द्वारा अच्छी तैयारी की है तथा अपने सब ज्ञानको भी इस युद्धकर्ममें ही लगा दिया है, ऐसे शत्रुका यह सब प्रयत्न विफल होवे ॥ ६ ॥

जो शत्रु अपने वीरोंको आगे करके हमला करता है, उस शत्रुके सब प्रयत्न उलटे हो जावें, जिससे सब शत्रुओंको हम मार डालें ॥ ७ ॥

जिस प्रकार इन्द्र घमंडी शत्रुको भी नीचे दबाता है, उसी प्रकार मैं सदा अपने शत्रुको नीचे दबाकर रखूं ॥ ८ ॥

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य । अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्यहं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥

अर्थ — हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (अत्र उग्रः एनान् मर्मणि विध्य) यहां शूर होकर इनके मर्मोंको छेद दे । हे इन्द्र ! (अत्र एव एनान् अभितिष्ठ) यहीं इन पर चढाई कर । (अहं तव मेदी) मैं तेरा मित्र होकर रहता हूं । हे इन्द्र ! (त्वा अनु आरभामहे) तेरे अनुकूल हम कार्यारम्भ करें और (तव सुमतौ स्याम) तेरी सुमतिमें रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! तू उग्र होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंको छेद, इन शत्रुओंपर चढाई कर । मैं तेरा मित्र होकर तेरे अनुकूल कार्य करता हूं और तेरी सुमतिमें स्थिर रहता हूं ॥ ९ ॥

शत्रुको दबाना

शत्रुका नाश

यह सूक्त शत्रुके नाश करनेका उपदेश देनेवाला है। इसके पहिले दो मंत्रोंमें परमेश्वरकी प्रार्थना करके बल प्राप्त करनेका उपदेश किया है—

ईश प्रार्थना

अग्निमें घृतकी आहुतियां देकर यजमान प्रार्थना करता है कि—' मैं देवताओंको लक्ष्य करके ये आहुतियां इस यज्ञमें दे रहा हूं, ये आहुतियां देवताओंको प्राप्त हों और इससे देवता सन्तुष्ट होकर मेरी प्रार्थना सुनें। प्रभुकी भी मैं प्रार्थना करता हूं कि वह मेरी प्रार्थना सुने और सब उसकी शक्तियां मेरे अनुकूल हों और मुझे बहुत बल प्राप्त हो।' (मं १-२)

नास्तिकोंकी असफलता

जिस पुरुषके मनमें परमात्माकी भक्ति नहीं होती, उसको नास्तिक अथवा भक्तिहीन मनुष्य कहते हैं। युद्ध उपस्थित होनेपर दोनों पक्षके लोग प्रभुकी प्रार्थना करते हैं। सत्पक्षी जैसे अपने यशके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता है, उसी प्रकार दुष्ट पक्षके लोग भी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार दोनों ओरके सैनिक विजय प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने लगें और यज्ञयाग करने लगें, तो प्रभु किस पक्षकी सहायता करता है और किसकी नहीं करता, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उपदेश लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है—

'जिस समय नास्तिक भक्तिहीन दुष्ट मनुष्य अपने विजयके लिये यज्ञयाग अथवा ईशप्रार्थना आदि करता है, उस समय अग्नि उसकी आहुतियां देवताओंके प्रति नहीं पहुंचाता और देवता भी उसके यज्ञमें नहीं जाते, क्योंकि देवता केवल आस्तिक भक्तोंके यज्ञमें ही जाते हैं।' (मं. ३)

इस मंत्रमें स्पष्ट हो जाता है, कि दोनों पक्षके लोग प्रार्थना करें भी, तो भी धार्मिक लोगोंकी ही प्रार्थना परमेश्वर सुनता है, दुष्टोंकी प्रार्थनाएं कभी नहीं सुनता। इसलिये सत्यपक्षके लोग ही प्रार्थनासे ईश्वरीय बल प्राप्त करते हैं और यह बल असत्य पक्षके लोगोंको नहीं प्राप्त होता; इस कारण सदा अन्तमें सत्पक्षको ही विजय होती है। इसलिये चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि—' प्रभुकी आज्ञाके अनुसार शत्रुपर हमला करो, शत्रुको मार डालो, कोई शत्रु तुम्हारे हमलेसे जीता न बचे।' (मं. ४) यह बल सत्यपक्षको ही प्राप्त होता है, इसलिये सत्यका पक्ष व्यवहारकी दृष्टिसे अशक्त प्रतीत हो तो भी वह आत्मिक बलकी दृष्टिसे शक्तिसंपन्न होनेके कारण अन्तमें विजयी होता है। असत्पक्षवालोंको परमेश्वरकी भक्तिसे लाभ नहीं होता, यही बतानेके लिये पंचम और षष्ठ मंत्रोंका उपदेश है—

' जो असत्पक्षका आश्रय करनेवाले लोग अपनी विजयके लिये ब्राह्मणको भी अपने अवनतिकारक कर्ममें अर्थात् उपासनादि कार्य करनेके लिये बाधित करते हैं, उनको परमेश्वर अवनत करता है और मृत्युतक पहुंचाता है। जो दुष्ट देवजनोंके मार्गोंपर हमला करके अपनी विजयके लिये उपासनादि कर्म करते रहते हैं और समझते हैं कि इससे हमारे

रक्षा होगी और हम सुरक्षित होंगे, ये भ्रममें रहते हैं, क्यों कि उनके ये सब प्रयत्न विफल ही होनेवाले हैं।' (मं. ५-६)

अर्थात् असत्यपक्षकी विजय कभी नहीं होगी। सदा सत्यका पक्ष ही जय प्राप्त करेगा। यह वैदिकधर्मका त्रिकालाबाधित- सिद्धान्त है। कोई इसको अन्यथा कर नहीं सकता।

अन्तिम तीनों मंत्रोंमें यही बात भिन्न रीतिसे कही है— ' जो दुष्ट शत्रु अपने सैनिकोंको आगे बढाकर वेगसे हमला करता है, उसका वह कार्य अन्तमें उसके विरुद्ध होजाता है। (मं. ७) ' अर्थात् बलके घमंडमें आकर शत्रु सत्यपक्षके नाश करनेकी जैसी जैसी तैयारी करता है, वैसा वैसा वह अधिकसे अधिक गिरता जाता है। बडे बड साम्राज्य इसी दुष्ट भावके कारण नाशको प्राप्त हुए हैं और वे कभी पुनः उठे नहीं, यह जान कर लोगोंको उचित है कि वे कभी अधर्मपथसे न चलें और दूसरोंके नाशसे अपनी उन्नति करनेके कार्य न करें। क्योंकि ऐसे कार्योंमें कदापि सफलता प्राप्त नहीं होगी।

' ऐसे घमंडी और घडबड करनेवाले शत्रुको नीचे दबाना चाहिये, यह सदा पालन करने योग्य नियम है।' (मं. ८) अर्थात् सज्जनोंको भी शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

शत्रुके नाशका उपाय

नवम मंत्रमें शत्रुका नाश करनेका उपाय बताया है—

(१) उग्रः अत्र मर्मणि विध्य- शूर होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंपर वेध कर। (मं. ९)

(२) अग्रैव एनान् अभितिष्ठ- यहीं उनका सामना कर अर्थात् उन शत्रुओंपर वेगसे हमला कर (मं. ९)

(३) अहं तव मेदी। तव सुमतौ स्याम। त्वा अन्वारभामहे- मैं तेरा मित्र होकर रहूं, तेरी सुमतिमें मैं रहूं और तेरे अनुकूल कार्य करूं। (मं. ९)

परमात्माके अनुकूल कार्य करनेका तात्पर्य धर्मानुकूल व्यवहार करना है। इस प्रकार धार्मिक व्यवहार करते हुए आत्मिक बल बढाकर, परमात्माके प्रेमी बनकर रहना और शत्रुका हमला उलटा देनेका सामर्थ्य भी अपने पास रखना, अर्थात् अपने पक्षको कमजोर न रखना चाहिए। इस प्रकार आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होनेसे सब युद्धमें विजय अवश्य ही प्राप्त होती है।

शत्रुओंको दूर करना

कांड ४, सूक्त ३

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - रुद्रः, व्याघ्रः।)

उदितस्त्रयो अक्रमन्व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग्देवो वनस्पतिर्हिरुङ्नमन्तु शत्रवः ॥ १ ॥
परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः । परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥

अर्थ— (व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः त्रयः) बाघ, भेडिया और चोर मनुष्य ये तीनों (इतः उदक्रमन्) यहांसे भाग जावें। (सिन्धवः हिरुक् यन्ति) नदियां नीचेकी ओर गतिसे जाती हैं, (देवः वनस्पतिः हिरुक्) दिव्य वनस्पति भी रोगोंको नीचेकी गतिसे भगा देती है, इसी प्रकार (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) शत्रु नीचे होकर झुके रहें ॥ १ ॥

(परेण पथा वृकः एतु) दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे। (उत परमेण तस्करः) और उससे भी दूरसे चोर चला जावे। (परेण दत्वती रज्जुः) दूरसे दांतवाली रस्सी अर्थात् सांप चली जावे। और (अघायुः परेण अर्षतु) पापी दूरसे भाग जावे ॥ २ ॥

भावार्थ— बाघ, भेडिया, और चोर यहांसे भाग जावें। जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचेकी ओर जाते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

भेडिया, चोर, सांप और पापी दुष्ट हम सबसे दूर भाग जाएं ॥ २ ॥

अक्ष्यौ३ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि । आत्सर्वान्विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥
व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि । आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥
यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति । पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥
मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः । निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥
यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः । इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— हे व्याघ्र ! (ते अक्ष्यौ) तेरी दोनों आंखोंको, (च ते मुखं) तेरे मुखको, (आत् च सर्वान् विंशतिं नखान्) और तेरे सब बीसों नखोंको हम (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

(दत्वतां प्रथमं व्याघ्रं) दांतवालोंमें पहिले बाघका, (आत् उ अहिं) और सांपका (अथो वृकं) और भेडियेका, (स्तेन अथो यातुधानं) चोर और लुटेरेका (वयं जंभयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ४ ॥

(अद्य यः स्तेन आयति) आज जो चोर आवे, (संपिष्टः सः अप अयति) चूर चूर हुआ हुआ वह हट जावे और वह (पथा अप ध्वंसेन एतु) मार्गोंके विनाशसे अर्थात् मार्गको भूलकर चला जावे और (इन्द्रः वज्रेण तं हन्तु) इन्द्र वज्रसे उसे मार डाले ॥ ५ ॥

(मृगस्य दन्ताः मूर्णाः) हिंस्र पशुओंके दांत तोड दिए गये (अपि पृष्टयः शीर्णाः उ) और उसकी पसलियां तोड दीं । (ते गोधा निम्रुक् भवन्तु) तेरी गोह नीचे हो जावे और (मृगः शशयुः नीचः अयत्) हिंस्र पशु लेटता हुआ नीचे भाग जावे ॥ ६ ॥

(यत् संयमः न वियमः) जिसका संयम किया जा चुका हो उसको विशेष दबावमें न रखो, परंतु (यत् न वियमः संयमः) जिसको विशेष दबावमें न रखा हो उसको अच्छी प्रकार संयममें रखो । यह (इन्द्रजाः सोमजाः) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जंभनं असि) अथर्वविद्यासे व्याघ्रादिको दबानेका उपाय है ॥ ७ ॥

भावार्थ— बाघकी आंखें, मुखके दांत और उसके बीस नाखून हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

तीक्ष्ण दांतवालोंमें बाघको, भेडियेको और सांपको तथा दुष्टोंमें चोर और लुटेरेको हम नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

आज जो चोर हमपर हमला करे उसका पूर्ण नाश हो और यदि वह बचे तो घबराकर अपना मार्ग भूल जाए । फिर शूर पुरुष अपने शस्त्रसे उसको काट दे ॥ ५ ॥

हिंस्र पशुके दांत तोडे जाएं और पसलियां काटी जाएं ताकि सब हिंस्र पशु नीचे मुख करके डरसे भाग जावें ॥ ६ ॥

जिसको उत्तम प्रकारसे काबूमें किया जा चुका है, उसको और अधिक दबावमें न रखो; परंतु जिसको काबूमें नहीं किया है, उसको अच्छी प्रकारसे दबावमें रखो । यह इन्द्र, सोम और अथर्वाका दुष्टोंको दमन करनेका उपाय है ॥ ७ ॥

शत्रुओंको दूर करना

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय

इस सूक्तमें दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है । यह सूक्त बडे व्यापक अर्थवाला है इसलिये इसको पढनेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा । अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये—

अथर्वविद्याका नियम

१ यत् सं-यमः, न वि-यमः,
२ यत् न वि-यमः, सं-यमः ॥ (मं. ७)

'जिसका संयम किया हो, उसको और विशेष न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिल्कुल न किया हो, उसका संयम अवश्य किया जावे ।' यह अथर्व विद्याका नियम है—

आथर्वणं व्याघ्रजम्भनम् । (मं. ७)

' यह अथर्व विद्या संबंधी व्याघ्रादिकोंके दमन विद्याका नियम है, ' यह दो प्रकारसे किया जाता है—

इन्द्रजाः सोमजाः । (मं. ७)

' इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंका अधिष्ठाता जो मन अथवा अंतःकरण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाली (इन्द्र–जाः) अंतःशक्तिसे एक दमन होता है और (सोमजाः) सोम आदि औषधियोंकी शक्तिसे एक दमन किया जाता है। ' दुष्टोंके दमनके ये दो मार्ग हैं।

इस संपूर्ण सूक्तमें ' (१) व्याघ्रः (बाघ), (२) वृकः (भेडिया), (३) अहिः (सांप), (४) दत्वती रज्जुः (दांतवाली काटनेवाली रस्सी अर्थात् सांपिन), (५) तथा अन्य दांतवाले, नाखूनोंवाले हिंस्राः मृगाः (हिंस्र पशु) और गोधा (गोह) ' इन दुष्ट प्राणियोंके नाम भी गिनाये गए हैं। तथा ' तस्करः, स्तेनः पुरुषः (चोर मनुष्य), अघायुः (पापी), यातुधानः (लुटेरा), शत्रुः (वैरी) ' दुष्ट मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दुष्ट मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है, उसी प्रकार हिंस्र पशु आदियोंको भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये। यहां जिनकी गिनती नहीं हुई ऐसे जो अन्य दुष्ट हों उनको इसी विधिसे काबूमें करना चाहिये और समाजसे दूर करना चाहिये और समाजको सुखी करना चाहिये। यह सूक्तका आशय है।

बाघ, सांप और सांपिन के दांत उखाडकर उनको सौम्य बनानेका उपाय तीसरे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु जो दांतों और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उनके दमनके लिये बर्ता जाने योग्य है।

सांप, बाघ, भेडिया आदि हिंसक प्राणी आयें तो उनको पीटना चाहिये, उनकी पसलियां तोडनी चाहिये, उनको इतना मारना चाहिये कि वे मर जायें यह बात मंत्र ३ से ६ तक के चार मंत्रोंमें बतायी है। तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर लुटेरा डाकू दुष्ट आदि समाज घातक लोग समाजमें आकर उपद्रव मचाने लगें तो उनको भी उसी उपायसे शांत करना चाहिये, ऐसा कहा है।

इस दण्डेकी मारसे इन सब दुष्टों हिंसकों और शत्रुओंको शान्त या दूर करना चाहिये, यह इस सूक्त द्वारा उपदेश दिया है। परंतु बाघ, शेर, चोर, लुटेरे ये बाहरके समाजमें ही रहते हैं, ऐसा मानना बडी भारी भूल है। ये जैसे बाहर हैं वैसे ही मनुष्यके अंदर भी हैं और इस सूक्तमें बाघ, भेडिया, चोर आदि बाहरके शत्रुओंके दमनके उपदेशके बहाने वस्तुतः आंतरिक हिंस्र पशुओंका और आंतरिक शत्रुओंका ही दमन करनेका उपदेश किया है। सप्तम सूक्तके ' संयम ' शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है।

मनुष्यके अंतःकरणके क्षेत्रमें काम क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः शत्रु हैं और इनको वेदमें पशुही गिना है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋग्वेद ७।१०४।२२)

' (सुपर्ण–यातुं) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, (गृध्रयातुं) गीधके समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (कोकयातुं) चिडियोंके समान आचार अर्थात् काम, (श्वयातुं) कुत्तेके समान बर्ताव अर्थात् स्वकीयोंसे मत्सर या द्वेष, (उलूकयातुं) उल्लूके समान आचार अर्थात् मूढता, (शुशुलूकयातुं) भेडियेके समान क्रूरता ये छः पशु मनुष्यके अंतःकरणमें रहते हैं, इनका नाश ऐसे ही करना चाहिये जैसे पत्थरोंसे पक्षियोंका करते हैं। ' काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ' ये छः शत्रु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये। इनके संयम करनेका यह उपाय सप्तम मंत्रमें कहा है—

१ जिनका संयम हो जाय, उस पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये।

२ और जिनका संयम न हुआ हो, उनको संयम के अंदर लाना चाहिये।

यह बात समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं। गाडीके घोडे पहिले केवल पशु होते हैं, पश्चात् उनको सिखाया जाता है, सिखानेपर वे गाडीमें जोते जाते हैं। जो घोडे अच्छे नियम से चलनेवाले सुशील होते हैं यदि उनको बिना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीडित किया जाय तो वे बिगड बैठते हैं। अति दंडन इस प्रकार घातक होता है। इंद्रियोंके विषयमें भी यही बात है। जो इंद्रियें संयमित होती हैं, यदि उनको और कडे नियमोंमें रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शुरु हो जाती है और इस कारण उनके बिगड जानेकी संभावना हो जाती है। इसलिये संयममें रहकर योग्य कार्य करनेवाली इंद्रियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथ ही साथ उनपर दक्षताके साथ अपनी दृष्टि

रखनी चाहिये और उनका आचरण देखना चाहिये ताकि वे कुमार्गपर न जांय और संयममें ही स्थिर रहें। इस प्रकार संयमित इंद्रियों और वृत्तियोंसे वर्ताव करना चाहिये। परंतु जो संयममें स्थित नहीं हैं उनको नियमोंसे बांध कर प्रयत्नसे उनको वशमें करना चाहिये और जब वशमें आ जावें तब उनको पूर्वोक्त रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संयमके मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये।

खेलोंमें जो सिंह व्याघ्रादिकोंको वशमें रखते हैं वे भी इसी प्रकार वशमें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न करवाते हैं, पश्चात् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। निश्चित हो जानेपर उनपर बाहरसे बहुत दबाव न डालते हुए, परंतु किसी भी प्रकार वे मर्यादाका उल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्थासे उनकी पालना करते हैं। संयमके पूर्व और पश्चात् व्यवहार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है यह बडी उपयोगी है।

मनुष्यके अंत:करणमें ये पशु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, वैरी, लुटेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अथवा दूर करना चाहिये। यह संयम अपनी अंतःशक्तियोंसे करना चाहिये, साथ ही साथ औषधि प्रयोगसे भी कुछ अंशतक सहायता ली जा सकती है। जैसे सत्वगुणी अन्नके सेवन करनेसे कामक्रोध कुछ अंशतक कम होते हैं और रजोगुणी या तमोगुणी अन्न सेवन करनेसे वे बढ जाते हैं। मद्यमांसाशनसे कामक्रोध बढते हैं और उक्त पदार्थोंके सेवनसे निवृत्त होजानेपर उनसे बच जानेकी बहुत संभावना रहती है। इसी प्रकार सोमादि औषधि रस सेवनसे भी बडे लाभ होने संभव हैं।

इतना होनेपर भी अपनी अंत:शक्तियोंसे कामादिकोंका संयम करनेका अनुष्ठान अतिश्रेष्ठ है।

दुष्टोंका संहार

कांड ७, सूक्त १०८

(ऋषि: – भृगुः। देवता – अग्निः।)

यो नस्तायद्दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान्मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥ १ ॥
यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभिदासात्तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान्प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (यः नः तायत् दिप्सति) जो हमें छिपकर सताता है तथा (यः नः आविः) जो हमें प्रकट रूपसे दुःख देता है। वह चाहे (नः स्वः विद्वान् अरणः) हमारा अपना संबंधी विद्वान् किंवा परकीय भी क्यों न हो (तान् दत्वती अरणी प्रतीची एतु) उनपर दांतवाली छोटी उलटी चले। हे अग्ने! (एषां वास्तु मा भूत्) इनका कोई घर न हो और (मा अपत्यं उ) न उनकी कोई सन्तान हो॥ १॥

हे जातवेद अग्ने! (यः नः सुप्तान् जाग्रतः वा अभिदासात्) जो हमारा सोते हुए या जागते हुए नाश करे, (यः तिष्ठतः वा चरतः) जो ठहरे हुए या चलते हुए नाश करे। हे (जातवेदः) अग्ने! (वैश्वानरेण सयुजा सजोषाः) विश्वके नेता अपने मित्रके साथ मिलकर तू (तान् प्रतीचः निः दह) उन प्रतिकूल चलनेवालोंको भस्म कर॥ २॥

जो छिपकर हमारा नाश करे, या प्रकट रूपसे हमें सतावे। वह हमारा संबंधी हो, मित्र हो, स्वकीय हो या परकीय हो, उस सतानेवालेका नाश किया जावे।

सोते, जागते, खडे हुए या चलते हुए किसी अवस्थामें हम हों, जो हमारा घात करता है, उसका भी नाश किया जावे ।

अपने सतानेवाले शत्रुकी उपेक्षा न की जावे, यह इस सूक्तका तात्पर्य है ।

दुष्टका निवारण

कांड ७, सूक्त ९०

(ऋषिः – अंगिराः । देवता – मन्त्रोक्ता. ।)

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् । ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥
वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै । म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥
यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

अर्थ— (व्रततेः पुराणवत् गुष्पितं इव) लताओंकी पुरानी सूखी लकडियोंके समान (दासस्य ओजः अपि-वृश्च दम्भय) हिंसकके बलको काटो और दबाओ ॥ १ ॥

(वयं अस्य तत् संभृतं वसु) हम इसके उस एकत्रित धनको (इन्द्रेण विभजामहै) प्रभुके साथ बांट देते हैं । तथा (वरुणस्य व्रतेन) वरुण देवके व्रतके साथ (ते भ्रजः शिभ्रं म्लापयामि) तेरे तेजके घमंडको मिटा देते हैं ॥ २ ॥

(अवस्थस्य क्नदीवतः) नीच गाली देनेवाले, (शांकुरस्य नितोदिनः) कंटक जैसे व्यवहार करनेवाले और पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्यका (यत् आततं) जो फैला हुआ दुष्कृत्य है, (तत् अव तनु) मिट जावे, (यत् उत्ततं तत् नितनु) जो ऊपर उठा हो वह नीचा हो जावे । (यथा शेपः स्त्रीषु अपायातै) जिस रीतिसे इनका दुष्कर्म स्त्रियोंके विषयमें न होवे उस प्रकार उनतक ये दुष्ट (अनावयाः असत्) न पहुंचनेवाले हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! दुष्ट और उपद्रव देनेवाले मनुष्यका बल घटा दो ॥ १ ॥

दुष्ट मनुष्यका धन लेकर ईश्वरके शुभ कर्ममें लगा दो ॥ २ ॥

पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्य स्त्रियोंको कभी कष्ट न दें ऐसा प्रबंध करो ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसका विशेष विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं । दुष्टोंके आक्रमणसे स्त्रियोंका बचाव करना चाहिये । स्त्रियोंके पास भी कोई दुष्ट मनुष्य न पहुंच सके ।

यातुधान नाशन

कांड १, सूक्त ७

(ऋषिः – चातनः । देवता – अग्निः (यातुधानः), अग्नीन्द्रौ ।)

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् । त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (स्तुवानं) स्तुति करनेवाले (यातुधानं किमीदिनं) घातक शत्रुओंको भी (आ वह) यहां ले आ । (हि) क्योंकि हे देव ! (वन्दितः त्वं) नमनको प्राप्त हुआ तू (दस्योः) डाकूका (हन्ता) हनन करने-वाला (बभूविथ) होता है ॥ १ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् । अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥
वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः । अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥
अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥
पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥
आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे । दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥
त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह । अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

अर्थ — हे (परमेष्ठिन्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले (जातवेदः) ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और (तनू-वशिन्) शरीरका संयम करनेवाले अग्ने ! तू (तौलस्य आज्यस्य) तोले हुए घी आदिका (प्राशान) भोजन कर और (यातुधानान्) दुष्टोंको (वि लापय) रुला ॥ २ ॥

(ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अत्त्रिणः) भक्षणेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं, वे (विलपन्तु) विलाप करें (अथ) और अब, हे अग्ने ! (इदं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (प्रतिहर्यतं) स्वीकार करो ॥ ३ ॥

(पूर्वः अग्निः आरभतां) पहिले अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् (बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु) बाहुबलवाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिसे (सर्वः यातुमान्) सब दुष्ट लोग (एत्य) आकर (ब्रवीतु) बोले, कि (अयं अस्मि इति) यह मैं हूं ॥ ४ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हम देखें । हे (नृ-चक्षः) मनुष्यके मार्गदर्शक ! (यातुधानान्) दुष्टोंको (नः) हमारा आदेश (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कह दे । (त्वया) तुझसे (पुरस्तात्) पहिले (परितप्ताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं ब्रुवाणाः) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आवें ॥ ५ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (आरभस्व) आरंभ कर (अस्माक+अर्थाय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है । हे अग्ने ! (नः दूतः भूत्वा) तू हमारा दूत बनकर (यातुधानान् वि लापय) यातुधानोंको विलाप करा ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू (यातुधानान्) दुष्टोंको (उपबद्धान्) बांधकर (इह आ वह) यहांले आ (अथ) और इन्द्र अपने वज्रसे (एषां शीर्षाणि) इनके मस्तक (वृश्चतु) काट डाले ॥ ७ ॥

यातुधान नाशन

इसका भावार्थ हम सबसे पीछे लिखेंगे क्योंकि इस सूक्तके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये । इस सूक्तके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं और जबतक इनका निश्चित ठीक अर्थ ध्यानमें न आजाए, तब तक इस सूक्तका उपदेश समझमें नहीं आसकता । सबसे प्रथम 'अग्नि' कौन है ? इसका निश्चय करना चाहिये —

अग्नि कौन है ?

इस सूक्तमें अग्निपदसे किसका ग्रहण करना चाहिये, इसका निश्चय करानेवाले ये शब्द इस सूक्तमें हैं — 'जात-वेदः, परमेष्ठिन्, तनूवशिन्, नृचक्षः, यविष्ठ(?), दूतः, देव, अग्निः ।' इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्निका स्वरूप सबसे प्रथम हम देखेंगे —

१ जातवेदः- (जातं वेत्ति) जो बनी हुई सृष्टिको ठीक ठीक जानता है । (ज्ञात-वेदः) जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । सृष्टिविद्या और आत्मविद्याका यथावत जाननेवाला ।

*

२ परमेष्ठिन्- (परमे पदे स्थाता) परमपदमें ठहरनेवाला अर्थात् समाधिकी अंतिम अवस्थाको जो प्राप्त है, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्या- चतुर्थ अवस्थाका अनुभव करनेवाला।

३ तनूवशिन्-(तनू-वशिन्) अपने शरीर और इंद्रियोंको स्वाधीन करनेवाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे जिसने अपनी कायासिद्धि की है। उसी मनुष्यका ' परमे-ष्ठिन् ' होना संभव है।

४ नृ-चक्षः- ' चक्षस् ' शब्द स्पष्ट शब्दों द्वारा उपदेश देनेका भाव बता रहा है। मनुष्यको जो योग्य धर्म मार्गका उपदेश देता है।

ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द अग्निके गुण धर्म बता रहे हैं। इन शब्दोंको देखनेसे स्पष्ट होता है, कि यहांका अग्नि ' धर्मोपदेशक पण्डित ' ही है। सृष्टिविद्या जाननेवाला, अध्यात्मशास्त्रमें प्रवीण, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखनेवाला, समाधिकी सिद्धि जिसको प्राप्त है, वही ब्राह्मण पण्डित ' नृ-चक्षः ' अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेश करनेके योग्य है। उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशककी तैयारी कैसी होनी चाहिये इसका बोध यहां प्राप्त हो सकता है। ऐसे उपदेशक हों, तो धर्मका ठीक प्रचार होना संभव है।

५ वन्दितः- इस प्रकारके उपदेशककी ही सब लोग वन्दना कर सकते हैं।

६ दूतः- जो सन्देश पहुंचाता है वह दूत होता है। वह उपदेशक पण्डित धर्मका सन्देश सब जनता तक पहुंचाता है इसलिये वह ' धर्मका दूत ' है। दूत शब्दका दूसरा अर्थ ' नौकर, भृत्य ' है वह अर्थ यहां नहीं है। धर्मका सन्देश स्थान स्थानपर पहुंचानेवाला यह दूत धर्मका उपदेशक ही है।

७ देवः- प्रकाशमान्, तेजस्वी।

८ अग्निः- प्रकाश देकर अन्धकारका नाश करनेवाला। ज्ञानकी रोशनी बढाकर अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाला। उष्णता (गर्मी) उत्पन्न करके हलचल करनेवाला।

ये सब शब्द योग्य उपदेशका ही वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार वेदमें ' अग्नि ' शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक है। तथा ' इन्द्र ' शब्द क्षत्रियका वाचक है।

ब्रह्म क्षत्रिय

' ब्रह्म क्षत्रिय ' शब्द ब्राह्मण और क्षत्रियका बोध कराता है। वेदमें ये दो शब्द इकट्ठे कई स्थानपर आये हैं। यही भाव ' अग्नि-इन्द्र ' ये दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर व्यक्त कर रहे हैं। अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका वाचक है। अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र शब्दका अर्थ देखेंगे—

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द क्षत्रिय वाचक है, क्योंकि इसका अर्थ ही शत्रुनाशक है—

१ इन्द्रः- (इन्+द्रः) शत्रुओंको छिन्नभिन्न करनेवाला।

२ बाहुमान्- बाहुवाला, भुजावाला, अर्थात् बाहुबलके लिये सुप्रसिद्ध। हरएक मनुष्य भुजावाला होता ही है, परंतु *क्षत्रियको ही ' बाहुमान् ' इसलिये कहा है, उसका कार्य ही* बाहुबलका होता है।

१ इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु- क्षत्रिय तलवारसे शत्रुओंके सिर काटे। *यह क्षत्रियका कार्य* इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें वर्णित है। युद्धमें शत्रुओंके सिर काटनेका कार्य तथा दुष्टोंके सिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही प्रसिद्ध है।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें ' इन्द्र ' शब्द क्षत्रियका भाव सूचित करता है। अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और इन्द्र शब्दसे शासनका कार्य करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये।

धर्मोपदेशका क्षेत्र

पाठक यह न समझें, कि साप्ताहिक या वार्षिक जलसोंमें व्याख्यान देना ही धर्मोपदेशकका कार्यक्षेत्र है। वहां तो धार्मिक लोग ही आते हैं। पहिलेसे जिनकी प्रवृत्ति धर्ममें होती है, वे ही धार्मिक लोग जलसोंमें आते हैं; इसलिये ऐसे धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना धोये हुए कपडेको फिर धोनेके समान ही है। वास्तवमें मलिन कपडेको ही धोकर स्वच्छ करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक वृत्तिके लोगोंको ही धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्मप्रचार है, यह बतानेके लिये इस सूक्तमें धर्मप्रचार करने योग्य लोगोंका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे किया है — ' यातुधान, किमीदिन्, दस्यु, अत्रिन् । ' अब इनका आशय देखिये —

१ यातु- ' यातु ' भटकनेवाले का नाम है। जिसका घरबार कुछ भी नहीं है और जो वन्य पशुके समान इधर उधर भटकता रहता है उसका नाम ' यातु ' है। भटकनेका अर्थ बतानेवाली ' या ' धातु इसमें है।

२ यातुमान्- यातुमान्, यातुवान्, यातुमत् , शब्दका भाव 'यातुवाला' है अर्थात् जिसके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं। अर्थात् भटकनेवालोंके समाजका मुखिया।

३ यातुमावान्- बहुतसे यातुमानोंको अपने काबूमें रखनेवाला।

४ यातुधान- यातुओंका धारण पोषण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पोषण करनेवाला। 'यातु धान्य' भी इसी भावका वाचक है।

जिसके घरबार स्त्रीपुत्र आदि होते हैं, और जो कुटुंबमें रहता है, वह उतना उपद्रव देनेवाला नहीं होता, जितना कि न घरबारवाला और भटकनेवाला होता है। यह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका मनका समाधान उसको नहीं होता, इसलिये हरएक प्रकारका उपद्रव करनेके लिये वह तैयार होता है, इसी कारण 'यातु' शब्द 'बुरी वृत्तिवाला' इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। दुष्ट, डाकू, चोर, लुटेरे, बटमार आदि इसी शब्दके अर्थ आगे जाकर बने हैं। ये चोर, डाकू जबतक अकेले रहते हैं, तब तक उनका नाम 'यातु' है, ऐसे ऐसे चोधार डाकुओंको अपने वशमें रखकर डाका डालनेवाला 'यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमत्' अर्थात् यातुवाला किंवा डाकुवाला कहा जाता है। पहिलेकी अपेक्षा इससे समाजको अधिक कष्ट पहुंचते हैं। इस प्रकारके छोटे डाकुओंके अनेक संघोंको अपने आधीन रखनेवाला 'यातुमावान्' अर्थात् डाकुओंकी कई जमातोंको अपने आधीन रखनेवाला। यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट ग्रामों और प्रांतोंको भी पहुंचा सकता है। इसीके नाम 'यातु-धान, यातुधान्य' हैं। ये वैदिक शब्द जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते हैं, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं। अब और देखिये—

५ अत्रिन्- अत्री (अतति) सतत भटकता रहता है। यह शब्द भी पूर्व शब्दका ही भाव बताता है। इसका दूसरा भाव (अत्ति) खानेवाला, सदा अपने भोगके लिये दूसरोंका गला काटनेवाला। जो थोडेसे धनके लिये खून करते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है।

६ किमीदिन्- (किं इदानीं) अब क्या खांय, इस प्रकारकी वृत्तिवाले भूखे किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घातपात करनेवाले दुष्ट लोग।

७ दस्यु-(दस् उपक्षये) घातपात करनेवाले, दूसरोंका नाश करनेवाले, हर प्रकारके दुष्ट लोग।

ये सब लोग समाजके सुखका नाश करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंको कष्ट होते हैं। ये ग्राममें आकर चोरी, डकैती, खून, लूटमार करते हैं। स्त्री विषयक अत्याचार करते हैं, सज्जनोंको अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं इसलिये इन लोगोंको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस सूक्तका आदेश है। जो घरबारसे हीन हैं, जो जंगलों और वनोंमें रहते हैं, जो चोरी, डकैती आदि दुष्ट कर्म करते हैं। उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये। अर्थात् जो नागरिक हैं, जो पहिलेसे ही धर्मके प्रेमी हैं, उनमें धर्मकी जागृति करनी योग्य है, परन्तु जिनके पास धर्मकी आवाज नहीं पहुंची और जिसका जीवनक्रम ही धर्मबाह्य मार्गमें सदा चलता रहता है, उनका सुधार करके ही उनको उत्तम नागरिक बनाना चाहिये। धर्मोपदेशक यह अपना कार्य क्षेत्र देखें।

धर्मोपदेशकके गुण, शासन कार्यमें नियुक्त क्षत्रियके गुण, और जिन लोगोंमें धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके गुणकर्म हमने इस सूक्तके आधारसे देखे। अब इन शब्दार्थोंके प्रकाशमें यह सूक्त देखना है—

दुष्टोंका सुधार

प्रथम मन्त्र- 'हे धर्मोपदेशक! तेरी प्रशंसा करनेवाला दुष्ट डकैतोंको यहां ले आ, क्योंकि तू वन्दना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है—

(१) स्तुति करनेवाले डाकूको यहां ले आ, और

(२) उनका नमस्कार प्राप्त करके उनका नाशक हो।

इसका तात्पर्य यह है- 'धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट, डाकू, बटमार आदिकोंमें धर्मोपदेश करनेके लिये जावे, उनको सत्य धर्मका उपदेश करे, चोरी आदि पाप कर्म हैं यह उनको ठीक प्रकार समझा दे, उन दुष्ट कर्मोंसे उनको वह निवृत्त करे, जब वे ठीक प्रकार जानेंगे कि चोरी आदि उनके व्यवसाय बुरे हैं और मानवोंकी रक्षा करनेवाला सत्य धर्म इस धर्मोपदेशकसे प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके पास श्रद्धा भक्तिसे आवेंगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके सामने सिर झुकायेंगे अर्थात् इनको प्रणाम करेंगे। जब उनमें इतनी श्रद्धाभक्ति बढेगी, तब उनका डाकूपनका भाव या दुष्ट स्वभाव ही हो जायगा। इसलिये मंत्र कहता है कि 'धर्मोपदेशक दुष्ट मनुष्योंको अपने उपदेश द्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले बनाकर अर्थात् अपने अनुगामी बनाकर, अपने समाजमें ले आवे और उनसे नमस्कार प्राप्त करके उनके दुष्ट गुणोंके घातक बनें।'

'जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनका ही घात करना' प्रथम विचित्रसा प्रतीत होता है, परंतु अधार्मिक दुष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसा ही बनता है। जब दुष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय वह पहिले धर्मोपदेशकके सामने अपना सिर झुकाता है और सिर झुकाते ही दुष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करनेके द्वारा वह मानो नया ही मनुष्य बनता है। यदि एक डाकू धर्मोपदेश सुनकर धार्मिक बन गया, तो उसका सामाजिक दृष्टिसे सत्य अर्थ यही है कि एक डाकु मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ। अब दूसरा मंत्र देखिये—

मित भोजन करो

द्वितीय मंत्र- 'हे परम श्रेष्ठ अवस्थामें रहनेवाले, शरीर वशमें रखनेवाले ज्ञानी धर्मोपदेशक ! घी आदि पदार्थ तोल कर अर्थात प्रमाणसे भक्षण कर और दुष्टोंको हला' ॥ २॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो आदेश हैं—

(१) तोलकर घी आदि भोजन खा और

(२) दुष्टोंको हला।

धर्मोपदेशकोंको ये दोनों बातें ध्यानमें धरनी चाहिये। धर्मोपदेशक जिस समय बाहर प्रचारके लिये जाते हैं, उस समय भगत लोग उनको मेवा, मिठाई, घी, मक्खन, दूध आदि पदार्थ आवश्यकतासे भी अधिक देते हैं। तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भक्तिकी तीव्रता अत्यधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकोंका अधिक ही आदर करते हैं। इस समय बहुत संभव है कि जिव्हाकी लालचमें आकर उपदेशक अधिक खावे, और स्वास्थ्यके बिगाडके कारण बीमार पडे। इसलिये वेदमें उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको तोलकर ही खाना चाहिये। ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण जलवायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचन शक्तिमें बिगाड होना संभव है; अतः जितनी पाचन शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है। इस कारण वेद कहता है, कि 'उपदेशक तोलकर ही घी आदि पदार्थ खावें' कभी अधिक न खावें।

मंत्रमें दूसरी बात 'दुष्टोंको हलाने' की है। यदि उपदेशक प्रभावशाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे श्रोताओंको अपने दुराचारका पता लगा तथा उनके अंतःकरणमें धर्म भावना जागृत हो गई, तो उनके रो पडनेमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण पश्चात्ताप होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चात्ताप

तृतीय मंत्र- 'दुष्ट लोग रो पडें, और हे धर्मोपदेशक ! तेरे लिये यह हमारा दान है, क्षत्रिय भी इसको स्वीकार करे' ॥ ३ ॥

सच्चे धर्मोपदेशकके धर्मोपदेश सुनकर दुष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चात्ताप होवे और वे रो पडें। तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी यथाशक्ति दान देती रहे। जनताकी धनादिकी सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे। अब चतुर्थ मन्त्र देखिये—

धर्मोपदेशक कार्य चलावे

चतुर्थ मन्त्र- 'पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य प्रारंभ करे। पीछेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे। इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर 'मैं यहां हूं' ऐसा कहे' ॥४॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहां जहां वे पहुंच सकें, वहां निडरतापूर्वक वे जाकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य जोरसे करते जांय। कठिनसे कठिन परिस्थितिमें भी न डरते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें। पीछेसे क्षत्रिय उनकी उचित सहायता करें। परन्तु ऐसा कभी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके क्षात्रबलके जोर-पर धर्मप्रचारक का कार्य चलावें, यह ठीक नहीं। इसलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्षात्रबलके भरोसेसे अपने धर्मप्रचारका कार्य न करे, प्रत्युत धर्म प्रचारको अपना आवश्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे। इस धर्मप्रचारका परिणाम ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारलें और खुले दिलसे उपदेशकोंके पास आकर कहें कि 'हम अब आपकी शरणमें आगये हैं।' यही धर्म प्रचारका साध्य है। धर्म प्रचारसे दुराचारी डाकू सुधर जांय और अच्छे धार्मिक बनें, वे अपने पूर्व दुराचारका पश्चात्ताप करें, जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनको रोना आवे। क्षत्रियके बलकी अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक शक्तिसे यह कार्य करें। पीछेसे क्षत्रिय उनको मदद पहुंचावे। क्षत्रियके जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सात्विक वृत्तिसे जो हृदय पलटा देता है, वही

सच्चा धर्मपरिवर्तन है। इस प्रकार चतुर्थ मन्त्रका आशय पश्चात् अब अगला मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी पश्चात्तापसे शुद्धि

पंचम मंत्र- ' हे ज्ञानी उपदेशक ! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे। हे मनुष्योंको सन्मार्ग बतलानेवाले ! तुम दुष्टोंको अपने धर्मका उपदेश करो। तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चात्तापको प्राप्त हुए हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और वैसा ही कहें ' ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेशके लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव कहते हुए लोग कहते हैं कि ' हे उपदेशक ! अब तू उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तू अपने परिशुद्ध सदुपदेशसे कितने लोगोंके हृदयोंको पलटता है और कितनोंको सत्य धर्मकी दीक्षा देता है। इसीसे तेरे पराक्रमका हमें पता लग जायगा। तू जा, हम तेरा गौरव करते हैं। सत्यधर्मका संदेश सब जनता तक पहुंचा। तेरे उपदेशकी ज्ञानाग्निसे तपे हुए और पश्चात्तापको प्राप्त हुए लोग हमारे अन्दर आवें और कहें ' कि हमने अब धर्मामृत पिया है। और अब हम आपके बने हैं।'

' तप, सन्तप, परितप ' ये शब्द पश्चात्तापके सूचक हैं। तप शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपाकर सोना, चांदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके मलोंको दूर करता है। इसी प्रकार यहांका अग्नि-जो ज्ञानी धर्मोपदेशक है-वह अपनी ज्ञानाग्निमें सब दुष्टोंको तपाता है और अच्छी प्रकार उनके मलोंको दूर करता है। शुद्धिकी यही विधि है। भोगके जीवनको छोडकर तपके जीवनमें आना ही धार्मिक बनना है। इस दृष्टिसे इस मन्त्रका ' परि-तप्ताः ' शब्द बडे भावका सूचक है। अब छठे मन्त्रका भावार्थ देखिये—

धर्मका दूत

षष्ठ मंत्र- ' हे ज्ञानी पुरुष ! अपना कार्य आरम्भ कर। हमारे कार्यके लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक ! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचानेवाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चात्तापसे तपा ' ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकको लोग कहते हैं कि- ' अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरम्भ कर। विना डरके देशदेशान्तरमें जा और वहां सत्यधर्मका प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुझे आगे भेजा जाता है, अथवा आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश जगतमें फैलाना है, इस संदेशको स्थान स्थान में पहुचानेवाला दूत ही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला और इस समय तक जो लोग अधार्मिक वृत्तिसे रहते हैं, उनको अपने सदुपदेश द्वारा शुद्ध कर और उनको अपने पूर्व दुराचारका पूर्ण पश्चात्ताप होने दे। उनके दिलोंको ऐसा पलटा कि जिससे वे अपने पूर्वाचरणका स्मरण करके रोने लगें।' इस प्रकार जगतका सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

डाकुओंको दण्ड

इतने धर्मोपदेशके बावजूद भी जो नहीं सुधरें और अपना दुराचार जारी रखें अथवा पूर्वोक्त प्रकारके श्रेष्ठ धर्मोपदेशकोंके पराकाष्ठाके प्रयत्न करनेपर भी जो अपना दुष्ट आचरण नहीं छोडते और जनताको चोरी डकैती आदिसे अत्यंत कष्ट देते ही रहें, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, यह कार्य क्षत्रियका है यह आशय अगले मंत्रमें कहा है—

सप्तम मंत्र-' हे धर्मोपदेशक ! तेरे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट डाकु आदि अपने दुराचार नहीं छोडते उनको बांधकर तू यहां ला और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर तलवारसे काट दे ' ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे। जो सदाचारी बनें वे अपनेमें संमिलित हो जाय। परंतु जो वारवार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखें उनको दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि राष्ट्र शासन सदा समाजकी शांतिके लिये ही है। परंतु दुष्टोंको भी सुधरनेका पूरा अवसर देना चाहिये। जब वारवार प्रयत्न करनेपर भी वे न सुधरें तो क्षत्रिय आगे बढे और अपना कठोर दण्ड आगे करे। क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बांधकर उनके सिर ही काट दे, इससे अन्योंको भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण

इस सूक्तमें ब्राह्मणके प्रयत्नके लिये छ मंत्र हैं और एक ही मंत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेको सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम छ गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सदुपदेशसे करें, इतने प्रयत्न करनेपर भी यदि वे न सुधरें, उनपर ही क्षत्रियका वज्र प्रहार करना योग्य है।

इस प्रकार उसकी योग्यता बढाई जाय और उसके धार्मिक भावका पोषण किया जाय। नहीं तो धर्मसंघमें प्रविष्ट हुआ नव मानव सत्संगियोंकी उदासीनताके कारण उदासीन होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा; इसलिये नवीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अपनानेके विषयमें सत्संगियोंपर यह बडा भारी बोझ है। इस विषयमें वेदके चार आदेश ध्यानमें धरने योग्य हैं।

१ यह नवीन प्रविष्ट हुआ है,
२ इसका गौरव करो,
३ प्रविष्ट होते ही शानी इसे नियममें चलानेकी शिक्षा दे और
४ अन्य विद्वान् उसका निरीक्षण करें।

इस मंत्रमें 'विध्यतं' शब्द है, उसका प्रसिद्ध अर्थ निशाना मारना है, निशाना मारनेका तात्पर्य उसपर वैयक्ति दृष्टि रखना, उसकी विशेष निगरानी करना है। उसका विशेष ख्याल रखना, उसका सदा भला करनेका यत्न करना। अस्तु। अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी संतानका सुधार

तृतीय मंत्र- 'हे सोमयाग करनेवाले! दुष्ट लोगोंकी प्रजाको अर्थात् उनके बालबच्चोंको प्राप्त करो और उनको उत्तम मार्गसे चलाओ। जो तुम्हारी प्रशंसा करेगा उसकी दोनों आँखें नीची करो' ॥ ३॥

सोम-याग करनेवाला अर्थात् यज्ञकर्ता ब्राह्मण यज्ञद्वारा धर्मप्रचारका बडा कार्य करता है। दुष्टोंका सुधार करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यमें विशेष महत्त्वकी बात यह है कि, धर्मके प्रचारक आयुसे बडे वृद्ध आदमियोंकी अपेक्षा नवयुवकोंके सुधारका अधिक यत्न करें। नवयुवकोंके संघ बनावें, उनका आचार सुधारें, उनकी रुचि सदाचारकी ओर करें अर्थात् हरएक रीतिसे उनको धार्मिक बनानेका सबसे पहिले उद्योग करें। क्योंकि आयुसे बडे लोग अपने दुराचारमें ही मस्त रहते हैं अथवा उनको वही आचार प्रिय और लाभदायक प्रतीत होता है, अतः उनको पलटाना कठिन कार्य है। परंतु नवयुवकोंके कोमल मन होते हैं, उनमें उतने दृढ कुसंस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति शीघ्र हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि नवयुवक सुधर गये, तो उनका आगेका वंशही एकदम सुधर जाता है। इसलिये नवयुवकोंको सुधारनेका प्रयत्न विशेष रीतिसे करना चाहिये। दुष्टोंके बालकोंको जमा करके उनको धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारकी शिक्षा देनी चाहिये। उनमें जो तुम्हारे धर्मकी प्रशंसा करे उसकी आंखें पहिले नीची करो, अर्थात् उनकी जो आंखें ऊंची होती हैं वह नीची हो जाय। इसका आशय यह है कि उनकी घमंडी दृष्टि दूर करके उनमें नम्र भाव-युक्त दृष्टि स्थापित करो। अधार्मिक दुष्ट लोगोंकी आंखें लाल और मदोन्मत होती हैं, भौंहें टेढी और चढी हुई होती हैं, दूसरे मनुष्यकी जान लेना उनके लिए एक सहज बात होती है, यह टेढी दृष्टिका भाव है। नीची दृष्टिका आशय चाल-चलनकी नम्रता, श्रद्धा, भक्ति, आत्मपरीक्षा, आत्मसुधार आदि है (अक्षि निपातय) आंख नीची करना, यह दृष्टिमें भेद है। साधारण मनुष्यकी दृष्टि और प्रकारकी होती है, चोरकी दृष्टि और होती है, साधुकी दृष्टि और होती है तथा डाकूकी दृष्टि और होती है। बालककी दृष्टि तथा तरुण और वृद्धोंकी दृष्टिमें भेद है। इसलिये वेदमें कहा है कि उनकी दृष्टि नम्र कर दो। अस्तु। इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रका आशय अब देखिये—

घरोंमें प्रचार

चतुर्थ मंत्र- 'हे ज्ञानी उपदेशक! जहां कहीं गुफाओंमें इन भटकनेवालोंमेंसे किंचित् भले पुरुषोंके कुल या संतान हों, वहां पहुंच कर ज्ञानको उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले सैंकडों कष्टोंको दूर कर' ॥ ४॥

चोर डाकू आदिओंके सुधारका विचार करते समय उनके संघोंमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणामकारक बात यह है, कि उनके परिवारमें जाकर वहां उनको धर्मोपदेश करना चाहिये। ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले आदमी (सतां अग्निर्णां) होंगे, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् नरमसे होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होना संभव है। इनके घरोंमें जाकर उनको, उनकी स्त्रियोंको तथा उनके बालबच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये। उनकी उन्नति (ब्रह्मणा वावृधानः) ज्ञान द्वारा करनेका यत्न करना चाहिये, अर्थात् उनको ज्ञान देना चाहिये। सच्चा धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है। एकवार धर्म-ज्ञानमें इनकी रुचि बढ गयी, तो इनसे होनेवाले सैंकडों कष्ट दूर हो जायेंगे और इनका भी कल्याण होगा।

शत्रुसेनाका संमोहन

कांड ३, सूक्त १

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – सेनामोहनं, शत्रुवंजयम्।)

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥
अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि । युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥
प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अग्निके समान तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अरातिं) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रून् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढाई करे। (सः जातवेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे। (च निर्हस्तान् कृणवत्) और उनको हस्तरहित करे ॥ १ ॥

हे (मर्+उतः) मरनेके लिये तैयार वीरो ! (ईदृशे यूयं उग्राः स्थ) ऐसे समयमें तुम बडे वीर हो, इसलिये (अभि-प्र-इत, मृणतः, सहध्वम्) आगे बढो, काटो और जीत लो। (इमे नाथिताः वसवः) ये बलवान् बसनेवाले वीर (अमीमृणन्) काटते रहे हैं। (एषां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका वाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढाई करे ॥ २ ॥

हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा (च अग्निः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनों मिलकर (अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां) हमसे शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसूतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) सन्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको (जहि) मार और (एषां चित्तं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका ॥ ४ ॥

भावार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढाई करे। सेनासंमोहनकी विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥

हे मरनेके लिये सिद्ध हुए शूरवीरो ! ऐसे युद्ध समयमें तुम बडे वीर हो, इसलिये आगे बढो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो। ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं, इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढाई करे ॥ २ ॥

हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमसे शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेश ! वेगसे चलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। संमुखसे पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जांय ॥ ४ ॥

*

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् । अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा । चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ– हे (इन्द्र) नरेश ! (अमित्राणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको डरा। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्निके और वायुके प्रचंड वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकोंका (विषूचः विनाशय) चारों ओर सटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥

(इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, (मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर (ओजसा घ्नन्तु) वेगसे हनन करें। (अग्निः चक्षूंषि आदत्तां) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनकी आंखोंको ले लेवे। इस प्रकार शत्रुकी (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ– हे नरेश ! अग्न्यस्त्रके वाहसे और वायव्यास्त्रके वेगसे शत्रु सेनाको ऐसा डराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और इस रीतिसे उनका नाश करो ॥ ५ ॥

नरेश शत्रुके सैन्यको डरावें, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रुसेनामें ऐसी घबराहट पैदा करें कि जिससे उनको कुछ भी न दीख पडे और इस प्रकार शत्रुकी पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे।



शत्रुसेनाका संमोहन

कांड ३, सूक्त २

(ऋषिः - अथर्वा । देवता – सेनामोहनं, बहुदेवत्यम् ।)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि । वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

अर्थ– (नः दूतः विद्वान् अग्निः) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अरातिं प्रतिदहन्) घात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ (प्रत्येतु) चढाई करे। (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्तान् च कृणवत्) हस्तहीन बना दे ॥ १ ॥

(यानि वः हृदि) जो तुम्हारे हृदयमें हैं उन (चित्तानि) चित्तोंको (अयं अग्निः अमूमुहत्) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है। वह (वः ओकसः विधमतु) तुमको-शत्रुको-घरसे निकाल देवे और (वः सर्वतः प्रधमतु) तुमको-शत्रुको-सब ओर से हटा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ– हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घात करनेवाले शत्रुसेना पर चढाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित करें, उनको घरोंसे निकाल देवें और सब देशसे उनको हटा देवें ॥ २ ॥

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर । अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥
व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत । अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥
अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) नरेश ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकूत्या अर्वाङ् चर) शुभसंकल्पसे हमारे पास आ । (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विषूचः विनाशय) उनको चारों ओरसे नष्टभ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥

हे (एषां) इन शत्रुओंके (आकूतयः) संकल्पो ! (वि) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और चित्तो ! तुम (मुह्यत) मोहित हो जाओ (अथो अद्य) और आज (यत् एषां हृदि) जो इनके हृदयमें संकल्प है (एषां तत् परि निर्जहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नष्ट हो जाए ॥ ४ ॥

हे (अप्वे) व्याधि ! (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तको मोहमें डालती हुई इनके (अंगानि गृहाण) अवयवोंको पकड रख और (परा इहि) परे तक चली जा । (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ । (हृत्सु शोकैः निर्दह) हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जला दे । तथा (ग्राह्या तमसा) जकडनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अमित्रान् शत्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको ग्रस्त कर दे ॥ ५ ॥

हे (मरुतः) मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! (परेषां असौ या सेना) शत्रुओंकी यह सेना (स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-आ एति) स्पर्धा करती हुई हम पर वेगसे चढाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (एषां अन्यः अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तू शत्रुसेनाके चित्तोंको मोहित कर, अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्रके वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विजयपूर्ण शुभ संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥

शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेसे विरोधी हों, उनके चित्तोंमें घबराहट पैदा हो और उनके चित्तोंमें जो संकल्प आज हों वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥

व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके चित्तको भयभीत कर दें, शत्रुसैनिकोंके अंगप्रत्यंग व्याधियोंसे जकड जाय, शत्रुसैन्य रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे ग्रस्त हो जांय । सन्निपात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घेर दें, ऐसे कठिन समयमें उन पर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥

हे वीर पुरुषो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हम पर चढाई करके आ रही है, उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थहीन होकर मूर्च्छितसे हो जाय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

शत्रुसेनाका संमोहन

सेनाका संमोहन

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बता रहे हैं । जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करके आ रही है, उसे मोहित करके, हटाकर पराभूत करना चाहिये और उसको भगा देना चाहिये । इसका नाम है ' सेना-संमोहन ' ।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं

है। यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने चाहिये कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्य मूढ बनकर भाग जाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं इसलिए अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है। इन सूक्तोंमें 'अग्नि, इन्द्र, मरुत्' आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अध्यात्म प्रसंगमें वाणी, मन, और प्राण लिये जाते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व आचुका है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना मोहनका प्रसंग है, अपनी सेना और शत्रुसेनाके झगडेका यह अवसर है, इसलिये यह न अध्यात्म का विषय है और ना ही आधिदैवतका विषय है। प्राणियों के परस्परके संबंधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणिसमष्टि विषयका प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणिविषयक होते हैं अर्थात यहां मनुष्य-प्राणिविषयक भाव समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र

(इन्+द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है, परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसे- मृगेन्द्र = मृगोंका मुखिया, सिंह, खगेन्द्र = पक्षियोंका मुखिया गरुड, नरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इत्यादि। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं। इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मनन से पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थ लेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

१ इन्द्र! ते प्रसूत रथः शत्रून् प्रमृणन् एतु।
प्रतीच अनूचः जहि।
एषां चित्तं विष्वक् वृणुहि॥ (सू. १, मं ४)
२ इन्द्र! अमित्राणां सेनां मोहय।
अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषूचः तान् विनाशय॥
(सू १, मं ५)
३ इन्द्रः सेनां मोहयतु॥ (सू १, मं, ६)
४ इन्द्र! चित्तानि मोहयन् आकूत्या अर्वाङ् चर॥
(सू २, मं. ३)

'हे राजन्! तेरे द्वारा चलाया हुआ रथ शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरसे शत्रुओंका हनन कर। इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर॥ (२) हे राजन्! शत्रुकी सेनाको मोहित कर। अग्नि और वायुके प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगा दे॥ (३) राजा शत्रु सेनाको डरा देवे॥ (४) हे राजन्! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ॥'

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहां 'राजा, नरेन्द्र, सम्राट्' आदि प्रकार का ही इस शब्दका अर्थ है। यहां इन्द्र शब्द क्षात्रशिरोमणि वीर राजाका वर्णन कर रहा है, स्वयं युद्ध भूमिमें उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है। इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आये हैं वे अब देखेंगे—

२ मघवन्

'(मघ) धन (वन्) वाला। जिसके पास धन है। जो राजा अपने पास बहुत धन रखता है वही युद्धमें विजय पा सकता है। युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बडा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्धका प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। इस शब्दसे बोध होनेवाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोशमें होता है यह बात जान लें।

३ वृत्रहन्

'(वृत्र) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन करनेवाला। अर्थात जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है। और उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है।

इस प्रकार इन्द्र वाचक शब्द और उसके वर्णन परक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं। इन्द्रके साथ 'मरुत्' रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये—

४ मरुतः

(मर्+उत्) मरनेके लिये जो उठकर खडे हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन

वीरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बता रहा है। यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है। इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे, उनकी विजय निःसंदेह हो सकती है। इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहां देखिये—

१ हे मरुतः! ईदृशो यूयं उग्राः स्थ।
अभिप्रेत, मृणत, सहध्वम्। (सू. १, मं. २)

२ मरुत ओजसा प्रन्तु! (सू. १, मं. ६)

३ हे मरुतः! या असौ परेषां सेना
स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति,
तां अपव्रतेन तमसा विध्यत,
यथा एषां अन्यः अन्यं न जानात्। (सू. २, मं. ६)

'(१) हे मरनेके लिये तैयार वीर! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बडे उग्र हो। इसलिये आगे बढो, काटो और वैरिओंको पराभूत करो॥ (२) वीर लोग बलके साथ वैरीको काटें॥ (३) हे शेरो! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धावाकर रही है, उसको कर्महीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके॥'

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बता रहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर कैसा उग्र कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके क्षात्र तेजसे युक्त वीर पुरुषोंको बडा उत्साह आ सकता है। इससे मन्तर ' वसवः ' शब्द देखिये —

५ वसवः

बसनेवालोंका नाम ' वसु ' है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे बसना चाहते हैं, शत्रुके हमले होनेपर भी स्वयं *अपने स्थानसे हिलना नहीं जानते वे ' वसु ' होते हैं।* इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें हो अन्य स्थानमें कहा है—

प्रचलित सूक्तके मंत्रभागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये—

इमे नाधिता वसवः अमीमृणन्।
एषां दूतः अग्निः विद्वान् प्रत्येतु। (सू. १, म २)

' ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत्य वैरीसेनाको काटते हैं। इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर चढाई करे। ' इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहांका अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार ' वसु ' राष्ट्रभृत्य हैं, तो ' अग्नि ' भी वसुओंमें से एक राष्ट्रभृत्य अथवा राष्ट्रका दूत ' है जो समयज्ञ है और बडा चतुर भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है। इन्द्र स्वयं सम्राट् अथवा राजा है, यह स्वयंसेवक या राष्ट्रभृत्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रभृत्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र बलवान् है ये भेद ही वैदिक राज्य पद्धतिका स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात् और अग्निको उनमेंसे एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं—

६ अग्निः

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं। यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेज प्रदान करता है। यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समयज्ञ है, कर्तव्यको ठीक प्रकार समझता है। यह (जात-वेदाः=जातं वेत्ति) बने हुए वस्तुस्थितिको यथावत् जाननेवाला है। ऐसा योग्य राष्ट्रभृत्य (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होता और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूतको सेवासे कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है यह स्पष्ट है।

अग्नि ब्राह्मतेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है, उस समय ये दोनों मिलजुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है। इस विषयका मंत्र देखिये—

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु । राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥
मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि । सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे मनुष्य ! (यत्) जो (अनृतं वृजिनं) असत्य और पापवचन (जिह्वया) जिह्वासे (बहु उवक्थ) बहुतसा तू बोला है, उससे तथा (सत्यधर्मा) सच्चे न्यायी (राज्ञः वरुणात्) राजा वरुण देव ईश्वरसे (अहं) मैं (त्वा) तुझको (मुञ्चामि) छुडाता हूं ॥ ३ ॥

हे मनुष्य ! (त्वा) तुझको (महतः वैश्वानरात् अर्णवात्) बडे समुद्रके समान गंभीर विश्वनायक देवसे (परि मुञ्चामि) छुडाता हूं । हे (उग्र) वीर ! (इह) यहां (सजातान्) अपनी जातिवालोंको (आ वद) सब कह दे और (नः) हमारा (ब्रह्म) ज्ञान (अप चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे पापी मनुष्य ! तू अपनी जबानसे बहुत असत्य और बहुत पापवचन बोलता है । इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता । मैं तुम्हें उसकी शरणमें ले जाता हूं और उसकी कृपासे तेरा बचाव कर सकता हूं ॥ ३ ॥

हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वरके कोपसे इस प्रकार छुडाता हूं । हे वीर ! तू अपनी जातिमें सब बातें कह और हमारे ज्ञानको जानकर जपना ॥ ४ ॥



असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग

यद्यपि यह सूक्त अति सरल है तथापि पाठकोंके विशेष सरल बोधके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण किया जाता है।

इस सूक्तमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है—

एक शासक ईश्वर

(१) ' देवानां असुरो विराजति '- सूर्यचंद्रादि देवों को विविध शक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वर ही सब जगत्का परम शासक है। इससे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। (मं. १)

(२) ' राज्ञो वरुणस्य वशा हि सत्या '- उस प्रभु ईश्वरका सत्य शासन है। उसकी इच्छा सर्वोपरि है। उसके अपूर्व शासनका कोई उल्लंघन कर नहीं सकता। (मं. १)

(३) ' विश्वं वेदुग्र निचिकेषि दुग्धम् '- हे प्रभु ईश्वर ! तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है। अर्थात् कोई मनुष्य अपने पाप उससे छिपा नहीं सकता। क्योंकि वह सर्वज्ञ है इसलिये हम सबके बुरे भले कर्म वह यथावत् उसी समय जानता है। (मं. २)

ईश्वरको सर्वोपरि मानना, सबसे सामर्थ्यशाली वह है यह स्मरण रखना और उससे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आवश्यक है। पापसे बचानेवाले ये तीन महत्त्वपूर्ण विश्वास इस सूक्तमें कहे हैं, ये ही तीन भाव मनुष्यका पापसे बचाव कर सकते हैं।

ज्ञान और भक्ति

मनुष्यको पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति ये दो ही हैं। इसका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित रीतिसे किया है—

(१) ' ब्रह्मणा शाशदानः । '- ज्ञानसे तीक्ष्ण बना हुआ मनुष्य पापसे बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है। सृष्टिके तथा आत्माके यथार्थ विज्ञानको ' ब्रह्म ' कहते हैं। यह ब्रह्म अर्थात् सृष्टिविद्या और आत्मविद्याका उत्तम ज्ञान मनुष्यको तीक्ष्ण बनाता है। अर्थात् तेज बनाता है। जिस प्रकार तेज शस्त्र शत्रुका नाश करता है उसी प्रकार ज्ञानरूप तेज शस्त्र भी अज्ञान पाप आदि शत्रुओंका नाश करता है। मनुष्यकी सच्ची उन्नतिका यही साधन है। (मं. १)

(२) ' नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे '- हे ईश्वर ! तेरे कोपके सामने हम नमन करते हैं, तेरे शासनके सामने हम अपना शिर झुकाते हैं। अर्थात् हम तेरी शरणमें आकर रहते हैं, हम अपने आपको तेरी इच्छामें समर्पित

करते हैं। तू ही हमारा तारनेवाला है। तेरे बिना हम किसी अन्यके शरण जाने योग्य समझते नहीं। (म १)

(३) 'शतं जीवाति शरदस्तवायम्।'- सौ वर्ष जीवित रहेगा जो तेरा बनेगा। जो परमेश्वरका भक्त बनकर रहेगा उसका नाश कौन कर सकता है। (म २)

इन तीन मन्त्रभागोंमें ज्ञान और ईशभक्तिसे पापमोचनकी संभावना देख सकते हैं। सृष्टिविद्याके नियमोंको जानकर तदनुकूल आचरण करना, आत्मविद्याको जानकर परमात्माको सार्वभौम सत्ताधारी मानना, भक्तिसे ईश्वरके सन्मुख नम्र बनना और ईश्वरका भक्त बनकर आनन्दसे उसका होकर रहना यही पापमोचनका सीधा और निश्चित मार्ग है। इस सूक्तमें जिस मार्गसे पापमोचनकी संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित और सीधा मार्ग है—

प्रायश्चित्त

पापसे बचनेके लिये प्रायश्चित्त भी यहां कहा है और वह यहां देखने योग्य है—

(१) 'ब्रह्म अपाचिकीहि'- पूर्वोक्त ज्ञान जानकर अपना उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, तथा संक्षेपसे जो नियम ऊपर बताये हैं उनको जानना यह उन्नतिका निश्चित साधन है। जब इस ज्ञानसे अपने अवगुणोंका पता लगेगा, अपने दुराचारका ज्ञान होगा, तब पश्चात्तापसे शुद्धि करनेका मार्ग है, वह इस प्रकार है। (मन्त्र ४)

(२) 'सजातानुग्रेहा वद'- हे वीर! तू अपनी जातिके पुरुषोंके सामने अपने सब अपराध कह दे। यही प्रायश्चित्त है। अपनी जातिके स्त्री पुरुषोंके सन्मुख अपने अपराधोंको न छिपाते हुए कहना, यह बडा भारी प्रायश्चित्त है और इससे मनुष्यके मनकी शुद्धि होती है। (मन्त्र ४)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् या जिस समय पश्चात्ताप हो उस समय अपने सब अपराध अपनी जातिके सन्मुख कहना बडा धैर्यका तथा मनकी पवित्रताका ही कार्य है। हरएक मनुष्य इस प्रकार प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपानेका ही यत्न करते हैं, परंतु जो लोग अपने दोषोंको जनताके सन्मुख कह देते हैं वे शुद्ध बनकर शीघ्र ही बडे महात्मा बन जाते हैं।

इस सूक्तमें 'वरुण' आदि शब्दों द्वारा परमात्माका वर्णन हुआ है, 'मुञ्चामि' आदि शब्दोंसे पापीको पापसे छुडानेवाले महोपदेशकका वर्णन है और 'इमं' आदि शब्दसे पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है। धर्मोपदेशक पापियोंको पापसे बचनेका उपदेश परमेश्वर भक्तिका मार्ग बता कर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके शब्दोंसे स्पष्ट होती है। अर्थात् धर्मोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं पापसे बचें और दूसरोंको पापसे बचावें।

पापी मनुष्य

पापी मनुष्य सहस्रों प्रकारके पाप करता है, परंतु इस सूक्तमें कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहां देखने योग्य है—

(१) 'विश्वं द्रुग्ध।'- सब द्रोह अर्थात् सब प्रकारका धोखा। धोखा देना, काया-वाचा-मनसे विश्वासघात करना, बडा पाप है। इसमें बहुतसे पाप आ जाते हैं। (म. ९)

(२) 'यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु' जिह्वासे असत्य तथा पापभावसे युक्त वचन बोलना भी बडा पापका कर्म है। (म ३)

द्रोह करना और असत्य बोलना, इन दोनोंमें प्रायः सब पाप समा जाते हैं। इन पापी मनुष्योंका सुधार पूर्वोक्त रीतिसे ही होना संभव है। धर्मोपदेशक तथा साधारण जन आदि इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको पापमोचनके विषयमें बहुत ही योग्य बोध मिल सकता है।

पापसे बचानेकी प्रार्थना

कांड ११, सूक्त ६

(ऋषिः - शन्तातिः। देवता - चन्द्रमा., मन्त्रोक्ताः।)

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः। इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, औषधि, (वीरुधः) लता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यको (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते) वे (नः अंहसः हम सबको पापसे (मुञ्चन्तु) बचावें ॥ १ ॥

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् । अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् । त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् । अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा । विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः । शकुन्तान्पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥
भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः । इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥
दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् । समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥
सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् । पितॄन्यमश्रेष्ठान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये । पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥
आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः । अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥
यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा । यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

अर्थ— राजा, वरुण, मित्र (अथो) और भग, अंश, विवस्वान्० ॥ २ ॥ सविता देव, धाता, पूषा, (अग्रियं त्वष्टारं) मुख्य त्वष्टा० ॥ ३ ॥ गंधर्व और अप्सरागण, अश्विनौ देव, ब्रह्मणस्पति (यः अर्यमा नाम देवः) और जो अर्यमा नामक देव है० ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र ये (उभौ) दोनों, (विश्वान् आदित्यान्) सब आदित्य० ॥ ५ ॥ (वातः) वायु, पर्जन्य, अन्तरिक्ष (अथो) और दिशा, (आशाः) उपदिशाओं (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएं (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझे शापसे मुक्त करें, (यं चन्द्रमाः इति आहुः) जिसे चन्द्रमा कहा जाता है, वह सोमदेव (मा मुञ्चन्तु) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

(पार्थिवाः दिव्याः पशवः) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी (उत ये आरण्याः मृगाः) और जो अरण्यमें रहनेवाले मृग हैं, शकुन्त पक्षी हैं उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भव और शर्व (यः पशुपतिः रुद्रः) जो पशुपालक रुद्र है, (याः एषां इषूः) जो इनके बाण (सं विद्मः) हमें विदित हैं (ताः) वे (नः सदा शिवाः सन्तु) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

(दिवं) द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, (यक्षाणि) यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदियां, (वेशन्ताः) जलाशय, ॥ १० ॥ सप्तर्षिगण, (आपः देवी) जल, प्रजापति, (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) पितर और उनका अधिपति यम० ॥ ११ ॥

(ये दिविषदः देवाः) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं (च ये अन्तरिक्षसदः) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये शक्राः) जो समर्थ देव (पृथिव्यां श्रिताः) पृथिवीका आश्रय लिये हुए हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

आदित्य, रुद्र, वसु (दिवि अ-थर्वाणः देवाः) द्युलोकमें जो निश्चल देव हैं तथा (मनीषिणः अंगिरः) मननशील अंगिरस हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

यज्ञ, यजमान, (ऋचः) ऋग्वेद, साम, (भेषजा) औषधके साथ (यजूंषि) यजुर्वेद (होत्राः) होमहवन कर्म० ॥ १४ ॥

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥
अरायान्ब्रूमो रक्षांसि सर्पान्पुण्यजनान्पितॄन् । मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६ ॥
ऋतून्ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् । समाः संवत्सरान्मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥
एतं देवा दक्षिणतः पश्चात्प्राञ्च उदेत ।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥ १८ ॥
विश्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः । विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १९ ॥
सर्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः । सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २० ॥
भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी । भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥
या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः । संवत्सरस्य दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥
यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् । तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत्तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥

अर्थ— (वीरुधां सोमश्रेष्ठानि पञ्चराज्यानि) जिसमें सोम श्रेष्ठ है ऐसी औषधियोंके पांच राज्य, दर्भ, (भङ्ग) भांग, (यवः) जौ और (महः) बलवाली धानको (ब्रूमः) हम कहते हैं कि (ते) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५ ॥

(अरायान् रक्षांसि) अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों (एकशतं मृत्यून्) एक सौ मृत्युओंको० ॥ १६ ॥

ऋतुओं, ऋतुओंके पतियों, (आर्तवान् हायनान्) ऋतुओंसे बननेवाले अयनों (समाः संवत्सरान् मासान्) सम वर्ष, संवत्सर और महिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो ! (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशासे आओ, पश्चात् (प्राञ्चः उदेत) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ, (विश्वे शक्राः देवाः) सब समर्थ देव (पुरस्तात् उत्तरात् समेत्य) सामने और उत्तर दिशामें इकट्ठे होकर (ते नः०) हम सबको पापसे बचावें ॥ १८ ॥

(सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्यको बढानेवाला (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ आकर (नः०) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२० ॥

(यः वशी) जो सबको वश करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतियों तथा (भूतं) भूतको हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (सर्वा भूतानि संगत्य) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

(याः पञ्च देवीः प्रदिशः) जो दिव्य पांच दिशाएं हैं, (ये द्वादश ऋतवः देवाः) जो बारह ऋतु देव हैं, (ये संवत्सरस्य दंष्ट्राः) जो वर्षके दाढोंके समान हैं (ते नः सदा शिवाः सन्तु) वे हम सबको सदा शुभ हों ॥ २२ ॥

(मातलिः) मातली (यत् रथक्रीतं अमृतं भेषजं वेद) जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरपन देनेवाले औषधको जानता है (इन्द्रः तत् अप्सु प्रावेशयत्) इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, हे (आपः) जलो ! (तत् भेषजं दत्त) उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थ— इन सब देवताओंकी सहायतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जावे ॥ १-२३ ॥

पापसे बचानेकी प्रार्थना

इस सूक्तका विचार

इस सूक्तमें मानवोंकी पापोंसे दूर करनेके लिये अर्थात् उनको निष्पाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सार्वजनिक अर्थात् सांघिक है। सब लोगोंके द्वारा मिलकर की जाने वाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ते नो मुंचन्तु अंहसः' वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें, ऐसा बहुवचन प्रयोग किया है। सांघिक प्रार्थनाका महत्व वैदिक सारस्वतमें विशेष है, क्योंकि उससे संघशक्ति बढती है।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है—

पृथ्वीस्थानीय देवता

१ अग्निः १	२५ यजुः १४
२ वनस्पतिः १	२६ होत्राः १४
३ ओषधिः १	२७ वीरुधां पञ्च राज्यानि १५
४ वीरुधः १	२८ सोमः (वनस्पतिः) १५
५ अहोरात्रं ५, ७	२९ दर्भः १५
६ द्यावापृथिव्यौ ७	३० भंगः १५
७ उषाः ७	३१ यवः १५
८ पार्थिवाः पशवः ८	३२ सहः १५
९ आरण्याः मृगाः ८	३३ अरायः १६
१० भूमिः १०	३४ रक्षांसि १६
११ यक्षः १०	३५ सर्पः १६
१२ पर्वतः १०	३६ पुण्यजनः १६
१३ समुद्रः १०	३७ मृत्युः (एकशतं मृत्यवः) १४
१४ नदी १०	३८ ऋतुः (द्वादश) १७, २२
१५ वेशान्ताः १०	३९ ऋतुपतिः १७
१६ पृथिव्यां शकाः धिताः १२	४० आर्तवः १७
	४१ हायनम् १७
१७ वसवः (अष्टौ) १२	४२ समाः १७
१८ अपामार्गः १३	४३ संवत्सरः १७
१९ अङ्गिरसः १३	४४ मासाः १७
२० यज्ञः १४	४५ विश्वेदेवाः १८, १९
२१ यजमानः १४	४६ देवपत्न्यः १९
२२ ऋचः १४	४७ भूतं २१
२३ सामानि १४	४८ भूतानां भूतपतिः २१
२४ भेषजानि १४	४९ भेषजः २३

अन्तरिक्षस्थानीय देवता

१ गंधर्वः ४	११ शकुन्तः ८
२ अप्सराः ४	१२ भवः ९
३ चंद्रमाः ५	१३ शर्वः ९
४ वायुः ६	१४ रुद्रः ९
५ पर्जन्यः ६	१५ पशुपतिः ९
६ अन्तरिक्षं ६	१६ इषुः ९
७ दिशः ६	१७ यमः ११
८ सर्वाः आशाः ७	१८ पितरः ११, १६
९ सोमः ७	१९ अन्तरिक्षसदः देवाः १२
१० पक्षिणः ८	२० रुद्राः (एकादश) १२

द्युस्थानीय देवता

१ इन्द्रः १	१४ अश्विनौ ४
२ बृहस्पतिः १	१५ ब्रह्मणस्पतिः ४
३ सूर्यः १, ५	१६ अर्यमा ४
४ राजा वरुणः २	१७ विश्वे आदित्याः (द्वादश) ५, १३
५ मित्रः २	
६ विष्णुः २	१८ दिव्याः पशवः (पक्षिणः) ८
७ भगः २	
८ अंशः २	१९ द्युः १०
९ विवस्वान् २	२० नक्षत्राणि १०
१० सविता देवः ३	२१ सप्तर्षयः ११
११ धाता ३	२२ देवी आपः ११
१२ पूषा ३	२३ प्रजापतिः ११
१३ त्वष्टा ३	२४ दिविषदः देवाः १२, १३

यहां तीन स्थानोंमें देवताओंको बांटकर रखा है। देवताके नामके आगे जिस मंत्रमें वे देवता आये हैं उनके अंक रखे गए हैं। और कई देवता अन्तरिक्षस्थानमें अथवा द्युस्थानमें रखने योग्य होनेपर भी उनका पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबंध आनेके कारण उन्हें पृथ्वीस्थानमें रखा है। इतना भेद विचारकी सुबोधताके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें	४९
अन्तरिक्षस्थानमें	२०
द्युस्थानमें	२४
मिलकर कुल	९३ इतने देवता हुए।

इनमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ७ ऋषिगण, १००

मुख्य, १२ मास, १२ ऋतु, ६ ऋतु, २ अयन, ६ ऋतुपति, ४ दिशा ४ उपदिशा ये १८४ देवता अधिक होते हैं। इनमेंसे १२ पुनरुक्त होनेसे कम किये जाय तो शेष १७२ रह जाते हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंको मिलानेसे २६३ देवता होते हैं।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबंध आता है यह देखकर पापसे बचनेका यत्न सावधानतासे करना उचित है।

इनमें कई देवता पापके लिये साधन भी होते हैं। जैसे भूमि, जल, वनस्पति, पशु, पक्षी इनके कारण ही मनुष्य युद्ध करते आये हैं, भूमिके कारण कितने युद्ध हुए हैं और कितने मानव काटे गये हैं, यह इतिहासमें देखने योग्य है। मानवोंमें राक्षसभाव इनके कारण ही आता है। बचना तो इसी राक्षसभावसे है। व्यवहार ऐसा करना चाहिये कि मानवोंका राक्षसभाव दूर हो और उनमें दैवीभाव स्थिर हो। इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः। (२२।९)

'ये सब देव हमारे लिये सदा शुभमार्ग बतानेवाले हों।' इस प्रार्थनामें अशुभवृत्ति होनेकी संभावना सूचित होती है। मन वशमें रखकर किसी प्रकार भी अशुभवृत्ति मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

इस तरह मनुष्य पापसे बच सकता है। मन ढीला रहेगा तो पाप होगा, यदि मन बलवान् होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रात्मा होकर यशस्वी बने।



एकंशतं लक्ष्म्योई मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥
एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव । रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (मर्त्यस्य तन्वा साकं) मनुष्यके शरीरके साथ (जनुषः अधि) जन्मते ही (एकशतं लक्ष्म्यः जाताः) एकसौ एक लक्ष्मियां उत्पन्न हो गई हैं । (तासां पापिष्ठाः इतः निः प्रहिण्मः) उनमेंसे पापी लक्ष्मीको यहांसे हम दूर करते हैं । हे (जातवेद) ज्ञानी देव ! (शिवाः अस्मभ्यं नि यच्छ) और जो कल्याणमय लक्ष्मियां हैं वे हमें प्रदान कर ॥ ३ ॥

(खिले विष्ठिताः गाः इव) घराऊ भूमिपर बैठी हुई गौवोंके समान (एताः एनाः वि-आकरं) इन इन वृत्तियोंको मैं अलग अलग करता हूं । (याः पुण्याः लक्ष्मीः रमन्तां) जो पुण्यकारक लक्ष्मियां हैं, वे यहां आनन्दसे रहें । (याः पापीः ताः अनीनशं) और जो पापी वृत्तियां है उनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— मनुष्यको जन्मके साथ एकसौ एक शक्तियां प्राप्त होती हैं, उनमें कई पापमय हैं और कई पुण्ययुक्त हैं । पाप हमसे दूर हों और शुभ हमारे पास आयें ॥ ३ ॥

मैं इनको पृथक् करता हूं । जो पुण्यकारक हैं वे मेरे पास रहें और जो पापकारक हों वह मुझसे दूर हो जांय ॥४॥

मनुष्यके उत्पन्न होते ही उसके शरीरमें सैकडों शक्तियां स्वभावतः रहती हैं । उनमें कुछ बुरी हैं और कुछ अच्छी होती हैं । अच्छी शक्तियां अथवा वृत्तियां जो हों उनको अपने अन्दर रखना और बढाना चाहियें, तथा जो बुरी वृत्तियां हों उनको दूर करना चाहिये । (मं. ३)

घराऊ भूमिमें अनेक गौवें बैठती हैं, उनमें कई श्वेत रंगकी हैं और कई काले रंगकी है, यह जैसे पहचाना जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्तियों और वृत्तियोंको पहचानना चाहिये । और शुभवृत्तियोंकी वृद्धि और अशुभ हीन, और हानिकारक वृत्तियोंका नाश करना चाहिये । (म. ४)

' लक्ष्मी ' का अर्थ है ' चिन्ह ' । अपने अन्दर कौनसे चिन्ह बुरे हैं और कौनसे अच्छे हैं, इसकी परीक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है । मनुष्यके वर्तावमें ये चिन्ह दिखाई देते हैं । ये देखकर ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे उसमें शुभलक्षणोंकी वृद्धि हो और अशुभ लक्षण घट जावें । इस प्रकार करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है ।



पापसे बचना

कांड ६, सूक्त ११५

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - विश्वेदेवाः ।)

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् । यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् विद्वांसः यद् अविद्वांसः) जब जानते हुए अथवा न जानते हुए (वयं एनांसि चकृम) हम पाप करें, हे (विश्वेदेवाः) सब देवो ! (यूयं सजोषसः तस्मात् नः मुञ्चत) तुम एक मतवाले होकर उस पापसे हमें मुक्त करो ॥ १ ॥

भावार्थ— जानते हुए अथवा न जानते हुए जो पाप मनुष्यसे हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् । भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥
द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यदि जाग्रत् यदि स्वपन्) यदि जागते हुए अथवा सोते हुए (एनस्यः एनः अकरं) में पापी होकर भी पाप करूं, तो (द्रुपदात् इव) खूंटेसे पशुको जैसे मुक्त करते हैं उसी प्रकार (भूतं भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां) भूत अथवा भविष्य कालका जो पाप है उससे मुझे छुडाओ ॥ २ ॥

(द्रुपदात् इव मुमुचानः) जिस प्रकार पशु बन्धनस्तम्भसे मुक्त होता है अथवा (मलात् स्विन्नः स्नात्वा इव) जैसे मलसे स्नानके बाद मुक्त होता है (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) अथवा जैसे छाननीसे घी पवित्र होता है उसी प्रकार (विश्वे मा एनसः शुम्भन्तु) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जागते समय अथवा सोते समय जो पाप मनुष्यसे हो, वह भूत कालका हो अथवा वर्तमान कालका हो उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसे स्तम्भसे पशु छूटता है, शरीरसे स्नानके द्वारा मल दूर होता है और जैसे छाननेसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो जाऊं ॥ ३ ॥

निष्पाप बननेके तीन प्रकार

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि और संबंधशुद्धि । इसके तीन उदाहरण तृतीय मन्त्रमें दिये हैं देखिये—

१ अन्तःशुद्धि- (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) छाननीसे जिस प्रकार घी शुद्ध होता है । घी छानते हैं, उससे घीके अन्दरके मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणके मल दूर करने चाहिये । यह अन्तःशुद्धि है ।

२ बहिःशुद्धि- (मलात् स्नात्वा स्विन्नः इव) जैसे शरीरपर लगे हुए मलको स्नान करनेसे शुद्धता होती है । यह बहिःशुद्धि है । मल शरीरपर बाहरसे लगता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे यह शुद्धता करनी होती है ।

३ संबंधशुद्धि- (द्रुपदात् मुमुचानः इव) स्तंभके बंधनसे जैसे पशुको छुडाते हैं अथवा फल परिपक्व होनेसे जिस प्रकार वह वृक्षसे छूट जाता है । उस प्रकार संबन्धके लोभसे मुक्त होना । यह संबंधशुद्धि है ।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं । मनुष्यको भी जो निर्दोषता प्राप्त करनी है, वह इन तीनों प्रकारकी है । मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य शुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना सहना पवित्र रखे तथा अपनी अन्तःशुद्धि करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे । इस प्रकार मनुष्य परिशुद्ध होता है ।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जागता हुआ अथवा सोता हुआ पाप करता है, इन सब पापोंसे मुक्तता प्राप्त करनी चाहिये । परमेश्वरकी कृपा, ज्ञानियोंका सत्संग और आत्मशुद्धिका प्रयत्न करनेसे पापसे छूटना संभव है ।

पाप नाशन

कांड ४, सूक्त ३३

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – पाप्मनाशनः अग्निः ।)

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम् । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ १ ॥
सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २ ॥
प्र यद्भन्दि॑ष्ठ ए॒षां प्रास्माका॑सश्च सू॒रयः॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ३ ॥
प्र यत्ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाये॑महि॒ प्र ते॑ व॒यम् । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ४ ॥
प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ५ ॥
त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ६ ॥
द्विषो॑ नो विश्वतोमु॒खाति॑ ना॒वेव॑ पारय । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ७ ॥
स नः॒ सिन्धु॑मिव ना॒वाति॑ पर्षा स्व॒स्तये॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) प्रकाशक देव ! (नः अघं अपशोशुचत्) हमारा पाप निःशेष दूर होवे और हमारे पास (रयिं शुशुग्धि) धन शुद्ध होकर आवे । (नः अघं अप शोशुचत्) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

(सुक्षेत्रिया सुगातुया) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, (च वसूया यजामहे) और धनके लिये हम यजन करते हैं । हमारा पाप दूर होवे ॥ २ ॥

(एषां यत् भन्दिष्ठः प्र) इनके बीचमें जिस प्रकार अत्यंत कल्याण युक्त होऊं (अस्माकासः सूरयः च) और हमारे ज्ञानी जन भी उत्तम अवस्था प्राप्त करें । इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (यत् ते सूरयः) जैसे तेरे विद्वान् हैं वैसे (ते वयं प्र जायेमहि) तेरे बनकर हम श्रेष्ठ हो जायें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

(यत्) जैसे (सहस्वतः अग्नेः) बलवान् अग्निकी (भानवः विश्वतः प्रयन्ति) किरणें चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार हमारी फैलें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू ही सबसे श्रेष्ठ है, वैसे बननेके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (नावा इव) नौकाके समान (नः द्विषः अतिपारय) हमें शत्रुओंके समुद्रसे पार करा, और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

(नावा सिंधुं इव) जैसे नौकासे समुद्रके पार होते हैं, उसी प्रकार (सः) वह तू (नः अतिपर्ष) हमें पार करा और (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः अघं अप शोशुचत्) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है । पापको दूर करनेसे और शुद्ध होनेसे (रयि) धन मिलता है, (सुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगातु) उत्तम मार्ग उन्नतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्ठः) कल्याण प्राप्त होता है, (सूरयः) विद्वानोंकी संगति मिलती है, (सूरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (भानवः विश्वतः यन्ति) प्रकाश चारों ओर फैलता है, (परिभूः) सबसे अधिक प्रभावशाली हो जाता है, (अतिपारयति) दुःख दूर हो जाते हैं और (स्वस्ति) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं । जिस प्रमाणसे पाप दूर होगा और पवित्रता होगी, उस प्रमाणसे उक्त लाभ हों ।

पापी विचारका त्याग करो

कांड ६, सूक्त २६

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – पाप्मा ।)

अव मा पाप्मन्सृज वशी सन्मृडयासि नः । आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन्धेह्यविह्रुतम् ॥ १ ॥
यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् । पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥
अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः । यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (मा अवसृज) मुझे छोड दे । (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें करता हुआ तू हमें सुख देता है ऐसा प्रतीत होता है । हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (भद्रस्य लोके) कल्याणके स्थानमें (मा अविन्हुतं आधेहि) मुझे अकुटिल अवस्थामें रख ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (यः नः न जहासि) जो तू हमें नहीं छोडेगा तो (तं त्वा उ वयं जहिमः) उस तुझको हम ही छोड देंगे । (पथां अनु व्यावर्तने) मार्गोंके अनुकूल घुमाव पर (पाप्मा अन्यं अनु पद्यतां) पापी-विचार दूसरेके पास चला जावे ॥ २ ॥

(सहस्र-अक्षः अमर्त्यः) हजार आंखवाला और न मरनेवाला यह पापी विचार (अस्मत् अन्यत्र नि उच्यतु) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जावे । (यं द्वेषामः तं ऋच्छतु) जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके पास जावे, (यं उ द्विष्मः तं इत् जहि) जिससे हम द्वेष करते हैं उसका नाश कर ॥ ३ ॥

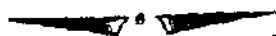
पापी मन

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं । इसलिये मनसे पापी संकल्प सबसे प्रथम दूर करने चाहिये, मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर हो सकते हैं ।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मनुष्यको वशमें करते हैं और थोडे प्रयत्नसे अधिक सुख प्राप्त करा देनेके प्रलोभनसे, अर्थात् सुख देनेके प्रलोभनसे फसाते हैं । इसलिये इनसे बचना चाहिये ।

यदि पापी विचार मनसे स्वयं दूर नहीं हुआ, तो उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्रगतिके मार्गकी अनुकूलता हो सकती है । तात्पर्य यह कि पापी विचार दूर करके चित्तको शुद्ध करनेसेही उन्नतिका सच्चा मार्ग खुला हो सकता है ।

पापी विचार हजार आंखवाला है, इसलिये वह हमारी न्यूनता और कमजोरी स्पष्ट जानता है और उस मार्गसे अन्दर प्रविष्ट होता है । शरीर क्षीण होनेपर भी वह पापी विचार क्षीण नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये पापी विचारको दूर करनेसे अन्दरकी पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब कष्ट दूर होंगे । यह आत्मशुद्धि द्वारा उन्नति प्राप्त करनेका मार्ग है ।



पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २६

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – द्यावापृथिवी)

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि ।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
असंतापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान् ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी ! (सुभोजसौ सचेतसौ) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले और उत्तम ज्ञानवाले हो; (वां मन्वे) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूं। (ये अमिता योजनानि अप्रथेथां) जो तुम दोनों अपरिमित योजनोंकी दूरीतक फैले हो, (हि वसूनां प्रतिष्ठे अभवतां) क्योंकि तुम दोनों निवास करनेवाले प्राणी आदिकोंको आधार देनेवाले होते हो (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों (प्रवृद्धे सुभगे उरूची देवी) बडी विशाल, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियां (वसूनां प्रतिष्ठे हि अभवतं) निवास करनेवालोंको आश्रय देनेवाली हो। ये (द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी हों और (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(अहं) मैं (सुतपसौ असन्तापे) उत्तम तेजस्वी परंतु सन्ताप न देनेवाली (कविभिः नमस्ये उर्वी गंभीरे) कवियों द्वारा नमन करने योग्य बडी लंबी चौडी और बडी गंभीर द्यावापृथिवीको (हुवे) प्रार्थना करता हूं। मे (द्यावा०) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये अमृतं ये हवींषि बिभृथः) जो तुम दोनों अमृतरूपी जल और अन्नको धारण करती हो (ये स्रोत्याः ये मनुष्यान् बिभृथः) जो नदी आदि प्रवाहोंको और जो मनुष्योंको धारण करती हो। वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ये उस्रियाः ये वनस्पतीन् बिभृथः) जो तुम दोनों गौओं और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो; (ययोः वां अन्तः विश्वा भुवनानि) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (द्यावा०) तुम द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायक होवो और वे हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और पेयसे सबको तृप्त करती हो, (याभ्यां ऋते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके बिना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी बनो और हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे पुरुष प्रयत्नसे किया हुआ, (न दैवात्) दैवकी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिशोचति) जो यह मुझे शोकमें डालता है, उस कष्टको दूर करनेके लिये (द्यावा-पृथिवी स्तौमि) द्यावापृथिवीकी मैं स्तुति करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) मैं उनसे सनाथ होकर पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तं) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥



पाप मोचन

द्यावापृथिवी

यह सूक्त मृगार सूक्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है और इसमें द्युलोक और पृथिवी लोकके योगसे पातकसे मुक्त होनेकी आकांक्षा की है। पृथिवी लोक वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और द्युलोक वह है जो तारोंसे युक्त आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड इनके बीचमें समाया हुआ है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। जितनी सब शक्तियां हैं इनके बीचमें आगई हैं। इन सब शक्तियोंकी सहायतासे हमें अपना सुधार करके पापसे मुक्त होना है।

ये द्यावापृथिवी देवता (अमिता योजना। मं. १) अगणित योजन विस्तृत हैं। ये कितने विस्तृत हैं इसका मापन नहीं हो सकता। आकाशका विस्तार मापा नहीं जा सकता है और न मापा जा सकता है। संक्षेपसे कहना हो तो इतनाही कहा जा सकता है कि ये दोनों (प्रभूद्वे उरूची। मं २; उर्वी, गभीरे। मं ३) बड़े विस्तृत, महान्, गंभीर हैं अर्थात् बड़े गहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीको पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरएक पदार्थ मात्रके लिये (प्रतिष्ठे) आधार देती हैं। इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसौ) मनमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः नमस्ये) कवि लोक इनके विषयमें बड़ा आदर धारण करते हैं। इनमें सूर्यादि तेजस्वी गोल (सु-तपसौ) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, तथापि ये किसीको (अ-सन्तापे) सन्ताप नहीं देते, प्रत्युत संतप्त हृदय जब इनकी ओर दृष्टि-क्षेप करता है तब उनके हृदयका दुःख दूर होता है और वहां शान्तिका राज्य होता है।

ये दोनों लोक (सु-भोजसौ) उत्तम भोजन देते हैं। (कीलालेन तर्पयत) अन्नसे संतुष्ट करते हैं और जब तृषा लगती है तब भी (घृतेन) जलसे शान्ति देते हैं। क्योंकि इनके अंदर (अमृतं हवींषि बिभ्रतः) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर (उस्त्रियाः) गौवें हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा वनस्पतियां हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। मनुष्योंको जिस समय शोक हो उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम दृश्य देखें और उनमें दिव्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है। द्युलोक पिता है और पृथ्वी माता है। मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कैसे अपनी सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं। ये अपने तेजसे हमें मार्ग बताते हैं, अन्नसे हमारी तृप्ति करते हैं, जलसे हमारी शान्ति बढ़ाते हैं और अन्यान्य रीतिसे हमारी सहायता करते हैं। इसी प्रकार हमें भी अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थ व्यय करना चाहिये, हमें अपना अन्तःकरण इनके समान विस्तृत और उदार बनाना चाहिये। अपना जीवन जनताकी भलाईके लिये समर्पित करना चाहिये और सब जगत्को एक परिवार मानकर सबके साथ इनके सदृश समान व्यवहार करना चाहिये। यह है पाप मोचनका मार्ग।



पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २३

(ऋषि - मृगार । देवता - प्रचेता अग्नि ।)

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन् ।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥
यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥
सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् । हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ— (य बहुधा इन्धते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं उस (पाञ्चजन्यस्य प्रचेतसः प्रथमस्य अग्नेः) पञ्च जनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी और सबमें प्रथमसे वर्तमान प्रकाशक देवताका (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (विशः विशः प्रविशिवांसं ईमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएको हम प्राप्त करते हैं (स नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेदः) उत्पन्न हुए पदार्थमात्रको जाननेवाले ! (यथा हव्यं वहसि) जिस प्रकार तू हवनको पहुंचाता है और (प्रजानन् यथा यज्ञं कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एव देवेभ्यः सुमतिं नः आवह) उसी प्रकार देवोंसे उत्तम मतिको हमारे पास ले आ और (स नः अंहसः मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचा ॥ २ ॥

(यामन् यामन् उपयुक्तं) प्रत्येक समयमें उपयोगी (कर्मन् कर्मन् आभगं) प्रत्येक कर्ममें भजनीय, और (वहिष्ठं) अत्यंत बलवान (अग्निं ईडे) सब प्रकाशक देवकी मैं स्तुति करता हूं। यह (रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं) राक्षसोंका नाशक यज्ञको बढानेवाला यज्ञमें घृतकी आहुतियां जिसके लिये दी जाती हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(सुजातं जातवेदसं) उत्तम प्रसिद्ध बने हुए विश्वको जाननेवाले (विभुं वैश्वानरं) सर्वव्यापक विश्वके (हव्यवाहं हवामहे) अन्नके देनेवाले प्रभुकी हम प्रार्थना करते हैं कि (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— पांचों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येकके हृदयमें ठहरकर प्रकाश देनेवाले परमात्माको हम प्राप्त करते हैं जो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जिस प्रकार हवन किये हुए हवन द्रव्योंको अग्नि सब देवोंके पास पहुंचाता है उसी प्रकार यह महान देव सब दिव्य भाववालोंके पास रहनेवाली सुमति हमारे अंतःकरणमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

प्रत्येक समय सहायता देनेवाला हरएक कर्ममें सेवा करने योग्य बलवान प्रकाशक दुष्टोंको दूर करनेवाला यज्ञकी वृद्धि करनेवाला और जिसके लिये यज्ञमें आहुतियां दी जाती हैं वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

उत्तम प्रसिद्ध, सर्वज्ञ, सर्व व्यापक सबको चलानेवाला अन्नका दाता जो एक ईश्वर है उसीकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥
येन देवा अमृतमन्वविन्दन्येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।
येन देवाः स्व१राभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥
यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (येन युजा ऋषयः बलं अद्योतयन्) जिसकी सहायतासे ऋषिलोग बल प्रकाशित करते आये हैं, (येन असुराणां मायाः अयुवन्त) जिसकी सहायतासे राक्षसोंकी कपटवृत्तियोंको दूर किया, (येन अग्निना इन्द्रः पणीन् जिगाय) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने आसुरी व्यवहार करनेवालोंको जीता था (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(येन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्त किया, (येन ओषधीः मधुमतीः अकृण्वन्) जिसकी सहायतासे औषधियोंको मधुर रसवाली बनाया है, (येन देवाः स्वः आभरन्त) जिसके आश्रयसे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं। (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यस्य प्रदिशि इदं केवलं) जिसके शासनमें यह विश्व किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा न करता हुआ स्थिर है (यत् विरोचते) जो इस समय प्रकट हो रहा है (यत् जातं जनितव्यं च केवलं) जो पहिले बना था और जो भविष्यमें भी बनेगा, (नाथित अग्निं स्तौमि जोहवीमि) सनाथ होकर मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूं (सः नः अंहसः पातु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— ऋषि लोग जिसके पाससे बल प्राप्त करते हैं, जिसकी सहायतासे देव असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आधारसे कुटिल व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे देवतालोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसने औषधियां मधुर रसवाली बनायीं हैं, जिसने देवता लोगोंमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत भविष्य और वर्तमान समयोंमें प्रकाशित होनेवाला यह संपूर्ण विश्व जिसके शासनमें रहता है उसकी मैं स्तुति, प्रार्थना और उपासना करके याचना करता हूं कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पाप मोचन

पापसे मुक्ति

मनुष्यमें पापका भाव रहता है जो हरएककी उन्नतिके पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है। इसलिये पाप भावसे बचनेका उपाय हरएकको करना चाहिये। यहां २१-२९ ये सात सूक्त इसी उद्देश्यके आये हैं, इन सातोंका ऋषि ' मृगार ' है। इस ऋषिके नामका अर्थ ' आत्मशुद्धि करनेवाला ' ऐसा है। इस २१ वे सूक्तमें अग्नि नामसे बोधित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मुक्त होनेका उपदेश है।

इस पृथ्वीपर पहिली प्रथम दिखाई देनेवाली शक्ति ' अग्नि ' है ' अग्निमें प्रकाशवताका गुण तथा अन्यान्य गुण जो विद्यमान हैं वे जिस परमेश्वरने रखे हैं वही सच्चा अग्निका अग्नि है। इस दृष्टिसे यहां अग्नि पदका प्रयोग किया गया है। जो देव सबसे पहिला है अर्थात् जिससे पूर्वका कोई देव नहीं, जो ज्ञानी है, जो पञ्चजनोंके हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अंदर जो प्रविष्ट हुआ है, जो यज्ञको बढानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे हमारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी पूजाके लिये

किया जाता है, जो दुष्टोंको दूर करता है और यज्ञ द्वारा जो सज्जनोंका संगतिकरण करता है, इस प्रकार दुष्टोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ संपूर्ण जगत्का जो चालक है, जिसके लिये जैसा अन्न चाहिये वैसा उसके लिये जो उत्पन्न करता है, ज्ञानी लोग जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय वीर जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, दुष्ट रीतिसे व्यवहार करनेवालोंका जिसकी व्यवस्थासे पराभव होता है, जो सबको अमृतत्व देता है, जिसने ओषधियोंमें विविध मधुर रस रखे हैं, जिससे आत्मिक बल प्राप्त होता है और जिसका शासन सब भूत, भविष्य, वर्तमान संसारपर अबाधित रीतिसे चलता है अर्थात् जिसके शासनमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं है वह एक ही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसकी उपासना हम करते हैं, वह हमें निश्चय पूर्वक पापसे बचावेगा। उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंकी धारणा अपने अंदर करनेसे ही जो शुभ भावनाएं मनमें स्थिर होती हैं, उससे पाप प्रवृत्ति हट जाती है। इसलिये परमेश्वरकी उपासना मनुष्यकी अन्तःशुद्धि करती है ऐसा कहते हैं वह बिलकुल सत्य है।

इस अग्निकी विभूति मनुष्यके अंदर वाणीका रूप धारण करके रहती है ' अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ' ऐसा ऐतरेय उपनिषद्में कहा है। इससे वाणीसे पाप न करनेका निश्चय करना चाहिये। विचार, उच्चार और आचार यह क्रम है, मनसे विचार होता है, पश्चात् वाणीसे उच्चार होता है और अनंतर शरीरसे कर्म होता है। मनुष्य अपने ही पासके संसारमें देखे तो उसको पता लग जायगा कि वाणीका प्रयोग ठीक रीतिसे न होनेके कारण ही जगत्में कितने झगडे और पाप हो रहे हैं। यह बात तो सबके परिचयकी है कि वाणीका योग्य उपयोग करनेसे प्रचंड अनर्थ टल जाते हैं। इसलिये जो पापसे बचना चाहते हैं वे अपने वाणीको सबसे पहले शुद्ध करें और पापसे बचें।



पापकी निवृत्ति

कांड ३, सूक्त ३१

(ऋषि - ब्रह्मा। देवता - पाप्महा।)

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा वि अवृतन्) देव वृद्धावस्थासे दूर रहते हैं। (अग्ने! त्वं अरात्या वि) हे अग्ने! तू कंजूसोंसे तथा शत्रुसे दूर रह। (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंसे दूर रहूं। तथा (यक्ष्मेण वि) रोगसे भी दूर रहूं। और (आयुषा सं) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥ १ ॥

(पवमानः आर्त्या वि) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, (शक्रः पापकृत्यया वि) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ— जैसे देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण रहते हैं तथा अग्निदेव अज्ञानी पुरुषोंको दूर करके ज्ञानी पुरुषोंको पास करते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥
वीमे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥
अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥
प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

अर्थ— जैसे (ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि) ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं और (आपः तृष्णया वि असरन्) जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ३ ॥

जिस प्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये द्युलोक और पृथ्वी अलग हैं और (पन्थानः दिशं दिशं वि) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ४ ॥

जैसे (त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति) पिता अपनी कन्याको दहेज-रूपी धन-देनेके लिये अलग करता है और जैसे (इदं विश्वं भुवनं वि याति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ५ ॥

जिस रीतिसे (अग्निः प्राणान् सन्दधाति) जाठर अग्नि प्राणोंको धारण करती है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे (अहं सर्वेण०) मैं सब पापों और रोगोंसे बच कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ६ ॥

जिस ढंगसे (देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंगसे (अहं सर्वेण०) मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहके दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥ ७ ॥

भावार्थ— जैसे गौ आदि गांवके पशु सिंह व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसे एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसे पुत्रीके विवाहके समय जामातको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूं ॥ ५ ॥

जैसे शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करती हुई प्राणोंको बलवान् बनाती है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूं ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राण शक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥
प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥
उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्टयोदस्थामामृता वयम् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

अर्थ— (आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्यबढानेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह । (मा मृथाः) मत मर, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायुवाला बनूं ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जीवित रहने वालोंके प्राणसे जीवित रह, (इह एव भव) यहीं प्रभावशाली हो और (मा मृथाः) मत मर । उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ९ ॥

(आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायुवाला बनूं ॥ १० ॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्ट्या) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत् अस्थाम) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय । इसीलिये मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ११ ॥

भावार्थ— *स्वभावतः दीर्घायुवाले लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करने* वालों को जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बल युक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे । मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु युक्त बनूं ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है, उसको बलवान् करके तू यहां बढ, छोटी आयुमें ही मत मर । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु युक्त बनूं ॥ ९ ॥

अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससे भी दीर्घायु प्राप्तकर, औषधियोंका रस पीकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायुवाला बनूं ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करें और अमरत्व भी प्राप्त करें । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु से युक्त बनूं ॥ ११ ॥

पापकी निवृत्ति

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये हैं ।

पाप और पुण्य

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहां विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं हैं और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है । अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है । अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिनिषेध सर्वसामान्य होते हैं और अन्यान्य शास्त्रोंके विधिनिषेध उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है ' पवित्र बनना ' और पाप शब्दका अर्थ है ' पतनका हेतु ' अन्यान्य शास्त्रोंमें जिससे हानि होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें ' पाप ' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नतिकारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारक धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विशद करते हैं—

वैद्यशास्त्र	धर्मशास्त्र
१ मद्यपीनेसे यकृत् और पेट बिगड़ता है, खूनमें कमजोरी पैदा होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं। इत्यादि	१ मद्य पीना पाप है।
२ व्यभिचार करनेसे वीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियां होती हैं। इत्यादि	२ व्यभिचार पाप है।
आरोग्यशास्त्र	
३ स्नान करके स्वच्छता करने, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते और आरोग्य बढ़ता है। इत्यादि	३ स्नान करना पुण्यकारक है। स्वच्छता करना पुण्य है।
४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगबीज दूर होते हैं और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्य कारक है।	४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है।
समाजशास्त्र	
५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं। इत्यादि	५ सत्य बोलना पुण्यकारक है।
राजशासनशास्त्र	
६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार दण्ड होता है।	६ चोरी खून आदि करना पाप है।

अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये हुए होते हैं, परंतु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें 'पाप और पुण्य' इन दो शब्दों द्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है। इससे धर्मशास्त्रके पाप पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है।

ये सब पाप ही रोग और अल्पायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है। यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है। इस सूक्तमें प्रत्येक मंत्रका उत्तरार्ध यह है—

व्यहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, समायुषा ॥
(मं. १ ११)

'मैं सब पापोंको दूर करता हूं, उससे रोगोंको दूर करता हूं और इसप्रकार दीर्घायुसे युक्त होता हूं।' इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि—'मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूं।' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी। यह गाथा मंत्र ग्यारह बार कह कर यह संदेश पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है।

*

पापको दूर करना

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश दिया है (व्यहं सर्वेण पाप्मना वि। मं १-११)। यहां पाप शब्द कायिक, वाचिक, मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी पापोंका निदर्शक है। ये सब दूर करने चाहियें। अपने मनके पापीविचार दूर हटाने चाहियें, वाणीको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, शरीरसे कोई पाप कर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि उनकी प्रवृति उस पापकी ओर कभी न होवे। इसी प्रकार कुटुंब, जाति, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं। उनको भी दूर करना चाहिये। यदि कोई कहे कि जाति और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको चाहिये कि वे अपना-निजका-तो सुधार करें। अपनी निष्पापता सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम जाति पर भी होगा और न भी हुआ, तो भी उस व्यक्तिको तो पापसे बचनेके कारण उन्नतिका भाग अवश्य ही मिलेगा। जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतनका हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको पासमें रखना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा।

अब पापों और रोगोंको दूर करनेके अनुष्ठान की रीति देखिये—

देवोंका उदाहरण

देवोंका नाम 'निर्जरा.' है, इसका अर्थ है 'जरा, बुढा- वस्था और बुढापा आदिको दूर रखनेवाले'। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान से बुढापेको दूर किया था, और वडी आयु होनेपर भी तरुण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। यह बतानेके लिये प्रथम मन्त्रमें—

देवाः जरसा वि अवृतन्। (मं १)

"देवोंने बुढापेको दूर रखा था" यह बात कही है। अब आगे देखिये—

अग्निका आदर्श

अग्नि भी (अग्ने ! त्वं अराय्या वि। म. १) कजूसों- को दूर करता है। उदार मनुष्य हो जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं, अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर ही जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अग्नि कजूस मनुष्योंको दूर करती है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्हें उन्नत करती है। जिस प्रकार यह अग्नि कजूसोंको दूर करती है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अपनेसे अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे।

जो पापी मनुष्य होता है उसकी संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इसलिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये, इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्योंके रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उन- को अलग करना चाहिये, जिससे उनके रोग अधिक न फैलें। इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे शेष समाजका निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा।

पवित्रताका महत्व

द्वितीय मन्त्रमें पवित्रता और शुद्धताके महत्वका वर्णन किया है। पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आर्त्याः वि। (२) शक्रः अपदुष्कृत्या वि। (म २)

'(१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है।'

ये दोनों सर्वपूर्ण मन्त्रभाग हैं। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं। शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी आत्म शुद्धि करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परि- वारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छान कर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोग बीज हट जाते हैं और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योंको भी दूर रखता है।

ग्राम, नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मन्त्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

स्थानत्यागसे बचाव

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि। (मं ३)

२ इमे द्यावापृथिवी वि इतः। (मं. ४)

'(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रह कर बचाव करते हैं, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसे दूर रहता है।' ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदाहरण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थान में रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक भूलोक से बहुत दूरीपर स्थित है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रह कर पापसे बचना और रोग स्थानसे दूर रह कर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव

जिनको स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोग प्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सूक्तके कथन देखिये—

१ अपः तृष्णया वि ससरन् । (म. ३)
२ पथ्यानः दिशो दिशं वि । (म ४)

'(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।' जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावत पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोग प्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हरएकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बनें।

दान

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति । (म. ५)

'पिता पुत्रीके दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।' यह धन दामादके घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकट्ठे हुए धनसे ऐसी सत्प्रयत्न योजना पूर्वक चलायी जावे कि जो जनताको पापप्रवृत्तिसे और रोगोंसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवी, संपन्न, स्वस्थ और सुखी बन सकेगा।

अपनी गतिमें रहना

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना कुल बढाते हैं। यदि वे अपनी गतिसे चलते रहें और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करें तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं। इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति । (म ५)

'ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।' सूर्यकी उष्णतासे चद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर परस्पर अविरोधी हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी विविध गुण धर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अवयव बनकर राष्ट्र हित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अवरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकार वे उपायोंका अवलबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे मरनेके पूर्व ही एक दूसरेके सिर तोडकर स्वयं मर जायगे। ऐसा नाश न हो, इसलिये वेद कहता है कि अपनी गतिसे चलो और परस्पर सहायक बनकर अपनी उन्नतिका साधन करो।

पेटकी पाचन शक्ति

मनुष्यके शरीरमें रोग बीजोंका प्रवेश तब होता है जब उसकी पाचन शक्ति बिगडी हुई होती है। इसकी सूचना देनेके लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति । (म. ६)

'जाठर अग्नि-अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्नि ही-प्राणोंको सम्यक्तया धारण करता है।' अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो सके। इसलिये जो दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा अन्यान्य योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आयेगी वही रोगोंको दूर रखेगी और पास आने न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके बिगाडसे यकृत, हृदय और मस्तिष्कका बिगाड होता है। मस्तिष्कके बिगाड से विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही, तो रोग आदि वैसे प्रबल नहीं होते। इसलिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचनशक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मन्त्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः। (म ६)

' चन्द्र प्राणसे मिला हुआ है।' यहां ' चन्द्र ' शब्दके तीन अर्थ हैं- (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस, (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घनिष्ट संबंध है। यहां वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शुद्धभोजन प्राणके स्थिरीकरणके लिये आवश्यक बतानेसे मांसादि सेवन दीर्घजीवनके लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है।

सूर्यका वीर्य

सूर्यमें बडी भारी जीवन विद्युत् है, उसको अपने अंदर संहित करनेसे नीरोगता और दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मन्त्रका कथन यह है—

देवाः विश्वतोवीर्यं प्राणेन समैरयन्। (म. ७)

' देव सब प्रकारके वीर्योंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं।' इसी अनुष्ठानसे देव (निर्जराः) जरारहित और (अ-मराः) मरणरहित हुए हैं। ' इस लिये जो लोग अपने प्राणके अंदर सूर्यकी जीवन विद्युतको धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य प्रकाशमें खडे होकर या बैठकर दीर्घश्वसन द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अंदर लेनेसे अपने अंदर सूर्यका वीर्य आजाता है; इसी प्रकार नग्न शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे भी चमडी के अंदर सौरविद्युत्का प्रवेश हो जाता है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौरविद्युतसे लाभ उठाया जा सकता है।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयुवाले मनुष्य हैं, अर्थात् विना प्रयत्नसे जो दीर्घ आयुवाले हुए हैं, तथा जो (आयुष्कृत्) प्रयत्नसे दीर्घ आयु करनेवाले हैं अर्थात औषधादि अनुष्ठानद्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है (प्राणतां प्राणेन) प्राणको प्रबल शक्तिसे युक्त पुरुषोंका प्राण कैसे चलता है इसका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये उपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसे करते हैं, किस इनके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, इनके उदाहरण अपने सन्मुख रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह एव भव) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घकाल तक रहना चाहिये और (मा मृथाः) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश म. ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहां जहां दीर्घायु, नीरोग, बलवान, निष्पाप और सत्शील लोग होंगे, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित बोध प्राप्त करना चाहिये और उससे लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस

दशम मन्त्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्यकी प्राप्ति करनेका उपदेश है—

ओषधीनां रसेन आयुषा सं उत्। (म १०)

' औषधियोंके रससे हम दीर्घायुष्यसे संयुक्त हों।' इससे दीर्घायुष्य प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मन्त्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अंतिम मन्त्रमें कहा है कि जिस प्रकार ' वृष्टि होनेसे इस वनस्पति आदि उगते हैं और उन्नतिको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म पूर्वोक्त साधनसे (वयं अमृताः उदस्थाम) अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें। (म ११)

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें क्रमपूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है।



पापसे बचाव

कांड ७, सूक्त ६४

(ऋषिः – यमः । देवता – मन्त्रोक्ता, निर्ऋतिः ।)

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् । आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥ १ ॥
इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन । अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

अर्थ – (इदं यः कृष्णः शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (अभिनिष्पतन् अपीपतत्) मुडता हुआ गिरता है। (तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् अंहसः) उस सब गिरावटके पापसे (आपः मा पान्तु) जल मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (इदं यः कृष्णः शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (ते मुखेन अवामृक्षत्) मेरे पास मुखके साथ गिरता है (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (तस्मात् एनसः) उस पापसे (मा प्रमुञ्चतु) मुझे छुडावे ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रोंके प्रथम चरण दुर्बोध हैं। दूसरे चरणोंमें जल और अग्नि दोषमुक्त करके पापसे बचाते हैं यह बात सूचित की है। पहिले चरणोंसे प्रतीत होता है कि शकुनिपक्षीका गिरना या उडना अशुभ या शुभका सूचक है। परन्तु ये मन्त्र खोजके योग्य हैं।



पापसे मुक्तता

कांड ७, सूक्त ४२

(ऋषिः – प्रस्कण्वः । देवता – सोमारुद्रौ ।)

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥
सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद्विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

अर्थ – हे सोम और रुद्र ! (या अमीवा) जो रोग (नः गयं आविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुआ है, उस (विषूचीं विवृहतम्) फैलनेवाले रोगको दूर करो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरं बाधेथां) दुर्गतिको विशेष रीतिसे दूर ही रोक दो। (कृतं चित् एनः) हमारा किया हुआ भी जो पाप हो, वह (अस्मत् प्रमुमुक्तं) हमसे छुडाओ ॥ १ ॥

हे सोम और रुद्र ! (युवं अस्मत् तनूषु) तुम दोनों हमारे शरीरोंमें (एतानि विश्वा भेषजानि धत्तं) इन सब औषधियोंको स्थापित करो। (यत् नः तनूषु बद्धं एनः असत्) जो हमारा शरीरोंमें सबधसे हुआ पाप है, उससे (अवस्यतं) हमारा बचाव करो। (अस्मत् कृतं एनः मुञ्चतं) हमारे किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो ॥ २ ॥

' अमीव ' नाम उन रोगोंका है कि जो आम अर्थात् पचन न हुए अन्नसे होते हैं। पेटमें जो अन्न जाता है वह वहां हजम न हुआ तो वहां ही उसका आम बनता है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगोंको सोम और रुद्र ये दो

दोष दूर करनेमें समर्थ हैं। ' सोम ' शब्द वनस्पति और औषधियोंका वाचक है, अर्थात् योग्य औषधिके सेवनसे आमका दोष दूर होगा। यह एक उपदेश यह मंत्र दे रहा है।

' रुद्र ' नाम प्राणका है, जीवन शक्ति जो शरीरमें है। यह रौद्रीशक्ति आमका दोष दूर करनेमें समर्थ है। प्राणायामसे एक तो रक्तकी शुद्धि होती है और आंतोंमें योग्य गति होनेसे शौचशुद्धि होनेके कारण आमका दोष दूर होता है।

शरीरकी सब दुर्गति आम विकारके कारण होती है अतः योग्य औषधि सेवनसे तथा प्राणायामके अभ्याससे उक्त दोष शरीरसे दूर करना योग्य है। शरीरसे कुछ नियमविरोधी आचरण होकर कुछ पाप भी हो जाए तो भी उक्त देवताओंकी सहायतासे वह दूर होगा और पापसे आनेवाली सब विपत्ति दूर होगी।

द्वितीय मंत्रमें (विश्वानि भेषजानि) संपूर्ण औषधियां सोम और रुद्रसे प्राप्त होती हैं ऐसा कहा है। सोम तो औषधियोंका राजा ही है, अतः उसके घरमें सब औषधियां रहती ही हैं। रुद्र भी जीवनशक्तिमय है इसलिये जहां जीवन-शक्ति होगी, वहां रोग कैसे आसकते हैं ? इस प्राणसे भी सब औषधियां मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। इनसे पूर्ववत् शरीरके दोष और सब पाप दूर हो जाते हैं। अतः सब मनुष्य इनसे अपना आरोग्य प्राप्त करें और नीरोग बनें।



ज्ञानसे पापको दूर करना.

कांड ६, सूक्त ११३

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - पूषा।)

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥
मरीचीर्धूमान्प्र विशानु पाप्मन्नुदारान्गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान्वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व ॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः एतत् एनः त्रिते अमृजत) देवोंने-इन्द्रियोंने-यह पाप त्रितमें-मनमें-रखा और उसने (एनत् मनुष्येषु ममृजे) यह मनुष्योंमें रखा है (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकड रखा हो, तो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरी उस पीडाको ज्ञानके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी ! (मरीचीः धूमान् प्रविश) सूर्यकिरणोंमें या धूएंमें घुस जा अथवा (उदारान् अनु गच्छ) ऊपर आये भापमें अनुकूलतासे जा, (उत वा नीहारान्) अथवा कोहरेमें लीन हो। (नदीनां तान् फेनान् अनुविनश्य) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघातकीमें पापोंको रख ॥ २ ॥

भावार्थ— इन्द्रियोंका किया पाप मनमें इकट्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाप मनुष्यमें व्यक्त होता है। यदि इससे विविध रोग हुए तब ज्ञानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥

सूर्यकिरण, अन्धेरा, कोहरा अथवा दूसरे स्थान कहीं भी पापी जाए पर उसका पाप दूर नहीं होता। उसका जितना पाप होता है उतना सब गर्भघातकीमें रहता है ॥ २ ॥

द्वादुशधा निर्हितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ– (त्रितस्य अपमृष्टं द्वादशधा निहितं) त्रितका धोया हुआ पाप बारह प्रकारसे रखा है । यह (मनुष्य-एनसानि) मनुष्यके पाप हैं । (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकडा हो तो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरे उस रोगको ज्ञानके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भावार्थ– मनका पाप बारह प्रकारका समझा जाता है यह मनुष्योंमें रहता है । उससे विविध रोग होते हैं जो ज्ञानपूर्वक उपाय करनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियों द्वारा पाप किये जाते हैं वे सब संस्काररूपसे मनमें जमा होते हैं । उन पापोंका परिणाम मनुष्यशरीरमें रोगोंके रूपमें दिखाई देता है । ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते । सबसे अधिक पाप गर्भका घात करनेसे होता है । इनसे पापों-को दूर करना हो तो ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये । क्यों कि ज्ञानसे ही सब पाप दूर होते हैं ।

शापसे हानि

कांड ६, सूक्त ३७

(ऋषि – अथर्वा [स्वस्त्ययनकामः] । देवता – चन्द्रमाः ।)

उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् । शप्तारमन्विच्छन्मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ १ ॥
परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन् । शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥
यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् । शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ– (सहस्राक्षः शपथः) हजार आंखवाला शाप (रथं युक्त्वा) अपना रथ जोतकर (मम शप्तारं अन्विच्छन्) मुझे शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ (उप प्र अगात्) उसके समीप आता है, (वृकः अवि-मतः गृहं इव) जिस प्रकार भेडिया भेडवालेके घरके प्रति आता है ॥ १ ॥

हे (शपथ) दुष्ट भाषण ! (दहन् अग्निः ह्रद इव) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलस्थानको छोड देता है (नः परि वृङ्धि) उसी प्रकार तू हमें छोड दे । (दिवः अशनिः वृक्षं इव) आकाशकी बिजली जिस प्रकार वृक्षका नाश करती है (अत्र नः शप्तारं जहि) उसी प्रकार यहां हमारे शाप देनेवालेका नाश कर ॥ २ ॥

(अशपतः नः यः शपात्) शाप न देनेवाले हमको जो शाप देवे (यः च शपतः नः शपात्) और जो शाप देनेवाले हमको शाप देवें, (अवक्षामं तं मृत्यवे प्रति अस्यामि) उस हीनको मैं मृत्युके सामने उसी प्रकार फेंकता हूं । (पेष्टुं शुने इव) जिस प्रकार टुकडा कुत्तेके सामने फेंकते हैं ॥ ३ ॥

शापसे हानि

शापसे हानि

शाप देनेसे, दूसरेको कटु वचन कहनेसे जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । शाप हजार आंख-वाले अर्थात् महाक्रोधी अथवा महाक्रोधसे उत्पन्न होता है। जो शाप देता है, क्रोधके वचन कहता है, दूसरेको क्रोधसे बुरा कहता है, उसीका शाप उसको हजार गुना भारय होकर उसको ढूंढता हुआ उसीपर वापस आता है देखिये –

सहस्राक्षः शपथः शप्तारं अन्विच्छन् उपागात् । (मं १)

' शाप हजार गुना बनकर शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ उसीके पास जाता है। ' इसलिये शाप देनेवालेकी हानि हजार गुना होती है। अतः कोई किसीको शाप न देवे।

शपथ ! नः परिवृङ्ग्धि। (मं. २)

' शाप हमारे पास न आवे ' अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई दूसरा हमारे उद्देश्यसे बुरा वचन न कहे। अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी हम बुरे शब्द भी न सुनें।

शपथ ! शप्तारं जहि। (मं. २)

' शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे। ' अर्थात् जिसका जो कटु वचन होता है वह उसीका नाश करता है। इसलिये कोई कभी कटु वचन न बोले। कटु वचनसे अपना ही अधिक नाश होता है। इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आपको बड़ी सावधानीसे बचा लेवे।

अवक्षामं मृत्यवे अस्यामि। (मं. ३)

' शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेजा जाता है। ' अर्थात् शाप देनेसे आयुका नाश होता है इस कारण कोई किसीको शाप न देवे और बुरा वचन भी न कहे।

' स्वस्त्ययन ' अर्थात् (स्वस्ति-अयनं) ' उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना ' इस सूक्तका उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कटु वचन न बोले। इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उन्नत होवे और अपना जीवन कल्याणयुक्त बनावे।



पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २७

(ऋषिः – मृगारः। देवता – मरुतः।)

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (मरुतां मन्वे) मरुतोंका मैं मनन करता हूं कि वे (मे अधि ब्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (इमं वाजं वाजसाते अवन्तु) इस अन्नकी अन्नदानके प्रसंगमें रक्षा करें। (सुयमान् आशून् इव) उत्तम नियमोंसे चलनेवाले घोडोंके समान इनको (ऊतये अह्वे) रक्षाके लिये मैं बुलाता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमको पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यचन्ति) जो सदा अक्षय जलप्रवाहको फैलाते हैं, (ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंमें रस सींचते हैं इस प्रकारके (पृश्निमातॄः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप मातासे उत्पन्न मरुतोंको मैं अपने सन्मुख रखता हूं, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनूनां पयः) गौओंके दूधको (ओषधीनां रसं) औषधियोंके रसको (अर्वतां जवं) और घोडोंके वेगको (ये कवयः इन्वथ) जो तुम कवि होकर प्राप्त करते हो, वे (मरुतः नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुत् गण हमें शक्ति देनेवाले और सुख देनेवाले होवें और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥
तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (ये समुद्रात् आपः दिवं उद्वहन्ति) जो समुद्रसे जलको द्युलोक तक पहुंचाते हैं और जो (दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति) द्युलोकसे पृथ्वीपर पुनः छोडते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) जो समर्थ मरुत जलोंके साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

(ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) जो अन्न और पेयसे सबकी तृप्ति करते हैं (ये वा वयः मेदसा संसृजन्ति) और जो अन्नको पुष्टिकारक पदार्थके साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशाना मरुतः अद्भिः वर्षयन्ति) जो समर्थ मरुत् जलोंसे वृष्टि करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

हे (देवाः मरुतः) दिव्य मरुतो ! (यदि इदं मारुतेन) यदि यह जगत् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन ईदृक् आर) और यदि दिव्य शक्तिसे युक्त हुआ, तो हे (वसवः) निवासको ! (तस्य निष्कृतेः यूयं ईशिध्वे) उसके उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मारुत अनीकं शर्धः) मरुतोंका सैनिक बल (पृतनासु तिग्मं) सेनाओंमें तीक्ष्ण और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बल युक्त प्रचण्ड शक्तिवाला सबको विदित है। इसलिये मैं (मरुतः स्तौमि) मरुतोंकी प्रशंसा करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको बुलाता हूं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

पाप मोचन

मरुत् देवता

मरुत् नाम विश्वमें वायुका है, देहमें प्राण भी मरुत् कहलाता है। इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मर्+उत्) मरनेवालोंको ऊपर उठाता है। शरीर मरनेवाला हो तो उसको उठाकर खडा करनेवाला प्राणवायु ही है। मरनेवालेको उठानेका चमत्कार प्राण ही करता है, किसी अन्यमें यह शक्ति नहीं है। जैसे पशुओंमें घोडे वेगवान् होते हैं, उसी प्रकार देवोंमें वायु वेगवान् है। इनके कारण ही सब प्रकारका (वाजं) बल, अन्न, जीवन आदि यथायोग्य रीतिसे अपने अपने स्थानमें रहता है। वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है अपितु औषधि वनस्पतियोंमें भी वही जीवनका संचार करता है और वनस्पतियोंसे जो उत्तमोत्तम रस प्राप्त होता है वह सब इसी प्राणका कार्य है। वनस्पतियोंमें पौष्टिक रस, गौओंमें अमृतके समान दूध, आकाशमें मेघोंमें निर्दोष जल रखनेवाला यह विश्वव्यापक प्राण ही है।

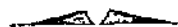
यह विश्व प्राण ही समुद्रसे जलको ऊपर ले जाता है, वहां उसके मेघ बनते हैं और वृष्टि द्वारा फिर शुद्ध जल हमें प्राप्त होता है यह इसीका चमत्कार है। पृथ्वीके ऊपरके

सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हरएक अन्नपान-में जो पौष्टिक सत्वांश है वह इसी कारण है। यह जीवन देनेवाली प्राण शक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निवासक कहा है।

जो वीरोंमें तेज, बल, सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसीके कारण है; यह मरुतोंका और प्राणोंका कार्य सबको देखना चाहिये। देखनेसे पता लगेगा कि पापसे बचनेका उपदेश मरुत् किस ढंगसे दे रहे हैं।

जगत्में देखिये अन्य सब देव अस्तको जाते हैं, परंतु वायुरूपी प्राण सदा समरस रहकर सबको जीवन देता है। इसी प्रकार शरीरमें सब अन्य इंद्रिय तथा अवयव अन्नका भोग लेते हैं और कार्य करनेसे थक भी जाते हैं और विश्राम भी लेते हैं। परंतु प्राण ही ऐसा एक है कि जो स्वयं भोग नहीं लेता, न विश्राम चाहता है और न कभी थकता है। निःस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है। जो जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जायगे।

वेदमें ' मरुत् ' देवता द्वारा वीरोंका वर्णन होता है। मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मर्+उत्) शब्दमें ऋषि देखते हैं। शरीरमें देखिये– प्राण शरीरमें जाता है, यहांका कार्य करता है अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है और फिर उठता है यह भाव यहां प्रत्यक्ष है। प्रति-क्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। अर्थात् इस प्राणके यज्ञसे शरीरकी स्थिति होती है। अपने सब समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होना चाहिये। राष्ट्रकी भलाईके लिये जब अनेक वीर आत्म-समर्पण रूप यज्ञ करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है। जब स्वार्थी लंपट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक संख्यामें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे निष्पाप बनता है यह बोध यहां मिलता है।



पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २८

(ऋषिः - मृगारो अथर्वा वा। देवता - भवाशर्वौ रुद्रो वा।)

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

अर्थ– हे (भव-शर्वौ) जगत् उत्पन्न करनेवाले और जगत्का लय करनेवाले। (वां मन्वे) तुम दोनोंका मनन करता हूं। (तस्य वित्तं) उसको तुम दोनों जानते हो। (यत् इदं प्रदिशि विरोचते) जो यह दिशाओंमें चमकता है वह सब (ययोः वां) जिन तुम दोनोंका ही है (अस्य द्विपदः यौ ईशाथे) इस द्विपाद जगत्के जो तुम दोनों स्वामी हो, (यौ चतुष्पदः) जो चार पाववालोंके भी स्वामी हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(ययोः अभ्यध्वे उत यत् दूरे) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (यौ चित् इषुभृतां असिष्ठौ विदितौ) जो निश्चयसे बाण धारण करनेवालोंमें बाण फेंकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (सहस्राक्षौ वृत्रहणौ) तुम दोनों हजारों आंखवाले और शत्रु विनाशक हो (दूरे-गव्यूती उग्रौ) तथा दूरतक गमन करनेवाले उग्र हो, तुम दोनोंको (अहं हुवे स्तुवन् एमि) मैं पुकारता हूं और स्तुति करता हुआ प्राप्त होता हूं। जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

(अग्रे यौ साकं बहु आरेभाथे) पहिले जो तुम दोनोंने मिलजुल कर बहुत कार्य आरंभ किये और (जनेषु च अभिभां इत् प्र अस्राष्ट्रम्) लोकोंमें तेजको उत्पन्न किया। जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादके स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ययोः वधात्) जिनके वध करनेके सामर्थ्यसे (देवेषु उत मानुषेषु अन्तः) देवों और मनुष्योंके अन्दर (कश्चन न अप-पद्यते) कोई भी नहीं बच सकता और जो द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(यः कृत्याकृत्) जो हिंसा करनेवाला (यः यातुधानः मूल कृत्) जो यातना बढानेवाला और मूलको काटनेवाला हो (तस्मिन्, उग्रौ, वज्रं निधत्तं) उसपर, हे उग्रवीरो! अपना वज्र गिराओ। जो ऐसे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

हे (उग्रौ) उग्रस्वभाववालो! (नः पृतनासु अधिब्रूतं) हमसे समूहोंमें, सेनाओंमें योग्य उपदेश करो! (यः किमीदी) जो स्वार्थी हो उस पर (वज्रेण संसृजतं) वज्रप्रहार करो। इसलिये मैं (भवाशर्वौ) भव और शर्वकी (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

भव और शर्व

ये दो शक्तियां है, एक 'भव' अर्थात् बढानेवाली वर्धक शक्ति है और दूसरी 'शर्व' अर्थात् घातक शक्ति है। इस सब जगत्में ये दो शक्तियां कार्य कर रही हैं। एकसे वृद्धि हो रही है और दूसरेसे नाश हो रहा है। बालकमें विनाशक शक्तिका जोर कम रहता है और वर्धकशक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है। वृद्धमें यह बात उलटी होजाती है इस कारण वृद्ध क्षीण होता है। जगत्में इन दोनों परमात्मशक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूक्तमें अच्छी प्रकार बताई है। मनुष्यमें भी ये दोनों शक्तियां हैं। जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उसको उचित है कि वह

इन शक्तियोंका ऐसा उपयोग करे कि जगतमें उससे घातपात न बढे, अपितु शान्ति और सुख बढे। इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है।

मनुष्यमें ' भव ' शक्ति है जिससे वह नाना प्रकारके सुखोपभोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्य में दूसरी ' शर्व ' शक्ति भी है, जिससे वह तोडमरोड कर विघातक कार्य भी करता है। जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके सत्कार्योंमें करे। अर्थात् जनताका जिससे हित हो ऐसे शुभ कार्य करनेमें उक्त शक्तिका उपयोग करे। उसके पास दूसरी शर्वशक्ति है, इससे घातपात किया जा सकता है यह बात सत्य है, परंतु इसका भी उपयोग जनताकी भलाईके लिये किया जा सकता है। जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है। इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यज्ञमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और वह पुण्यात्मा बनता जायगा। यह उपाय आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूक्त द्वारा सूचित किया है।



पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २९

(ऋषि. - मृगार । देवता - मित्रावरुणौ ।)

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे ।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनोंका मनन करता हूं, आप दोनों (ऋतावृधौ सचेतसौ) सत्यको बढानेवाले और स्फूर्ति देनेवाले हैं, (यौ द्रुह्वण नुदेथे) जो तुम दोनों द्रोहकारियों को हटा देते हो। (भरेषु सत्यावानं प्र अवथ) स्पर्धाओंमें सत्य पालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो। (तौ नः अंहस मुञ्चत) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(यौ भरेषु सत्यावानं अवथः) जो तुम दोनों स्पर्धाओंमें सत्यपालकको बचाते हो, (यौ सचेतसौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो दोनों सचेत होकर, द्रोहकारोंको हटाते हो और (यौ नृचक्षसौ) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) पोषक शक्तिके साथ यज्ञके प्रति पहुंचते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(यौ मित्रावरुणा) जो मित्र और वरुण तुम दोनों (अंगिरसं अगस्तिं जमदग्निं अत्रिं अवथः) अंगिरा अगस्ति, जमदग्नि और अत्रिकी रक्षा करते हो, (यौ कश्यप अवथः यौ वसिष्ठं) जो कश्यप और वसिष्ठकी रक्षा करते हो, वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यौ मित्रावरुणौ) जो मित्र और वरुण तुम दोनों (श्यावाश्वं, वध्र्यश्वं, पुरुमीढं, अत्रिं अवथः) श्यावाश्व, वध्र्यश्व, पुरुमीढ और अत्रिकी रक्षा करते हो (यौ विमदं सप्तवध्रिं अवथ) जो विमद और सप्तवध्रीकी रक्षा करते हो ॥ ४ ॥

(यौ मित्र वरुण) जो मित्र और वरुण तुम दोन (भरद्वाजं गविष्ठिरं विश्वामित्रं कुत्सं अवथः) भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, (यौ कक्षीवंतं कण्वं प्र अवथः) जो कक्षीवान् और कण्वकी रक्षा करते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण तुम दोनों (मेधातिथिं, त्रिशोक, काव्यं उशनां अवथः) मेधातिथि, त्रिशोक, काव्य उशनाकी रक्षा करते हो (यौ गौतमं उत मुद्गलं अवथः) जो गौतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(ययोः सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मिः रथ) जिनका सत्यमार्गवाला सरल रश्मियोंवाला रथ (मिथुया चरन्तं दूषयन् अभियाति) मिथ्याचारीको सताता हुआ चलता है, उन (मित्रावरुणौ स्तौमि) मित्र और वरुणकी मैं स्तुति करता हूं और उनसे (नाथितः जोहवीमि) सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

पाप मोचन

मित्र और वरुण

भृगार सूक्तोंमें यह सप्तम या अन्तिम सूक्त है। २३-२९ ये सात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका ऋषि भृगार है। ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बडे गंभीर हैं। इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये —

सूक्त	देवता	अपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठानविधि
२३	अग्नि	वाक्शक्ति	वाक्संयम
२४	इन्द्र	बल	बलका सदुपयोग
२५	वायुः, सविता	प्राण, नेत्र	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	द्यावापृथिवी	स्थूलसूक्ष्मशक्तियां	सत्कर्ममें अपनी शक्तियोंका समर्पण
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	भवाशर्वौ, रुद्रः	वर्धक और घातक शक्तियां	अपनी इन शक्तियोंका उत्तम उपयोग करना
२९	मित्रावरुणौ	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका सदुपयोग

इस कोष्टकका निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है। इस अनुष्ठानका तात्पर्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि ' सूर्यदेव हमें मार्ग दिखावे ' इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग दिखानेका संबंध है यह बात निश्चित है। परंतु यदि कोई मनुष्य अपने आंख बंद करले और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि न डाले तो सूर्य भगवान सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा। इससे अनुष्ठानका जो मार्ग निश्चित हुआ, वह यह है कि ' मनुष्य अपने अंदरकी शक्तिको सन्मार्गके बोध होने योग्य सरल मार्गपर प्रेरित करे और बाह्यशक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे। ' ऐसा करनेसे ही उसकी कामना पूर्ण हो सकती है।

किसी मनुष्यको किसी नगरको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है। यदि वह अपने आंख खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तभी वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। यहां प्रचलित विषय ' पापमोचन ' है। भक्त अपने आपको पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पूर्वोक्त उदाहरणके न्यायसे ही अपनी सब शक्तियोंका संयम करके उनके संयम द्वारा अपने आपको पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्यशक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये। स्मरण रहे की बाह्यशक्ति या तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार ही है, जो न्यूनता है वह अपने प्रयत्नकी ही है। आंख बंद करनेवाला मनुष्य सूर्यप्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत आंख खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। यही बात विशेष *स्मरण रखने योग्य है। ऊपरके संपूर्ण सातों सूक्तोंमें जो* सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायता की याचना की है वह अपने अनुष्ठानकी तैयारीके साथ ही की है अन्यथा अनुष्ठानके बिना ये सूक्त कोई लाभ दे नहीं सकते।

' सूर्य हमें मार्ग दिखावे ' ऐसा कहनेवाले को अपनी आंखें खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, ' जल हमारी तृषा शांत करे ' ऐसा कहनेवालेको प्रथम जल अपने हाथ में लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, ' अन्न हमारे शरीर की पुष्टि बढावे ' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसकी सेवन विधियुक्त रीतिसे करे और पश्चात् कहे की यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे। हरएक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठानकी सूचना है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है। प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये। अनुष्ठान पूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है। वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उन्नतिका मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठान पूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं।

अनुष्ठान अपने अन्दरके देवताओं द्वारा अर्थात् अपने इंद्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इनका संबंध जिन बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायतार्थ प्रार्थना की जाती है। अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके बिना नही की जाती। पहिले अपनेसे जितना हो सकता है, उतना अनुष्ठान करके जब अपनी शक्ति अल्प प्रतीत होती है और अधिक शक्ति की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है। इस रीतिसे इन सातों सूक्तोंका मनन करनेसे पापमोचनके अनुष्ठानकी रीतिका स्वयं पता लग जाता है। साराश रूपसे इन सूक्तोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है।

' वाणीको पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सत्कर्ममें करना और कभी दूसरोंको पीडित न करना, अपने प्राणोंका कुंभकादि द्वारा आयाम करके मनको शांत और गंभीर बनाना, नेत्रादि इंद्रियोंको शुभ कर्मोंमें लगाना और उनको अशुभ प्रवृत्तिसे हटाना, अपने अंदर जो कोई सामर्थ्य हो उसको सत्कर्ममें लगाना और असत्कार्योंसे दूर रहना, संपूर्ण दश प्राणोंका व्यवहार उत्तम चलानेका यत्न करना, अपने अंदर जो घर्षक और घातक शक्तियां हैं, उनसे किसी का घातपात न करना, अपितु उन शक्तियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना, अपने अन्दर जो मित्रभाव है और वरिष्ठताका भाव है उसकी प्रवृत्ति मंगल कार्यमें करना और उनको अमंगल कार्योंसे दूर करना। ' साराशरूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है। इसमें जिस अपनी शक्ति द्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ संबंध रखनेवाली बाह्य देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करनी चाहिये। अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये। पानी पीनेके समय अन्नकी प्रार्थना न हो और भोजन करनेके समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो। प्रार्थनामें

अथवा सब विश्वकी विशाल शक्तियोंसे किया जाता है। इस एकतानतासे बडा लाभ होता है।

२१ वें सूक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उसको परमात्माकी शक्तियोंकी सहायता मिलती है (मं. १-२)। इन मन्त्रोंमें यह कह कर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंको किस प्रकार सहायता मिली है इसकी नामावली दी है। ये नाम एक एक विशेष गुणकी सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशकी सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है। इस-लिये इनका श्लेषार्थ देखते हैं—

१ सत्यवान्- सत्यप्रतिज्ञ, सत्यका पालन करनेवाला।

२ अंगिरस्- अंगोंमें जो जीवन रस है उसकी विद्या जाननेवाला।

३ अगस्ति- (अग-स्ति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो दत्तचित्त होता है।

४ जमदग्नि -(जमत्+अग्निः) प्राण आदि अग्नियों को प्रज्वलित करनेवाला।

५ अत्रिः- (अतति) भ्रमण करके उद्धारके लिये यत्न करनेवाला।

६ कश्यपः- (पश्यकः) सूक्ष्मदर्शी।

७ वसिष्ठः- सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला।

८ श्यावाश्वः- (श्यै गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील।

९ वध्र्यश्वः-(वध्रि) स्तब्ध (अश्वः) घोडोंवाला अर्थात् जिसके इंद्रियरूपी घोडे चपल नहीं हैं।

१० पुरुमीढः- (पुरु) बहुत (मीढ) धनादि साधन-संपन्न।

११ विमदः- (विगतः मदः) जिसका घमंड नष्ट हो गया है।

१२ सप्तवध्रिः- जिन्होंने अपने सातों इंद्रियोंको स्तब्ध किया है।

१३ भरद्वाजः- (भरत्+वाजः) जो अन्नका दान करता है।

१४ गविष्ठिरः- (गवि) वाणीमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने वचनका सच्चा है।

१५ विश्वामित्रः- (विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, किसीसे द्वेष न करनेवाला।

१६ कुत्सः- दोषोंकी निंदा करनेवाला।

१७ कक्षीवान्- (कक्षी) गतिशील, प्रयत्नशील।

१८ कण्वः- शब्दविद्यामें प्रवीण।

१९ मेधातिथिः- (मेधा) बुद्धिको प्राप्त करनेवाला।

२० त्रिशोकः- स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन विषयोंके अज्ञानका जिसको शोक होता है।

२१ उशना काव्यः- सपनी कवि।

२२ गोतमः- (गो) गतिशील, प्रयत्नशील।

२३ मुद्गलः- (मुद्) आनन्दको धारण करनेवाला, आनन्द-वृत्तिसे रहनेवाला।

इन अर्थोंसे पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न वे किस ढंगसे करनेवाले हैं। इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवता सब प्रकारकी सहायता करते हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदद देते हैं। जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी। परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें दक्ष नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये—

(१) द्रुह्वन्- द्रोह करनेवाला, घातपात करनेवाला। (मं १-२)

(२) मिथुया चरन्- मिथ्या व्यवहार करनेवाला। (मं ७)

पाठक यहां स्मरण रखें कि अग्नि, वायु, सूर्यादि देवता सदा सहायता करनेके लिये तैयार होते हैं, परन्तु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यसे यत्न न हुआ तो लाभ होना असम्भव है। जो मनुष्य आत्म सुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त ऋषियोंके समान उन्नति प्राप्त करते हैं, *अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे* रहते हैं।

इस प्रकारके जो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती जाती है। इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे अपनी उन्नतिका अनुष्ठान करें, सन्मार्गसे चलें, पूर्वोक्त ऋषिजीवनों का आदर्श अपने सन्मुख रखें और उन्नतिके पथसे सीधे ऊपर चढें। कदापि अवनतिके मार्गसे न चलें।



दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

कांड १६, सूक्त १

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - प्रजापतिः ।)

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥
रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥
अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥
योऽप्स्वग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥
अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥

अर्थ— [१] (अपां वृषभः अतिसृष्टः) जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ, (दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः) दिव्य अग्नि मुक्त की गई ॥ १ ॥

(रुजन् परिरुजन्) तोडता हुआ, सब रीतिसे तोडते हुए, (मृणन् प्रमृणन्) मारते हुए और नाश करते हुए ॥ २ ॥

(म्रोकः खनः) घातक और खोदनेवाले (निर्दाहः) दाह करनेवाले (मनो-हा) मनका नाश करनेवाले (आत्मदूषिः) आत्माको दूषण देनेवाले और (तनू-दूषिः) शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥

(इदं तं अतिसृजामि) इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूं (तं मा अभ्यवनिक्षि) उसको मैं कदापि पुनः प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥

(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं, (तं तेन अभि अति सृजामः) उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

(अपां अग्रं असि) तू जलोंका अग्रभाग हो (वः समुद्रं अभिअवसृजामि) तुमे समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥

(यः अप्सु अग्निः) जो जलोंमें अग्नि है (तं अति सृजामि) उसको मैं मुक्त करता हूं। (म्रोकं खनिं तनूदूषिं) घातक खोदक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूं ॥ ७ ॥

(यः अग्निः आपः वः आविवेश) जो अग्नि जलोंके प्रति प्रविष्ट हुई है (सः एषः) वह यह है, (यत् वः घोरं तत् एतत्) जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥

(इन्द्रस्य इंद्रियेण वः अभिषिञ्चेत्) इन्द्रके इंद्रियसे आपका अभिषेक किया जावे ॥ ९ ॥

(अरिप्राः आपः) जो निर्दोष जल है वह (अस्मत् रिप्रं अप) हमसे मल दूर करे ॥ १० ॥

(अस्मत् एनः प्रवहन्तु) हमसे पाप दूर करे तथा (दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करे ॥ ११ ॥

[५]

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात्पाहि ॥ ३ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वा० ॥ ४ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वा० ॥ ५ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वा० ॥ ६ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वा० ॥ ७ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वा० ॥ ८ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ ९ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात्पाहि ॥ १० ॥

[६]

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥
उषो यस्माद्दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥
द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह ॥ ३ ॥

अर्थ— [५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है । तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) तू व्याधीका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥

तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥

हे स्वप्न ! (तं त्वा तथा सं विद्म) उस तुझको वैसा हम जानते हैं । हे स्वप्न ! (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥

(स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है तू (निर्-ऋत्याः पुत्रः असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है० ॥ ४ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्रः०) अभूतिका पुत्र है ० ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्रः०) निर्धनताका पुत्र है० ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्रः०) पराभवका पुत्र है ० ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्रः) इन्द्रियविकृतियोंका पुत्र है ० ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न ! उस तुझको वैसा हम जानते हैं (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य अजैष्म) आज हमने विजय प्राप्त की है (अद्य असनाम) हमने प्राप्तव्यको प्राप्त किया है (वयं अनागसः अभूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥

हे (उषः) उषःकाल ! हम (यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म) जिस दुष्ट स्वप्नसे हमें भय होता है, (तत् अप उच्छतु) वह हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(तत् द्विषते परा वह) वह द्वेषीके लिये दूर ले जा (तत् शपते परा वह) वह शाप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥

यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद्गमयामः ॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदानो वाग्देव्यु१षसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥
तेऽ३मुष्मै परा वहन्त्वरायान्दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥
कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥
जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥
अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥
तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद्विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

[७]

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि
पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥
देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥
वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥

अर्थ— (यं द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबसे द्वेष करता है, (तस्मै एनत् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥

(उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे समिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे समिलित हो ॥ ५ ॥

(उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वाणीके पतिके साथ संमिलित हो और (वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके पतिके साथ मिले ॥ ६ ॥

(ते अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनामवाले कष्ट और अन्य आपत्तियां (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥

(कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्) घटके समान बढनेवाले उदररोगों, शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥

तथा (जाग्रत् दुष्वप्न्यं) जागृतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न और (स्वप्ने दुष्वप्न्यं) स्वप्नके समय आने- वाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनागमिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (अवित्तेः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प, (अमुच्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रोहोंके पाशोंको ॥ १० ॥

हे अग्ने ! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले चलें। (यथा) जिससे वह शत्रु (वध्रिः) निर्बल, (विधुरः) व्यथायुक्त और (साधुः न असत्) बुरा होवे ॥ ११ ॥

[७] (तेन एनं विध्यामि) उससे उसका वेध करता हूं, (अभूत्या, निर्भूत्या, ग्राह्या, एनं विध्यामि) दुर्गति, दारिद्र और रोगसे इसको विद्ध करता हूं। (पराभूत्या०) पराभवसे इसको पीडित करता हूं (तमसा एनं विध्यामि) अज्ञानसे इसको विद्ध करता हूं ॥ १ ॥

(देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैषैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूं ॥ २ ॥

(वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढोंमें इसको धर देता हूं ॥ ३ ॥

एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥
योऽस्मान्द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥
निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद्भजाम ॥ ६ ॥
सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥
इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥
यददोअदो अभ्यगच्छन्यद्दोषा यत्पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥
यज्जाग्रद्यत्सुप्तो यद्दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥
यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥
तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

[८]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् । ॥ १ ॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥
स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

अर्थ— (सा एव अनेव) यह आपत्ति इस रीतिसे या अन्य रीतिसे इस शत्रुको (अव गरत्) निगल जाय ॥ ४ ॥

(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेष्टु) उससे आत्मा द्वेष करे । (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्मासे द्वेष करे ॥ ५ ॥

(द्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे (निः भजामः) खारिज करते हैं ॥ ६ ॥

हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक ! ॥ ७ ॥ (इदं अहं) यह मैं (अमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुष्वप्न्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूं ॥ ८ ॥

(यत् अदः अदः) जो यह दोष (अभिगच्छन्) मैं उसमें प्राप्त करता हूं (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं) जो रात्रीमें अथवा पूर्व रात्रीमें ॥ ९ ॥ (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोये हुए (यत् दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥ १० ॥ (यत् अहः अहः अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूं (तस्मात् एनं अव दये) उस दोषके कारण मैं उसको मारता हूं ॥ ११ ॥

(तं जहि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्व) उसके साथ चल, (तस्य पृष्टीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियां तोड दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (अस्माकं ऋतं) हमारा सत्य हो, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढे, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढे, (अस्माकं स्वः) हमारा आत्मप्रकाश बढे, (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ सफल हो, (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों, (अस्माकं प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बढे, (अस्माकं वीराः) हमारे अंदर वीर हों ॥ १ ॥

जितम्० ।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ५ ॥
जितम्० ।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ६ ॥
जितम्० ।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ७ ॥
जितम्० ।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ८ ॥
जितम्० ।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ ९ ॥
जितम्० ।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ १० ॥
जितम्० ।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ११ ॥
जितम्० ।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १२ ॥
जितम्० ।०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १३ ॥
जितम्० ।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १४ ॥
जितम्० ।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १५ ॥
जितम्० ।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १६ ॥
जितम्० ।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १७ ॥
जितम्० ।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १८ ॥
जितम्० ।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १९ ॥
जितम्० ।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २० ॥
जितम्० ।०। आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २१ ॥
जितम्० ।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २२ ॥
जितम्० ।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २३ ॥
जितम्० ।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २४ ॥
जितम्० ।०। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २५ ॥

अर्थ – (तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला चलाते हैं (अमुं आमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है । २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयु-को मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ ० ॥ ० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न छूटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः अभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्र्यके पाशोंसे न छूटे ॥ ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ०(सः निर्भूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ८ ० ॥ ० (सः देव-जामीनां पाशात् मा मोचि) वह इन्द्रियदोषोंके पाशोंसे न छूटे ॥ ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० ॥ (सः बृहस्पतेः '' प्रजापतेः '''ऋषीणां '''आर्षेयाणां '''अंगिरसां '''आंगिरसानां '''अथर्वणां '''आथर्वणानां '''वनस्पतीनां '''वानस्पत्यानां '''ऋतूनां '''आर्तवानां '''मासानां '''अर्धमासानां '' अहोरात्रयोः '''अह्नः संयतः '' द्यावापृथिव्योः

जितम्० ।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २६ ॥
जितम्० ।०। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २७ ॥
जितम्० ।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २८ ॥
जितम्० ।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।० ॥ २९ ॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः
स मृत्योः पड्वीशात्पाशान्मा मोचि ।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३०-३३ ॥

[९]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥
अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान्यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान्भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

'''इन्द्राग्न्योः '''मित्रावरुणयोः '''वरुणस्य राज्ञः '''मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि) ॥ १०-१२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियोंसे उत्पन्न, अंगिरस्, अंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वोंसे उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोंसे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुओंसे उत्पन्न, महीने, अर्धमास, अहोरात्र, दिन, द्यु, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोंसे न बचे ॥ १०-३२ ॥ (तस्य इदं वर्चः०) उसका यह तेज, कान्ति, प्राण, आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृतनाः अरातीः) सब शत्रुसेनाका निरोध किया है ॥ १ ॥

(अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत् आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥

हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यकी ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

(वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होऊं (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है (वसु वंशिषीय) ऐश्वर्य प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धनको धारण कर ॥ ४ ॥



जितम्० ।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ५ ॥

जितम्० ।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ६ ॥

जितम्० ।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ७ ॥

जितम्० ।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ८ ॥

जितम्० ।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ ९ ॥

जितम्० ।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ १० ॥

जितम्० ।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ११ ॥

जितम्० ।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १२ ॥

जितम्० ।०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १३ ॥

जितम्० ।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १४ ॥

जितम्० ।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १५ ॥

जितम्० ।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १६ ॥

जितम्० ।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १७ ॥

जितम्० ।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १८ ॥

जितम्० ।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १९ ॥

जितम्० ।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २० ॥

जितम्० ।०। आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २१ ॥

जितम्० ।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २२ ॥

जितम्० ।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २३ ॥

जितम्० ।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २४ ॥

जितम्० ।०। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २५ ॥

अर्थ – (तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला चढाते हैं (अमुं अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है। २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ ०॥० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न छूटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः अभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्र्यके पाशोंसे न छूटे ॥ ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ८ ० ॥ ० (सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि) वह इंद्रियदोषोंके पाशोंसे न छूटे ॥ ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० ॥ (सः बृहस्पतेः ···प्रजापतेः ···ऋषीणां ···आर्षेयाणां ···अंगिरसां ···आंगिरसानां ···अथर्वणां ···आथर्वणानां ···वनस्पतीनां ···वानस्पत्यानां ···ऋतूनां ···आर्तवानां ···मासानां ···अर्धमासानां ·· अहोरात्रयोः ···अह्नः संयतः ··· द्यावापृथिव्योः

जितम्० ।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २६ ॥
जितम्० ।०। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २७ ॥
जितम्० ।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २८ ॥
जितम्० ।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।० ॥ २९ ॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः
स मृत्योः पड्वीशात्पाशान्मा मोचि ।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३०-३३ ॥

[९]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥
अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान्यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान्भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

'''इन्द्राग्न्योः '''मित्रावरुणयोः '''वरुणस्य राज्ञः '''मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि) ॥ १०-३२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियोंसे उत्पन्न, अंगिरस्, अंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वसे उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोंसे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुओंसे उत्पन्न, महीने, अर्धमास, अहोरात्र, दिन, द्यु, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोंसे न बचे ॥ १०-३२ ॥ (तस्य इदं वर्चः०) उसका यह तेज, कान्ति, प्राण, आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृतनाः अरातीः) सब शत्रुसेनाका निरोध किया है ॥ १ ॥

(अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत् आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥

हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यकी ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

(वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होऊं (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है (वसु वंशिषीय) ऐश्वर्य प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धनको धारण कर ॥ ४ ॥



दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

विजयकी प्राप्ति

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजयके लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आशका होनेपर बालक भी रोता है, पीटता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करनेकी इच्छा नहीं होती। सदा अपनी विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्वोंका विचार किया है।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरी आधिभौतिक क्षेत्रकी विजय है और तीसरी आधिदैविक क्षेत्रके संबंधकी विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारकी विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रकी विजयोंके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहां नहीं किया जा सकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय

आध्यात्मिकक्षेत्रमें शरीर, इंद्रियां, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार, चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदिका संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी निज शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें निर्विघ्नतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रकी विजय होती है। यहां प्रत्येक इंद्रियकी प्रकृति, उसकी विकृति, उसमें होनेवाले दोष और रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी वैद्यशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास आये हैं। इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि—

निर्दाहः तनूदूषिः मना-हा आत्म-दूषिः इद तं अतिसृजामि।

' शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशकभाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं दूर करता हूं। ' इन चारोंमें प्रायः आत्माकी पराजय होनेके कारण बताये हैं, विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इस सबसे आत्माका अधःपतन होता है। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंकी ये चार ही जडें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगी। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

शमः तनूशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियदमन, इंद्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनूशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि अध्यात्मोन्नतिके ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥
(भ. गी. २)

' विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंसे कार्य कराते हुए भी प्रसन्न रहता है, चित्त प्रसन्न रहनेसे सब

दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है।' इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके विषयका विचार करनेके समय बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु, इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं ये क्या करते हैं देखिये—

रुजन्, प्रमृणन्, प्रोकः, खनः। (पर्याय सू. १।२-३)

जहां दोष होते हैं वहां वे 'तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, गढा करते हैं' इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। काम और क्रोधसे समय अपने अंदर देखने पर स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, खोदने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो वीर्य उसे ही नष्ट करता है, क्रोधसे तो खूनके जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विकार तोडने, मरोडने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अभि अतिसृजाम। (मं. १।५)

प्रोकं खनिं तनूदूर्षिं अतिसृजामि। (मं १।७)

'जिस रोगादिसे और विविध दोषोंसे हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। घातक, खोदक और शरीरमें दोष बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं।' यह दोषोंको दूर करना इसलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये —

यत् वः घोरं तत् (अतिसृजामि)। (मं. १।८)

अरिप्राः आपः अस्मत् एनः प्रवहन्तु। (मं. १।९-१०)

आपः शिवया तन्वा मा उपस्पृशत। (मं. १।१२)

इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चेत। (मं. १।९)

'जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करें। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे। यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है; यह अत्यंत महत्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है, तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीतजल स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भीगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे—

मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त। (मं. १।१३)

'मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढेगी।' जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे ही वीर्य बढेगा, दोष दूर होंगे और शरीरकी कान्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीरका उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इसीलिये—

अपां वृषभ अतिसृष्टः।

दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः। (मं. १।१)

'जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुआ अर्थात् उससे वृष्टि होगयी, दिव्य अग्नि जो बिजलियां हैं वे भी खुली रीतिसे प्रकाशित हो रही हैं।' अर्थात् विशेष वृष्टि हुई है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहां आत्मिक उन्नति का उपदेश देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि जैसे मेघ जगत्की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्मसमर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मयज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें मुख्यतः कहे हैं।

इंद्रियशुद्धि

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पवित्रताके बिना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है। अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है—

दुःशंसपथः निः। (मं. २।१)

'दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो।' हमारे

अन्दर दुष्टगति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है और समाजके सुधारके लिये दुष्टगुणोंसे युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ ही समाजसे दुष्ट गुणोंके आश्रयस्थान दूर करना, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह सर्वसाधारण उन्नतिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीं वाचं उदेयम् ।
(मं. २११-२)

'वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।' मनुष्योंके अन्दर जो झगडे फिसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है। मनुष्यके मनमें जो विष भरा रहता है, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायेंगे।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय। केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जः) बल चाहिये। उत्साहकी वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहिये। नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको 'गुलाम' करके पुकारते हैं, दूसरेको 'तू मरेगा' करके कहते हैं, 'तू बडा हराम है' ऐसा कहते हैं। ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्बलताका वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्साहपूर्ण बलशाली प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें। अपने पुत्रको 'तू इन्द्र है' ऐसा कहे, 'तू अमर होगा' ऐसा बोलें, 'तू सत्यस्वरूप है' 'तू स्वयं आनन्दघन है' ऐसा कहें। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साहका वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी 'कूडाराम' रखनेके स्थानमें 'निर्भयराम' ऐसे रखें। जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दों द्वारा 'गो-पा और गो-पीथः' ये दो शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आचुका है। 'गोप' का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और 'गोपीथः' का अर्थ है इंद्रियोंकी पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको इतस्ततः घूमने नहीं देते, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंको शक्तित बढावे और उनको बसमें भी रखे। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है। जो ऐसा संयम करनेवाले हों वे ही (उपहूतः) पास बुलाने योग्य हैं और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं। आगे कानोंके विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है—

भद्रश्रुतौ कर्णौ । सुश्रुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं श्रूयासम् । सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम् ।
(मं. २१४-५)

'मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों। कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करूं। उत्तम उपदेश सुनने और दूसरे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न होवे।' यहां कानोंकी सार्थकताका साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कभी बुरे शब्द न सुने। ऋग्वेदमें भी कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
(ऋ० १।८९।८)

'हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आंखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें।' ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्यका सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है—

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम्। (मं. २१५)

'गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो' और वह उत्तम कल्याणकी वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें इस पर्यायसूक्तमें कहा है। यहीं—

ऋषीणां प्रस्तरः असि । दैव्याय प्रस्तराय नमः । (म. ३।६)

'तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है।' ऋषियोंको चट्टान माना है। यही दिव्य चट्टान है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अन्तःकरणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होनेवाला है। यहां तक उपदेश इस द्वितीय पर्याय-सूक्तमें कहा है।

आधिभौतिक विजय

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और दैवविषक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपनी आधिभौतिक विजय संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। इसका विचार इस १६ वें काण्डके तृतीय पर्यायसूक्तमें किया है, वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें—

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं।
समानानां मूर्धा भूयासम्। (म ३।१२)
अहं रयीणां नाभिः भूयास।
समानानां नाभिः भूयासम्। (म. ४।१-२)

'मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं। मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूं।' अपनी योग्यता नेता बनने योग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं हो सकता तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस तेजस्वी बने। (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है अतः मनुष्यको उचित है कि वह अपनी मस्तिष्ककी शक्ति बढावे। (विधर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परन्तु उसको विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उखः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढती है। मनुष्य क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुण) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंको दुःख समुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको इतनी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनके बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं वेही श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं, हम इन गुणधर्मोंको धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्वयं कहते हैं—

आत्मा बृहस्पतिः नृमणाः हृद्य । (मं ३।५)
विश्वव्यचा समुद्रः अस्मि। (मं. ३।६)
मर्त्येषु अमृतः सुपा। (मं ४।२)

'*आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।*' ये अपनी आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे—

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः। (मं. ३।६)

'*हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।*' अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन हो जाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह भयंकर प्रसंगमें भी शान्त और गंभीर ही कार्य करता है, कभी अशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् संकटमें उससे *कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं—*

सूर्य... वायु ... अग्निः यमः सरस्वती... पातु।
(मं. ४४)

'*सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।*' सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणीके स्थानमें, यम शिस्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषके इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और वेदमें यह वारवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राणः मा मा हासीत्। अपानः अवहाय मा परागात्।
(मं ४।३)

'*मेरा प्राण और अपान मुझे छोडकर न दूर जावे।*' यह ऐसा इसलिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण यह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अतः कार्यका स्मरण भी नहीं है। यह जानता है कि—

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। शक्वरीः आपः स्वस्ति।
(मं. ४।७)

'*अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और उनके अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।*' इस तरह यह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय यह बुद्ध कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, तब उसका देवतारूप स्वरूप बनता है, वह सहज ही शक्तिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको बंधे, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि वह विश्वरूप बना होता है। इस समय यह अनुभव करता है कि—

अग्निः मे दक्षः। (मं ४।७)

'*अग्नि बल धारण करता है।*' अन्य देव मुझमें अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसकी आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुई होती है। ऐसे महात्मा धन्य हैं, यही प्रभाव *दानसे नेता हो सकता है और यही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ* होता है और यही मनुष्य जगत्को सच्चा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पडकर सडनेवालोंको बन्धननिवृत्तिका *मार्ग बताते हैं।*

स्वप्न

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं—

ग्राह्याः... निर्ऋत्याः अभूत्याः निर्भूत्याः पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (मं. ५।१-८)

'रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्यु के संदेश हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज हों, उनको दूर करनेका यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनका भी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीरमें आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोगोंके शरीरमें होनेपर वारवार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और निरोग करना चाहिये। इस कार्यके लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतिका अर्थ है उन्नति, अभ्युदय, समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋतिका है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको कार्यमें लाना चाहिये (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतन्त्र, पराधीन और परवश होना इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रत्येकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलम्बनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है, उनकी शक्तियां विविध हैं इनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादि द्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है। मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है या रोगी है, सदाचारी या दुराचारी है, शुभ विचारवाला है या अशुभ विचारवाला है इसका निश्चय होता है। मनुष्य यदि 'मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, ऋषिआश्रममें ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम हो रहा है।' ऐसे शुभ स्वप्न देखे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न देखे तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिघाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है—

यस्मात् दुःष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अपउच्छतु।
(म ६।२)

'जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुष्टस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।' वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपको निर्दोषता सिद्ध करनेपर ही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि—

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम।
(म ६।१)

'आज हमने विजय प्राप्त की है, आज जो हमारा प्राप्तव्य था वह हमने प्राप्त किया है क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं।' निष्पाप होनेसे ही सब प्राप्तव्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होती है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदके आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। यह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्मभूमिकामें रोग, कुविचार आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, यह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः,
यज्ञः, पशवः, प्रजा, वीराः॥ (म. ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे हो ही सकता है। (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे प्राप्त होनेवाली बात है, अपनी संघटना, अपना शक्तिविकास अपने अंदरकी शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो

सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋत) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार जिसमें तेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी तो ही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्यज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान यह तो निःसंदेह ऋतके साथ ही रहेगा। अमृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्व. स्वर्) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्यलोक। (यज्ञ.) देवपूजा, संगतिकरण और दानरूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे ही सबकी स्थिति और उन्नति होती है। (पशव.) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः) संतती, पुत्रपुत्री आदि अथवा प्रजाजन। (वीरा.) वीरपुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही वचन हैं, परंतु ये नित्य स्मरण रखने योग्य महत्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं,
विश्वा अरातीः पृतना। (मं ९।१)

' हमारा विजय, हमारा उदय और शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य हम अपने अन्दर बढाते हैं। ' तथा—

पुण्य सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं ९।२)

' ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे ' ऐसा मैं सदाचारी, शुद्ध, पूत और पवित्र बनूं। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म॥ (मं. ९।३)

' आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें। ' तथा—

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् यज्ञः। वसु वंशिषीय। (मं ९।४)

' बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये। '

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है।

अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना

कांड १७, सूक्त १

(ऋषि - ब्रह्मा। देवता - आदित्य.।)

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान्भूयासम् ॥ १ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥ २ ॥

अर्थ—(विषासहिं) अत्यन्त समर्थ, (सहमान) अत्यन्त बलवान्, (सासहानं) नित्य विजयी, (सहियांसं) शत्रुको दबानेवाले, (सहमान) महाबलिष्ठ, (सहोजित) बलसे दिग्विजय करनेवाले, (स्व. जित) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, (गो-जित) भूमि, इन्द्रियों और गौओंको जीतनेवाले (संधनाजित) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, (ईड्य नाम इन्द्र) प्रशंसनीय यशवाले प्रभुकी मैं (ह्वे) प्रशंसा करता हूं, जिससे मैं (आयुष्मान् भूयास) दीर्घायु होऊं॥ १॥ ०।०।० (देवानां प्रियः भूयास) मैं देवोंका प्रिय बनूं॥ २॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥ ३ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ५ ॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि ।
द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ६ ॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि ।
यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ७ ॥
मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्वन्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र ।
हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ८ ॥
त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ९ ॥

अर्थ— ०।०।० (प्रजानां प्रियः०) प्रजाओंका प्रिय होऊं ॥ ३ ॥ ०।०।० (पशूनां प्रियः०) पशुओंका प्रिय होऊं ॥ ४ ॥ ०।०।० (समानानां प्रियं भूयासं) समान योग्यतावाले पुरुषोंको भी प्रिय बनूं ॥ ५ ॥

हे (सूर्य) सूर्य ! (उदिहि उदिहि) उदय हो, उदयको प्राप्त हो । (वर्चसा मा अभ्युदिहि) अपने तेजसे उदित होकर मुझपर चारों ओरसे प्रकाशित हो । (द्विषन् च मह्यं रध्यतु) मुझसे द्वेष करनेवाला मेरे वशमें हो जाय, परंतु (अहं च द्विषते मा रधं) मैं द्वेष करनेवाले शत्रुके वश कभी न होऊं । हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही वीर्य अनेक प्रकारके हैं । (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हमें अनेकरूपवाले पशुओंसे पूर्ण कर । और (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (मा सुधायां धेहि) मुझे अमृतमें स्थापित कर ॥ ६ ॥

(उदिहि०) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो, उदयको प्राप्त हो और (वर्चसा०) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित कर (यान् च पश्यामि यान् च न) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूं और जिनको नहीं देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें मुझे सुमतिवाला कर । (तव इत् ०।० इत्यादि पूर्ववत्) ॥ ७ ॥

(सलिले अप्सु अन्तः ये पाशिनः) जलोंके अन्दर जो पाशवाले (अत्र उपतिष्ठन्ति) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे (त्वा मा दभन्) तुझे न दबावें । (अशस्तिं हित्वा एतां दिवं आरुरुक्षः) निन्दाको त्यागकर द्युलोक पर आरूढ हो और (सः नः मृड) वह तू हमें सुखी कर, (ते सुमतौ स्याम) हम तेरी सुमतिमें रहें । (तव इत् ०।०) ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं नः महते सौभगाय) तू हम सबको बड़े सौभाग्यके लिये (अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि) न दबनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे सुरक्षित रख । (तव इत् ०।०) ॥ ९ ॥

त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव ।
आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥
त्वमिन्द्रासि विश्वजित्सर्ववित्पुरुहूतस्त्वमिन्द्र ।
त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ११ ॥
अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे ।
अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १२ ॥
या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि ।
ययेन्द्र तन्वाऽन्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा शर्म यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १३ ॥
त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १४ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंतमः भव) तू कल्याणपूर्ण रक्षणोंके साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाला हो। (त्रिदिवं आरोहन्) द्युलोकपर आरूढ होकर (दिवः गृणानः) प्रकाशको देता हुआ (सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा) सोमपान और कल्याणके लिये प्रिय स्थान हो। (तव इत् ०।०) ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तू (विश्वजित् सर्ववित्) जगत्जेता और सर्वज्ञ है और हे इन्द्र ! तू (पुरुहूतः) बहुत प्रशंसित है। हे इन्द्र ! (त्वं इमं सुहवं स्तोमं एरयस्व) तू इस उत्तम प्रार्थनावाले स्तोत्रको प्रेरित कर। (सः नः० तव इत् ०।०) ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! तू (दिवि उत पृथिव्यां अदब्धः असि) द्युलोकमें और इस पृथ्वीपर किसीसे दबता नहीं। (अन्तरिक्षे ते महिमानं न आपुः) अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सकता। (अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न दबनेवाले ज्ञानसे बढता हुआ (दिवि नः त्वं शर्म यच्छ) द्युलोकमें तू हमें सुख प्रदान कर। (तव इत् ०।०) ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः) जो तेरा अंश जलोंमें है, (या पृथिव्यां या अग्नौ अन्तः) जो पृथ्वीपर और जो अग्निके अन्दर है, हे इन्द्र ! (या ते पवमाने स्वः-विदि) और जो तेरा अंश पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण द्युलोकमें है, हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापता है, (तया तन्वा नः शर्म यच्छ) उस तनूसे हम सबको सुख प्रदान कर। (तव इत् ०।०) ॥ १३ ॥

हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धन्तः) तेरी मन्त्रोंसे स्तुति करते हुए (नाधमानाः ऋषयः सत्रं निषेदुः) प्रार्थना करनेवाले ऋषिगण सत्र नामक यागमें बैठते हैं (तव इत् ०।०) ॥ १४ ॥

त्वं वृतं त्वं पर्यैष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १५ ॥

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि ।
त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १६ ॥

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १७ ॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः ।
तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १८ ॥

असति सत्प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १९ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥

अर्थ— हे व्यापक देव ! (त्वं वृतं=स्थितं) तू तीनों स्थानोंमें प्राप्त (सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं उत्सं) सहस्र-धाराओंसे युक्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण स्रोतको (पर्येषि) व्यापता है । (तव इत् ०।०) ॥ १५ ॥

हे देव ! (त्वं चतस्रः प्रदिशः रक्षसे) तू चारों दिशाओंकी रक्षा करता है । अपने (शोचिषा नभसी विभासि) तेजसे आकाशको प्रकाशित करता है । (त्वं इमाः भुवना अनुतिष्ठसे) तू इन सब भुवनोंके अनुकूल होकर ठहरता है और (विद्वान् ऋतस्य पन्थां अन्वेषि) जानता हुआ सत्यके मार्गका अनुसरण करता है । (तव इत् ०।०) ॥ १६ ॥

(पञ्चभिः पराङ् तपसि) तू अपनी पांचों शक्तियोंसे दूर भी तपता है और (एकया अर्वाङ्) एकसे पास भी तपता है और (सुदिने अशस्तिं बाधमानः एषि) उत्तम दिनमें अप्रशस्तताको दूर हटाता हुआ चलता है । (तव इत् ०।०) ॥ १७ ॥

हे देव ! (त्वं इन्द्रः) तू इन्द्र है, (त्वं महेन्द्रः) तू बडा इन्द्र है, (त्वं लोकः) तू लोक-प्रकाशपूर्ण है, (त्वं प्रजापतिः) तू प्रजापालक है (यज्ञः तुभ्यं वितायते) यज्ञ तेरे लिये फैलाया जाता है और (जुह्वतः तुभ्यं जुह्वति) हवन करनेवाले तेरे लिये आहुतियां देते हैं । (तव इत् ०।०) ॥ १८ ॥

(असति सत् प्रतिष्ठितं) असत्में अर्थात् प्राकृतिक विश्वमें सत् अर्थात् आत्मा स्थित है, (सति भूतं प्रतिष्ठितं) सत्में अर्थात् आत्मामें उत्पन्न हुआ जगत् स्थिर है, (भूतं ह भव्ये आहितं) भूत होनेवालेमें आश्रित है, (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित है (तव इत् ०।०) ॥ १९ ॥

(शुक्रः असि) तू तेजस्वी है, (भ्राजः असि) तू प्रकाशमय है, (स त्वं) वह तू (यथा भ्राजता भ्राजः असि) जैसा तेजस्वी है (एव अहं भ्राजता भ्राज्यासं) वैसे ही मैं तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २० ॥

रुचिरसि रोचोऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं
पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥ २१ ॥
उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे सम्राजे नमः ॥ २२ ॥
अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २३ ॥
उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह ।
सपत्नान्मह्यं रन्धयन्मा चाहं द्विषते रधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥
आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥ २५ ॥
सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय ॥ २६ ॥
प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ २७ ॥

अर्थ— (रुचिः असि) तू प्रकाशमान् है, (रोचः असि) तू देदीप्यमान है (सः त्वं यथा रुच्या रोचः असि) वह तू जैसे तेजसे तेजस्वी है (एव अहं पशुभिः च ब्रह्मवर्चसेन च रुचिषीय) वैसेही मैं पशुओं और ज्ञानके तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २१ ॥

(उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार, (उदायते नमः) ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार, (उदिताय नमः) उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार, (विराजे नमः) विशेष प्रकाशमान्‌को नमस्कार, (स्वराजे नमः) अपने तेजसे चमकनेवालेको नमस्कार, (सम्राजे नमः) उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥

(अस्तंयते नमः) अस्त होनेवालेको नमस्कार, (अस्तं एष्यते नमः) अस्तको जानेवालेको नमस्कार, (अस्तमिताय नमः) अस्त हुएको नमस्कार, (विराजे, सम्राजे, स्वराजे नमः) विशेष तेजस्वी, उत्तम प्रकाशमान् और तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

(अयं आदित्यः विश्वेन तपसा उदगात्) यह सूर्य संपूर्ण तेजके साथ उदित है। (मह्यं सपत्नान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको वश करता है, (अहं च द्विषते मा रधं) परन्तु मैं कभी वशमें न होऊं। (तव इत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव ! तेरे ही ये सब पराक्रम हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अनन्त रूपोंवाले पशुओंसे परिपूर्ण कर। और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृतमें मुझे धारण कर ॥ २४ ॥

हे आदित्य ! (स्वस्तये शतारित्रां नावं आरुक्षः) हमारे कल्याणके लिये सैकडों आरोंवाली नौकापर आरूढ हो। (मा अहः अति अपीपरः) मुझे दिनके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अतिपारय) रात्रीके समय भी साथ रहकर पार पहुंचा ॥ २५ ॥

हे सूर्य ! तू हमारे (स्वस्तये) कल्याणके लिये नौकापर चढ और हमें दिन और रात्रीके समय पार कर ॥ २६ ॥

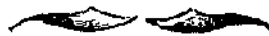
(अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके ज्ञानरूप कवचसे आवृत होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्वदर्शक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदष्टिः कृतवीर्यः) वृद्धावस्थातक वीर्यवान् हुआ (विहायाः सहस्रायुः) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु-पूर्णायु- होकर (सुकृतः चरेयं) शुभ कर्मोंको करता रहूं ॥ २७ ॥

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥ २८ ॥
ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् ।
मा मा प्रापत्पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥ २९ ॥
अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् ।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥ ३० ॥

अर्थ— (ब्रह्मणा वर्मणा परिवृत) ज्ञानरूपी कवचसे अच्छी तरह ढके हुए (या देवीः मानुषीः इषवः वधाय अवसृष्टाः) जो दिव्य और मानवी बाण वधके लिये भेजे गये हों वे (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सर्वदर्शक देवके तेजसे और बलसे युक्त हुए हुए (मा मा प्रापन्) मुझे न प्राप्त हों उनसे मेरा वध न होवे ॥ २८ ॥

(ऋतेन गुप्त) सत्यके द्वारा रक्षित, (सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित, (भूतेन च भव्येन गुप्त अहं) भूत और भविष्य द्वारा सुरक्षित हुआ मैं यहां विचरूं । (पाप्मा मा, उत मृत्युः मा मा प्रापत्) पाप अथवा मृत्यु मुझे न प्राप्त हो । (अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे) मैं अपनी वाणीको—अपने शब्दको पवित्र जीवनके अंदर धारण करता हूं । वाणीकी पवित्रता पवित्र जीवनसे करता हूं ॥ २९ ॥

(गोप्ता अग्निः विश्वतः मा परिपातु) रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षा करे । (उद्यन् सूर्यः मृत्युपाशान् नुदतां) उदय होनेवाला सूर्य मृत्युपाशोंको दूर करे । (व्युच्छन्तीः उषसः) प्रकाशयुक्त उषाएं और (ध्रुवाः पर्वताः) स्थिरपर्वत (सहस्रं प्राणाः मयि आ यतन्ताम्) सहस्रों बलवाले प्राण मेरे अन्दर फलाये रखें ॥ ३० ॥



अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना

पहिले पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयेच्छु पुरुषको अपने अन्दर कौनसे गुण प्राप्त करने चाहिये और बढाने चाहिये । उन्नति चाहनेवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें—

लोकप्रिय बनना

(अहं) देवानां, प्रजानां, समानानां पशूनां प्रियः भूयासं आयुष्मान् भूयासम् ॥ (मं० १-५)

' मैं देवोंका प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका और पशुओंका प्रिय होऊं और दीर्घायु बनूं । ' सबसे मुख्य बात दीर्घायु बननेकी है, क्योंकि आयु आरोग्य और बलसे युक्त होने पर ही सब कुछ धर्म कर्म होना संभव है । अतः उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें ।

इतना होनेके पश्चात देव प्रजा समानलोग और पशु इनके प्रिय होनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करनी चाहिये और इसकी सिद्धिके लिये मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिये । ' देव ' का अर्थ जैसा ' देवता ' है वैसा ही ' भूदेव, क्षत्रदेव, धनदेव और कर्मदेव ' ये चार प्रकारके चातुर्वर्ण्यके श्रेष्ठ पुरुष भी देव कहलाते हैं । इनके मनमें इस मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे, ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषयमें कहें कि यह फलाना मनुष्य उत्तम है उसका प्रेम होना चाहिये । प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें प्रजाजनोंका यह प्रेमपात्र बने, सब जनता इसके ऊपर प्रीति करे अर्थात यह लोकप्रिय बने लोकमान्य बने । समान लोगोंमें यह प्रिय हो अर्थात ज्ञानियोंका प्रेम विद्या ज्ञानोंपर होता है वीरोंका प्रेम समय और पर होता है समानोंका प्रेमभाजन होनेके लिये उनसे विशेष उत्कृष्ट गुण होने चाहिये । इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेमभाजन बने । पशुओंका भी प्रेम संपादन करे । जब यह मनुष्य पशुओंका पालन करेगा

और उनपर प्रेम करेंगा, तब वह स्वयं इसपर प्रेम करने लगेंगे। यहां इसको भूतदयामें विशेषता होनी चाहिये। इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, सभासलोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें नियत यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसके प्रेमको देखकर निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जायेंगे।

वीरके गुण

इस सुक्तके प्रथम मंत्रमें दस शब्दों द्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उन्नतिशील मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहिये और बढाने चाहिये।

(१) गो-जित् - ' गो ' शब्दका अर्थ ' इंद्रिय और भूमि ' है। ये अर्थ लेकर यहां विचार करना चाहिये, पहिला अर्थ है (गो-जित्) इंद्रियोंको जीतनेवाला, अपनी इंद्रियोंका संयम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करनेवाला। सब उन्नतिका प्रारंभ ' आत्म-विजय ' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे कठिन है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका प्रयत्न करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहजहीसे प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृभूमिको विजयी बना। यह इसका भाव है। मुख्यतया यहां आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होते हैं।

(२) स्वः-जित् = (स्व-र्-जित) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजको जीतना, आत्मसमानको प्राप्त करना, अपने आध्यात्मिक तेजको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना, यह भी एक बडी भारी वीरता है।

(३) संधना-जित् = उत्तम धनोंको जीतकर प्राप्त करना, यह भी एक बडी भारी वीरता है। जिसके पासमें होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कह सकता है, उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये पैसे समझना क्षुद्र भ्रम है। गौवें भी धन है, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा भी धन है और सदाचार भी धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान = आत्मिक बल, तेज और जीवनसे युक्त और

(५) सहमान = शारीरिक बल और शक्तिसे युक्त होना।

ये दोनों शब्द एक ही मंत्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। ' सहस् ' शब्दका अर्थ ' बल ' है और इसके अर्थ ' शक्ति, विजय, तेज और जीवन ' हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहां योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्ति दोषसे रहित और अन्वर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करने चाहिये। इस बलमें संघका बल भी अन्तर्भूत होता है।

(६) सहो-जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अंदर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

(७) सहीयान् = शत्रुका हमला कितने भी वेगसे हो उससे न डरता हुआ, उसको सहन करनेवाला। शत्रुके आक्रमण होनेपर भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

(८) सासहान - शत्रुके आक्रमण वारवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोडता नहीं और विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको वापस लौटा देता है।

(९) विषासहिः = जिसके आक्रमण होने पर शत्रुको परास्त होकर भागना ही पडता है अर्थात् जिसका आक्रमण शत्रुके लिये असह्य होता है।

(१०) ईड्यः नाम इन्द्रः = प्रशंसनीय, यशस्वी, (इन्-द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें

ये दस शब्द यहां इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंका उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अंदर धारण करने चाहिये, यह उपासनाका नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले अपने अन्दर ये वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्ग पर चलें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुणोंकी प्राप्तिसे मनुष्यकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति निःसंदेह होगी, उपासनाके मंत्रोंको केवल रटनेमात्रसे ही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, अपितु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंको धारणसे ही मनुष्यकी उन्नति होनी संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्यों का संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करता है वही अपना सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करता है। इसीके विषयमें कहा है कि—

अभ्युदय

उदिहि, उदिहि, वर्चसा अभ्युदिहि। (म २)

'उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो।' ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं तथापि उपास्यके गुण उपासकको करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्र भी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं। अभ्युदय किस मार्ग से करना चाहिये, इसके सारांशमें दो सूत्र हैं—

द्विषन् मह्यं रध्यतु। अहं द्विषते मा रधम्। (मं ६)

'शत्रु मेरे वशमें आजावे पर मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं।' शत्रु अनेक प्रकारसे है और रणक्षेत्र भी विविध हैं। उन सब रणक्षेत्रोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका पराभव करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कुंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम

तव बहुधा वीर्याणि। (मं ६)

'तेरे बहुत पराक्रम होने चाहियें।' तब विजयकी संभावना है। विष्णु देव-व्यापक ईश्वर- की सर्वत्र विजय इसलिये है कि उसके अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न करने पर विजय प्राप्त होना असंभव है। विजयके लिये अनेक रण क्षेत्रोंमें उतरना पडता है और वहां बडे पराक्रम करने पडते हैं। इसलिये—

सुमतिं कृधि। सुधायां धेहि। (मं ६-७)

'अपने अंदर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपको और सबको स्थापित कर।' सुमतिके बिना अध्यात्मक्षेत्रको विजय प्राप्त नहीं हो सकती और (सु-धा) उत्तम धारणाके बिना समाजको या सबको विजय नहीं हो सकती। यह नियम सदा ध्यानमें रखना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये कहा है कि—

बडा सौभाग्य

त्वं महते सौभगाय अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि। (मं० ९)

'तू अदता सौभाग्य बढानेके लिये न थकता हुआ और किसीके दबावसे न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षित रहनेका प्रयत्न कर' यह आदेश बडा उत्साहवर्धक है। चाहे कितना ही प्रचण्ड शक्तिशाली भी दबानेका यत्न करे, परंतु स्वयं उसके दबावसे न दबें ऐसा यत्न करना चाहिये। पाशवी शक्तिसे न दबनेका निश्चय करना ही अत्यंत महत्वकी बात है। आत्माकी शक्ति इतनी प्रचंड है कि सब जगत्‌की शक्ति के विरोध करने पर भी वह दब नहीं सकता, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। 'महासौभाग्य' जो ऊपरके मंत्रमें कहा है वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उत्साह बढानेके लिये और कहा है कि—

न दब जाना

पृथिव्या अदब्धः असि। ते महिमानं न आपुः।
(मं १२)

'पृथ्वीपर तू आत्मा न दबनेवाला महाशक्तिमान् हैं, तेरी महिमा अन्य भौतिक जड पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती।' जड पदार्थ चाहे कितने भी सामर्थ्यवान् हों, परंतु उनकी शक्ति आत्माके सामर्थ्यकी बराबरी कर नहीं सकती। अपने आत्माको यह प्रचण्ड शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान है। अपने परम पिताकी प्रचण्ड शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकोंके सन्मुख वेदमंत्रों द्वारा रखा जाता है कि अपने अंदर परमपिताके वीर्यका अनुभव करें और उनके गुणोंका धारण अपने अन्दर करनेका यत्न करें। यह ईशगुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी आगे कहा है —

अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः। (मं० १२)

'न दब जानेवाले ज्ञानसे आगे बढता हुआ' (बहुधा वीर्याणि) बहुधा पराक्रम कर। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होती है, यह बात यहां स्पष्ट कही है। यहां ज्ञानका महत्व वर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् —

सत्यका मार्ग

विद्वान् ऋतस्य पथा अनु इहि। (मं० १६)

'विद्वान होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर चलता है।' सत्यका आग्रहसे साथ पालन करना चाहिये। सत्य ही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब बन्धनोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे ही सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

अशस्ति बाधमानः सुदिने चरि। (मं० १७)

'अप्रशस्त निंदनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिनके

प्रकाशपूर्ण जीवनमें बर्ताव करनेवाला होगा।' जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निन्दनीय दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी अत्यंत इष्ट है। अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अंदर बढाना और हीन दुर्गुणोंको अपनेमेंसे दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर हो सकती है। इसलिये कहा है कि—

आत्मा और संसार

असति सत् प्रतिष्ठितम्। सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं भव्ये भव्यं भूते च प्रतिष्ठितम्। (मं० १९)

'असतमें सत् और सत्में भूत ठहरा हुआ है' यह पहिला कथन है। यह संसार नाशवान् होनेसे असत् है, और आत्मा त्रिकालाबाधित होनेसे सत् है। ये दोनों परस्पर संगत होनेसे कहा जाता है कि एक दूसरेमें ठहरा हुआ है। यही विषय दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है– 'शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर स्थित है।' ईशोपनिषद्में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(वा. यजु. ४०।६)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥
(ईश. उ. ६; काण्व. यजु. ४०।६)

तथा भागवतमें—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
(श्री. भाग. ३।२४।४६)

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(श्री. भाग. ११।२।४५)

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि 'आत्मा– (सत्) सब भूतोंमें (असतमें) है और सब भूत (असत्) आत्मामें हैं। यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है वह बडा भक्त कहलाता है, वह श्रेष्ठ पुरुष होता है, वही शोकमोहोंसे परे होकर परमसिद्धिको प्राप्त होता है।

इसमें पहिली परीक्षा सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थितिका अनुभव आना है, ऐसा अनुभव हो तो समझना चाहिये कि उन्नति हो गयी है, और यदि केवल शब्दोंसे ही 'परमेश्वर सर्वव्यापक' होनेका शब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि अभी श्रवण मनन निदिध्यासनका अनुष्ठान होना बाकी है।

ऊपरके मंत्रमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं भव्ये, भव्यं भूतं आहितं) भूत भविष्यमें और भविष्य भूतमें है। इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रथम करे। मनुष्यका वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है और उसके भूतकालके कर्मके साथ उसका भविष्यकाल जकडा हुआ होता है। उदाहरणके लिये देखिये– यदि एक मनुष्य प्रथम आयुमें उत्तम ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मानुष्ठानसे अपना आयुष्य व्यतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका यौवन और वार्धक्य सुखसे व्यतीत होंगे, क्योंकि उसका भूतकाल भविष्यसे संबंधित है। इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये– जिस राष्ट्रके भूतकालके लोगोंने उत्तम पुरुषार्थ किया हो, उस राष्ट्रका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनंदमें व्यतीत होगा और जिस राष्ट्रके लोगोंने भूतकालमें पारतंत्र्य प्राप्त किया हो, उसका भविष्यकाल कष्टोंमें जायगा, क्योंकि (भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं) भूत भविष्यमें फलता है और भविष्यका उगम भूतमें होता है। यह वेदका उपदेश जैसा व्यक्तिमें वैसा ही राष्ट्रमें प्रत्यक्ष दीख सकता है। इस सत्यका अनुभव करता हुआ, तथा अपने भूत भविष्य वर्तमानका विचार करता हुआ, मनुष्य अपने भविष्यकालमें दुःख प्राप्त होनेके बीज सांप्रतके कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बो देवे। परंतु उसको चाहिये कि वह इस समय ऐसे शुभ कर्म करे कि जिससे शुभ फल उसको भविष्य कालमें प्राप्त हों। आजकी हमारी स्थिति हमें अपने ही भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम ही अपना भविष्यकाल बना रहे हैं। इसी उद्देश्यसे वेदमें कहा है—

भूत भविष्य वर्तमान

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानः०।
(ऋ. १०।९०।२, वा. यजु. ३१।२)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वर:० ॥ (अथर्व. १९।६।४)

'वर्तमानकालमें जो पुरुष है वही उसके भूत और भविष्यका रूप है और वह अमृतत्वका स्वामी है अर्थात् किसी पुरुषका वर्तमानकाल उसके भविष्यका बीज और भूतका परिणाम दिखाता है। मनुष्यकी तारुण्य अवस्थासे पता लग सकता है कि उसने अपना बालपन कैसा व्यतीत किया था और उसीसे पता चलता है कि उसका भविष्य कैसा होगा। राष्ट्र पुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीनताके परिणाम देखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुरुषार्थसे ही वह अपने भविष्यकी भविष्यताके बीज बो देता है क्योंकि प्रत्येक पुरुष भूतकालका परिणाम और भविष्यकालका बीज धारण करता है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है।

आत्मतेज

अहं भ्राजता भ्राज्यासम्। (मं. २०)

'मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूं।' दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येकको अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी रक्षा दूसरेके बलसे होती हो, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने पोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं होते हैं, उसकी शोचनीय अवस्था होती है। अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहां इस मंत्र द्वारा दिया है। इसी प्रकार और भी कहा है—

अहं ब्रह्मवर्चसेन मध्यर रोचः (भूयसा) रुचिषीय।
(मं. २१)

'मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊं।' इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उन्नतिके लिये अत्यंत है, यह बात पुनः स्पष्ट की है।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनक्रम समाप्त करके अस्तको जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहां सूर्यको सन्मुख रखनेको कहा है। मनुष्यका आदर्श सूर्य है, सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी आदर्शरूप होता है। इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें। और उससे यह बोध प्राप्त करें। इसके अनंतर एक महत्वपूर्ण मंत्रभाग है वह प्रत्येक मनुष्यको नित्य स्मरणमें धारण करना योग्य है, वह अब देखिये—

अपना यश

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च आवृतः
कृतवर्यिः विहायाः उरव्याः सहस्रायुः
सुकृतः चरेयम्॥ (मं. २७)

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः।
ऋतेन गुप्तः.. भूतेन भव्येन च गुप्त (चरेयम्)॥
(मं. २८-२९)

पाप्मा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत्।
अहं वाचः सलिले अन्तर्दधे। (मं. २९)

'मैं ज्ञान, आत्मरक्षाके सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर पराक्रम करता हुआ, विविध पुरुषार्थका साधन करता हुआ, दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूं। मैं ज्ञान, आत्मरक्षाके सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूत भविष्य वर्तमानकालमें होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूं। पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे समीप न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूं।'

इनमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्गदर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। इन्हीं विचारोंकी स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा। इसके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो आगे पीछेके शब्दोंके साथ और विचारोंके साथ संगति देखकर मनन करनेसे ही ध्यानमें आसकता है।



पराक्रमसे विजय

कांड ८, सूक्त ८

(ऋषिः - भृग्वङ्गिराः । देवता - इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहनन च)

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः । यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥
पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् । धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥
अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून्खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः ॥ ३ ॥
परुषानमून्परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥
अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अर्थ— (पुरं-दरः शूरः शक्रः मंथिता इन्द्रः) शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला शूर समर्थ शत्रुसैन्यका मन्थनकर्ता इन्द्र (मन्थतु) शत्रुसेनाका मन्थन करे। (यथा) जिसकी शक्तिसे (अमित्राणां सहस्रशः सेनाः) शत्रुओंके हजारों सैनिकोंको (हनाम) हम मारें ॥ १ ॥

(उपध्मानी पूति-रज्जुः) सुलगाई हुई दुर्गंधयुक्त रस्सी (अमूं सेनां पूतिं कृणोतु) इस सेनाको दुर्गंध-युक्त करे। (धूमं अग्निं परादृश्य) धूम और अग्निको दूरसे देखकर (अमित्राः हृत्सु भयं आदधतां) शत्रु हृदयोंमें भय धारण करें ॥ २ ॥

हे (अश्व-त्थ) घोडे पर चढे वीर ! (अमून् निः शृणीहि) इनको काट। हे (खदि-र) शत्रुको खाने-वाले वीर ! (अमून् अजिरं खाद) इनको शीघ्र खा। (ताजद्-भङ्ग इव) शीघ्र भंजन करनेवालेके समान (भज्यन्तां) भग्न किये जाय और वधः वधैः एनान् हन्तु) वध करनेवाला शस्त्रोंसे इनको मारे ॥ ३ ॥

(परुष-आह्वः) कठोर आह्वान करनेवाला वीर (अमून् परुषान् कृणोतु) इनको कठोर बनावे। (वधकः वधैः एनान् हन्तु) वधकर्ता शस्त्रोंसे इनका वध करे। (बृहद्-जालेन संदिताः) बडे जालसे बधे हुए शत्रु (शरः इव क्षिप्र भज्यन्तां) सरकंडेके समान शीघ्र टूट जाय ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षं जालं आसीत्) अन्तरिक्ष जाल है और (महीः दिशाः जालदण्डाः) विस्तृत दिशाएं जालके दण्डे हैं। (तेन दस्यूनां सेना अभिधाय) उससे शत्रुकी सेनाको पकड कर (शक्रः अप अवपत्) शूर वीर भगाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— शूरवीर शत्रुओंके किलोंको तोडें और शत्रुसैन्यको मथ डालें। हम भी सहस्रों शत्रुवीरोंको मारें ॥ १ ॥

शत्रुसेना पर हमला करनेकेलिए सुलगाई हुई बारूदकी बत्ती शत्रुसैन्यमें बदबूवाला धुवां उत्पन्न करे। जिस धुवेंको और ज्वालाको देखकर शत्रु भयभीत होवें ॥ २ ॥

घुडसवार शत्रुको मारें। हमारे वीर शत्रुको खाजायें, अर्थात् उनका नाश करें। हमारे वीर अपने शस्त्रोंसे शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

हमारा सेनापति अपने भाषणसे हमारे सैनिकोंको धीरज देकर कठोर बनावे। हमारे वीर शत्रुसेनाका नाश करें। बडे जालके अन्दर शत्रुसैनिकोंको पकडकर नाश करें ॥ ४ ॥

यह अन्तरिक्ष बडा जाल है, इसके दण्ड ये बडी दिशाएं हैं। इस जालसे शत्रुको पकडकर शूर वीर उनका नाश करें ॥ ५ ॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥ ६ ॥
बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥
सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना । श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥ ९ ॥
मृत्यवेऽमून्प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान्प्रति नयामि बद्ध्वा ॥ १० ॥

अर्थ— (वाजिनीवतः बृहतः शक्रस्य) सेनाके साथ रहनेवाले महान् इन्द्रका (बृहत् हि जालं) बडा जाल है। (तेन सर्वान् शत्रून् अभिन्युब्ज) उससे सब शत्रुओंको सब ओरसे तू आधीन कर, (यथा एषां कतमः चन न मुच्यातै) जिससे इनमेंसे एक भी न छूट सके ॥ ६ ॥

हे (शूर इन्द्र) शूर इन्द्र ! (सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य बृहतः ते) सहस्रों मनुष्योंके द्वारा पूजित और सैंकडो सामर्थ्यवाले तथा महान् तुझ इन्द्रका (जालं बृहत्) जाल बडाभी है। (तेन अभिधाय) उस जालसे घेरकर तथा (सेनया) अपनी सेनाके द्वारा (शक्रः) इन्द्र (दस्यूनां शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं अभिधाय जघान) शत्रुओंके सैंकडों हजारों लाखों और करोडों सैनिकोंको मारता है ॥ ७ ॥

(महतः शक्रस्य) महान् इन्द्रका (अयं महान् लोकः) यह महान् लोक (जालं आसीत्) जाल था। (तेन इन्द्रजालेन) उस इन्द्रके जालसे (अमून् सर्वान् तमसा अह अभिदधामि) इन सब शत्रुवीरोंको अन्धेरेसे मैं घेरता हूं ॥ ८ ॥

(उग्रा सेदिः) बडी थकावट, (व्यृद्धिः) निर्धनता, (अनपवाचना आर्तिः च) अकथनीय कष्ट, (श्रमः) कष्ट, परिश्रम, (तन्द्रीः मोहः च) आलस्य और मोह (तैः अमून् सर्वान् अभिदधामि) उनसे इन सब शत्रुओंको मैं घेरता हूं ॥ ९ ॥

(अमून् मृत्यवे प्रयच्छामि) इन शत्रुओंको मैं मृत्युके लिये सौंप देता हूं (मृत्युपाशैः अमी सिताः) मृत्युके पाशोंसे ये बांधे गए हैं। (मृत्योः ये अघ-लाः दूताः) मृत्युके जो पापसे मारनेवाले दूत हैं (तेभ्यः एनान् बद्ध्वा प्रति नयामि) उनके पास इनको बांध कर ले जाता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ— सेनाके साथ हमला करनेवाले इन्द्रके पास बडा जाल है। उससे शत्रुसैन्य बांधा जाता है और कोई बच नहीं सकता ॥ ६ ॥

अनेक पराक्रम करनेवाले पूजनीय इन्द्रदेवका बडा जाल है उस जालमें शत्रुसैनिक बांधे जाते हैं और उनके हजारों और लाखों मारे जाते हैं ॥ ७ ॥

बडे इन्द्रका यह विस्तृत लोक ही बडा जाल है। इस इन्द्रजालमें सब शत्रु अन्धकारसे बांधे जाते हैं ॥ ८ ॥

थकावट, निर्धनता, कष्ट, परिश्रम, आलस्य, अज्ञान इत्यादिसे शत्रुओंको घेरते हैं ॥ ९ ॥

उन शत्रुओंको मृत्युके पास भेजता हूं। मृत्युपाशोंसे ये बांधे गये हैं। मृत्युके ये मारक दूत हैं उनके पास शत्रुओंको ले जाता हूं ॥ १० ॥

•

नयंतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत । परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥
साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा । रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥
विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा । मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥
वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः । द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन् । दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥
इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे । अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥
घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः । भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

अर्थ— हे (मृत्युदूताः) मृत्युके दूतो ! (अमून् नयत) इनको ले चलो । हे (यमदूताः) यमके दूतो ! (अपोम्भत) इनको समाप्त करो । (परः-सहस्राः हन्यन्तां) हजारोंसे अधिक मारे जांय । (एतान् भवस्य मर्त्यं तृणेढु) इनका ईश्वरके मतानुसार नाश करो ॥ ११ ॥

(साध्याः एकं जालदण्डं उद्यत्य) साध्य देव एक जालके दण्डको उठाकर (ओजसा यन्ति) बलके साथ जाते हैं (रुद्राः एकं) रुद्रदेव एकको, (वसवः एकं) वसुदेव एकको पकडते हैं और (आदित्यैः एकः उद्यतः) आदित्य देव एकको उठाते है ॥ १२ ॥

(विश्वे देवाः उपरिष्टात् उब्जन्तः) विश्वे देव ऊपर ही ऊपरसे दुष्टोंको दबाते हुए (ओजसा यन्ति) बलसे चलते हैं (अंगिरसः मध्येन महीं सेनां घ्नन्तः) आंगिरस बीचमें बडी सेनाका नाश करके (यन्तु) जावें ॥ १३ ॥

(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वनस्पति और उनसे बने पदार्थ, (ओषधीः उत वीरुधः) औषधियां और लताएं, (चतुष्पाद् द्विपात्) चार पांववाले और दो पांववाले इन सबको (इष्णामि) मैं प्रेरित करता हूं, (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(गंधर्वाप्सरसः सर्पान्) गंधर्व, अप्सरा, सर्प (देवान् पुण्यजनान् पितॄन्) देव, पुण्यजन और पितर इन (दृष्टान् अदृष्टान् इष्णामि) देखे और न देखे हुओंको मैं प्रेरित करता हूं (यथा अमू सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १५ ॥

(इमे मृत्युपाशाः उप्ताः) ये मृत्युके पाश रखे हुए हैं (यान् आक्रम्य न मुच्यसे) जिनपर आक्रमण करके तू नहीं छूटेगा । (अमुष्याः सेनायाः) इस सेनाके (इदं कूटं) इस केन्द्रको (सहस्रशः हन्तु) सहस्र प्रकारसे हनन करे ॥ १६ ॥

(अयं घर्म होमः) यह प्रदीप्त होम (अग्निना सहस्रहः समिद्धः) अग्नि द्वारा सहस्रों प्रकारोंसे प्रज्वलित हुआ है । (भवः पृश्निबाहुः शर्वः) भव और विचित्र बाहुवाला शर्व ये तुम दोनों (अमूं सेनां हतम्) इस सेनाको मारो ॥ १७ ॥

भावार्थ— मृत्युके दूत हमारे शत्रुओंको पकडें, यमदूत उनकी समाप्ति करें । इस प्रकार हजारों शत्रु मारे जांय ॥ ११ ॥

साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये इस जालके चारों खंभोंको पकडकर वेगसे दौडते हैं ॥ १२ ॥

विश्वेदेव ऊपरसे हमला करते हैं और आंगिरस शत्रुसेनाके मध्यभागमें हमला करते हैं ॥ १३ ॥

वनस्पति, वनस्पतिसे बने पदार्थ, औषधि, लता, द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब मेरे सहायक हों और इनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूं ॥ १४ ॥

गंधर्व, अप्सराएं, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर, परिचित और अपरिचित मेरी सहायता करें, जिनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूं ॥ १५ ॥

ये मृत्युपाश फैलाये हुए हैं, इनमेंसे कोई नहीं छूटेगा, शत्रुसेनाके उस केन्द्रका सब प्रकारसे मैं नाश करूं ॥ १६ ॥

यह यज्ञ अग्निसे प्रदीप्त हुआ है । इस यज्ञके द्वारा शत्रुसेनाका नाश होवे ॥ १७ ॥

मृत्योराषुमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् । इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनामुमूं हतम् ॥ १८ ॥
पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा । बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम् ।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि ॥ २० ॥
सं क्रोशतामेनान्द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥
दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक्परिरथ्यम् ॥ २२ ॥
संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् ।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

अर्थ— (मृत्योः आपं क्षुदं सेदिं वधं भयं) मृत्युसे कष्ट, भूख, बंधन, वध और भयको (आपद्यन्तां) प्राप्त होओ । हे शर्व ! तुम (इन्द्रः च) और इन्द्र दोनों (अमूं सेनां हतं) इस सेनाको मारो ॥ १८ ॥

हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम (पराजिताः प्र त्रसत) पराजित होकर त्रस्त होओ । (ब्रह्मणा नुत्ताः धावत) ज्ञानसे प्रेरित होकर भाग जाओ । (बृहस्पति-प्रणुत्तानां अमीषां) ज्ञानीके द्वारा प्रेरित हुए इनमेंसे (कश्चन मा मोचि) कोई भी न बचे ॥ १९ ॥

(एषां आयुधानि अवपद्यन्तां) इनके शस्त्रास्त्र गिर जांय । (प्रतिधां इषुं मा शकन्) प्रतिपक्षसे मारे हुए बाणको ये न सह सकें । (अथ एषां बहु बिभ्यतां) अब इनको बहुत डर लगे । इनके (मर्मणि इषवः घ्नन्तु) मर्मोंमें बाण लगें ॥ २० ॥

(द्यावापृथिवी एनान् संक्रोशन्तां) द्युलोक और पृथिवी इनकी निंदा करें । (अन्तरिक्षं देवताभिः सह सं) अन्तरिक्ष देवोंके साथ इनकी निंदा करें । (ज्ञातारं मा) ज्ञानीको ये न प्राप्त करें (मा प्रतिष्ठां विदन्त) प्रतिष्ठाको भी ये प्राप्त न करें । (मिथः विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु) परस्पर विघ्न करते हुए ये सब मृत्युको प्राप्त हों ॥२१॥

(चतस्रः दिशः) चार दिशाएं (देवरथस्य अश्वतर्यः) देवरथकी घोडियां हैं (पुरोडाशाः शफाः) पुरोडाश खुर हैं । (अन्तरिक्षं उद्धिः) अन्तरिक्ष ऊपरका भाग है । (द्यावापृथिवी पक्षसी) द्युलोक और पृथिवी ये दोनों बाजू हैं । (ऋतवः अभीशवः) ऋतु रस्सियां हैं । (अन्तर्देशाः किंकराः) बीचके प्रदेश रथरक्षक हैं और (वाक् परिरथ्यं) वाणी रथका अन्य भाग है ॥ २२ ॥

(संवत्सरः रथः) वर्ष रथ है, (परिवत्सरः रथोपस्थः) परिवत्सर रथमें बैठनेका स्थान है, (विराड् ईषा) विराट् जोतनेका दण्ड है, (अग्निः रथमुखं) अग्नि रथका मुख है । (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र बाईं ओर बैठनेवाला है और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है ॥ २३ ॥

भावार्थ— मृत्युसे कष्ट, क्षुधा, बंधन, वध और भय शत्रुको प्राप्त होवे और इस प्रकार भयभीत हुए शत्रुका नाश होवे ॥ १८ ॥

शत्रु पराजित हों, वे भाग जांय । हमारे ज्ञानी वीर द्वारा प्रेरित हुए शत्रु किसी प्रकार भी न बचें ॥ १९ ॥

शत्रुके शस्त्र गिर जांय, वे हमारे शस्त्रास्त्रोंको न सह सकें, वे डर जांय और इनके मर्म वेधे जांय ॥ २० ॥

सब लोक इन शत्रुओंकी निंदा करें, हमारे शत्रुको किसी ज्ञानीकी सहायता न प्राप्त हो, वे किसी स्थानपर न ठहर सकें । वे आपसमें एक दूसरेसे टकराते हुए मर जांय ॥ २१ ॥

देवरथकी घोडियां चारों दिशाएं हैं, उस रथके विविध भाग पुरोडाश, ऊपरका भाग अन्तरिक्ष और दोनों बाजू द्युलोक, पृथिवी हैं । छः ऋतु घोडियोंके लगाम हैं, बीचके स्थान-संरक्षक नौकर हैं और वाणी ही मध्यस्थान है ॥ २२ ॥

संवत्सर, परिवत्सर, विराट्, अग्नि ये क्रमशः रथ, बैठनेका स्थान, दण्ड और रथमुख हैं, इन्द्र इस रथमें बाईं ओर बैठता है और चन्द्रमा सारथ्य करता है ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा । इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥

अर्थ —(इतः जय) यहांसे जय प्राप्त कर (इतः विजय) यहांसे विजय हो । (संजय जय) अच्छी प्रकार जय प्राप्त कर (स्व-आहा) आत्मसमर्पण कर (इमे जयन्तु) ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। (अमी पराजयन्तां) ये शत्रु-सैनिक पराभवको प्राप्त हों। (एभ्यः स्वाहा) इनके लिये शुभवचन (अभीभ्यः दुराहा) इन शत्रुओंके लिये बुरा वचन। (नीललोहितेन अमून् अभि अवतनोमि) नील और लोहित-रक्तसे इन शत्रुओंको सब प्रकारसे गिराता हूं॥ २४ ॥

भावार्थ— इस प्रकार जय प्राप्त कर, विजय संपादन कर। आत्मसमर्पणसे ही जय मिलता है। ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। शत्रुका पराजय हो। अपने लोगोंको शुभ आशीर्वाद । शत्रुको शाप। सब शत्रुओंकी गिरावट हो॥ २४॥



पराक्रमसे विजय

युद्धकी नीति

युद्धनीतिका वर्णन करनेवाले सूक्त वेदमें अनेक हैं, परंतु इस सूक्तमें ' जाल-युद्ध ' का वर्णन है, यह इस सूक्तकी विशेषता है। जालमें शत्रुसैन्यको पकडकर उनका उचित शस्त्रास्त्रोंसे वध करनेका नाम जालयुद्ध है। प्रायः मछलियां पकडनेवाले धीवरलोग सूत्रके जाल बनाते हैं और उसमें मछलियां पकडते हैं। ये सूत्रके जाल युद्धमें उपयोगी नहीं होते, *क्योंकि शत्रुके सैनिक यदि इस सूत्रके जालमें पकडे* गये, तो वे अपने तीक्ष्ण शस्त्रोंसे जाल काटकर बाहर आ-सकते हैं। अतः यहांका युद्धका जाल ऐसा होना चाहिये कि, जो सहजहीमें काटा न जासके।

आजकलके युद्धोंमें तारोंके जाल, अथवा कटकित तारोंके जाल वर्तते हैं। बहुत संभव है कि जिस इन्द्रजालका वर्णन इस सूक्तमें किया है, वह इसी प्रकारके लोहेके कंटकित अथवा अन्य तारोंका ही जाल हो। इन्द्रके शत्रु राक्षस हैं, वे बलाढ्य और शस्त्रास्त्रसंपन्न होते हैं, वे सूत्रके जालसे बांधे जासकेंगे और सहजहीमें मारे जा सकेंगे यह संभव नहीं है। इस सूक्तमें इन्द्रने इस जालके द्वारा हजारों और लाखों शत्रुओं-को बांधा और मारा ऐसा वर्णन है, अतः यह जाल निःसन्देह लोहेका होना चाहिये। इसका वर्णन इस प्रकार है—

बृहज्जालेन संदिताः क्षिप्रं भज्यन्ताम् ।(मं. ४)
शक्रस्य अन्तरिक्षं जालं आसीत् ।
महादिशः जालदण्डाः ।
तेन अभिधाय दस्यूनां सेनां अपावपत् । (मं. ५)
वाजिनीवतः शक्रस्य बृहत् जालम् ।
तेन सर्वान् शत्रून् न्युब्ज,
यथा एषां कतमश्चन न मुच्यातै ॥ (मं. ६)
हे शूर इन्द्र ! शतवीर्यस्य ते बृहत् जालम् ।
तेन दस्यूनां सहस्रं अयुतं जघान ॥ (मं. ७)

' इन्द्र स्वयं बडा शूर है, उसके पास सैन्य भी बहुत है। वह स्वयं सैकडों प्रकारके पराक्रम करता है। उसका बडा-*भारी जाल है। मानो उसका जाल इस अन्तरिक्ष जैसा* विस्तृत है। चारों दिशाओंमें उसके जालके स्तंभ खडे किये होते हैं। इस विस्तृत जालमें शत्रुकी सेना पकडी जाती है और एकबार सेना इस जालमें पकडी गयी, तो उनमेंसे एक भी नहीं बच सकता। इस रीतिसे इस ढंगके जालयुद्ध द्वारा इन्द्र हजारों और लाखों शत्रुओंका संहार करता है।' इन मन्त्रभागोंमें यह वर्णन बडा मनोरम है और जालयुद्धका महत्व भी इससे प्रकट होता है, एकबार शत्रु जाल में बांधे गये, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी हलचल भी बन्द हो जाती है। इस प्रकार जालसे बांधे गये शत्रुओंका वध करना बडा सहज कार्य होता है क्योंकि इन्द्र एक बार शत्रुको जालमें पकडकर पश्चात् अपने सैनिकोंसे ही उनका वध कराता है, ऐसा इसी सूक्तमें कहा है —

शक्रः सेनया तेन (जालेन बद्ध) दस्यूनां
सहस्रं जघान। (मं. ७)

' इन्द्र अपनी सेनाद्वारा उस जालसे बांधे गये शत्रुके हजारों सैनिकोंको मारता है।' इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता

है कि जालमें बधे शत्रुसैन्यका वध करना सहज बात है। यह बडा जाल पृथ्वीपर फैलाया जाता है इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

अयं महान् लोकः शक्रस्य जालं आसीत्।
तेन इन्द्रजालेन सर्वान् तमसा अभिदधामि ॥
(म ८)

साध्याः रुद्राः वसवः जालदण्ड
उद्यम्य ओजसा यन्ति।
आदित्यैः एकः (दण्ड) उद्यतः ॥ (मं. १२)
विश्वेदेवाः ओजसा उपरिष्टात् यन्तु।
अंगिरसः मध्येन सेनां घ्नन्तः यन्तु ॥ (मं १३)

'इस पृथ्वी भर इन्द्रका जाल फैला हुआ है। इस इन्द्रके जालसे सब शत्रुओंको अन्धेरेसे घेरते हैं। साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये सब देव जालका एक एक स्तम्भ पकड कर वेगसे दौडते हैं। विश्वेदेव और आंगिरस भी शत्रुसेनाके बीचमें और ऊपरसे हमला करते हैं।' इतना विस्तार इस जालका होता है। इस जालसे सब पृथ्वी और अन्तरिक्ष भर जाता है, अर्थात् शत्रुका सब सैन्य चारों ओरसे इस जालके द्वारा घेरा जाता है। इन मन्त्रोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शत्रुका सैन्य घूमता है, उसी रीतिसे यह जाल भी घुमाया जाता है। इसीलिये जालके दण्ड पकडकर वसु, रुद्र, आदित्य और साध्य वेगसे भ्रमण करते हैं। विश्वदेव अपने सैन्यसे ऊपरके भागसे हमला करते हैं और आंगिरसोंकी सेना बीचमें हमला करती है। इस प्रकार शत्रुसैन्यको युद्धमें रखकर वसु, रुद्र और आदित्य जालदण्डोंको पकड कर दौड दौड कर शत्रुके इर्दगिर्द जालको दण्डोंके आधारपर ऐसे वेगसे जाल रचते हैं, कि शत्रु न जानते हुए स्वयं ही जालमें आकर फस जांय। यह युद्धकौशलकी बात है और जो युद्धविद्या जानते हैं उनके ही समझमें यह बात आसकती है। यहां मन्त्रों द्वारा रचनाविषय प्रकट हुआ है। यहां साध्य, वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और आंगिरस ये सेनाविभागों और सेनाध्यक्षोंके नाम हैं। इनके विशेष कार्य युद्धभूमिमें होते हैं, अतः ये अलग अलग नाम इनके होते हैं। इन सबका मुख्य इन्द्र है, इसका कार्य (इन्+द्र) शत्रुका विदारण करना है। इसका कार्य प्रथम मन्त्रने इस प्रकार कहा है—

मन्थिता शूरः शक्रः पुरन्दरः इन्द्रः मथ्नातु।
(म. १)

'शत्रुसैन्यका मन्थन करनेवाला इन्द्र शूर और समर्थ होकर (पुरं-दरः) शत्रुके किलोंका भेदन करे।' इसमें प्रत्येक शब्द इन्द्रका कार्य बता रहा है। शत्रुके किलोंको तोडनेका कार्य इन्द्र करता है, किलोंसे शत्रुसैन्यको बाहर निकालकर, उनको अपने जालोंसे बांधकर मारता है। इस प्रकार यह जालयुद्धकी नीति है।

इस रीतिसे जालयुद्धके सामान यदि पास हों तो शत्रुपर विजय प्राप्त करनेका विश्वास अपने सैनिकोंमें आता है और वे कहते हैं—

अमित्राणां सहस्रशः सेनाः हनाम। (मं. १)
वधका वधे एनान् हन्तु। (मं ३, ४)
अमून् निः शृणीहि। अमून् आजिरं खाद। (म ३)
मृत्यवे अमून् प्रयच्छामि।
अमी मृत्युपाशैः सिताः।
मृत्योः ये अघला दूताः तेभ्य
एनान् बद्ध्वा प्रतिनयामि ॥ (म १०)
मृत्युदूता अमून् नयत। यमदूता अपोम्भत।
परःसहस्रा हन्यन्ताम् ॥ (म. ११)
यथा अमु सेनां हनन्। (म. १४, १५)
उमाः मृत्युपाशाः यान् आक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्याः सेनायाः इदं कूटं सहस्रशः हन्तु।
(म १६)

'शत्रुके हजारों सैनिकोंको हम मारेंगे। वधके साधनोंसे इनको मारें। इन शत्रुसैनिकोंको निःशेष मारो। इनको मृत्युको सौंप देता हूं। ये मृत्युके पाशसे बांधे हैं। इन शत्रुओंको बांधकर मैं मृत्युके दूतोंके हवाले करता हूं। यमदूत इनको ले चलें, यमदूत इनको खींच लें और हजारोंका वध किया जावे। इस सपूर्ण सेनाका नाश किया जावे। ये मृत्युके पाश फैलाये हैं, इनसे नहीं छूटोगे, इस शत्रुसेनाके इस केन्द्रको प्राप्त करके उनके हजारों सैनिक मारे जांय।'

इस प्रकारकी भाषा तभी बोली जा सकती है कि जब शत्रुको पकडकर उसका वध करना निश्चितसा हो। जालमें पकडे शत्रुका वध करना निश्चित और सहज होता है। इसी लिये जालयोधी वीर इस प्रकारके निश्चयात्मक वाक्य बोल सकते हैं। इसी प्रकारके वाक्य और देखिये—

पराजिताः अमित्राः प्र त्रसन्ताम्,
प्रणुत्ताः धावत।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां अमीषां कश्चन मा मोचि ॥
(मं १९)

' पराजित हुए शत्रु त्रासको प्राप्त हों, भगाये शत्रु तेजीसे भाग जावें, भगाये गये इन शत्रुओंमेंसे भी कोई न बचे ।' ये शब्द शत्रुपराजयका निश्चय बता रहे हैं। जालयुद्धका यह महत्व है कि एक वार उसमें फसे हुए शत्रुका बचना असंभव है। जालमें फसे शत्रुकी अवस्था कैसी बनती है देखिये —

एषां आयुधानि अवपद्यन्ताम् ।
इषुं प्रतिधां मा शकन् ।
एषां बहु बिभ्यतां इषवः मर्माणि घ्नन्तु । (मं. २०)

' इन शत्रुओंके आयुध गिर जांय। हमारे शस्त्रोंको सह न सकें। इन बहुत घबराये शत्रुओंके मर्मोंमें हमारे शस्त्र आघात करें।' तथा और देखिये—

त्रातारं प्रतिष्ठां मा विदन्त ।
मिथो विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु । (मं. २१)

' शत्रु भयभीत होकर भी आश्रयको न प्राप्त हों, उनको कोई उत्तम सलाह देनेवाला न मिले। ये आपसमें एक दूसरे को मारते हुए मृत्युको प्राप्त हों।' यह अवस्था शत्रुकी तब होगी जबकी अपने निश्चित विजयकी संभावना हो।

इन्द्रः शर्वः च अक्षुजालाभ्यां अमूं सेनां हताम् ।
(मं. १८)

' इन्द्र और शर्व अक्षु और जालोंके द्वारा इस सेनाको मारे।' इस मंत्रमें जालयुद्धको उचित बताई है। सम्पूर्ण शत्रु सेनाको मारना केवल जालयुद्धसे ही संभव है। जालमें पकडे गये शत्रुसेनापर कितनी भयानक आपत्ति आती है इसकी कल्पना अगले मन्त्रभागसे हो सकती है—

मृत्योः आर्ति क्षुधं सेदिं वधं भयं आपद्यन्ताम् ।
(मं. १८)

जालमें पकडे गये शत्रुओंपर ' मृत्युके समान कष्ट, भूख, बंधन, वध और भय ' आ पडते हैं। शत्रुका कोई भी मनुष्य इनसे बच नहीं सकता। शत्रुसेनापर ऐसी भयानक आपत्ति आती है इसलिये यह जालयुद्ध शत्रुको बहुत डर उत्पन्न करनेवाला होता है। इसी मंत्रके साथ निम्नलिखित मंत्र देखिये—

सेदिः उग्रा व्यृद्धिः आर्तिः
अनपवाचना श्रमः तन्द्री मोहः
च तैः अमून् सर्वान् अभिदधामि । (मं. ९)

' बंधन, उग्र विपत्ति, न कहने योग्य कष्ट, श्रम, आलस्य, मोह इनसे ये सब हमारे शत्रु जर्जर हो जांय।' इसकी सिद्धि होनेके लिये युद्धमें जालप्रयोग निःसन्देह उपकारक है। जालमें बचा वीर कितना भी बलवान् हो तो भी वह कुछ भी प्रतिकार करनेमें असमर्थ होजाता है। इसलिये युक्तिसे शत्रुको जालमें बांध देनेसे उनका पूर्णतया नाश हो जाता है। इस युद्धमें और दुर्गन्धास्त्रका प्रयोग वर्णन किया है यह भी बडा घोर प्रयोग है देखिये —

दुर्गंधयुक्त धुँवां

पूतिरज्जुः उपध्मानी अमूं सेनां पूर्ति कृणोतु ।
(मं. २)

' दुर्गंधयुक्त रस्सी जलाकर इस सेनामें सर्वत्र दुर्गंधीको फैला देवे।' कुछ विशेष रासायनिक पदार्थोंसे यह रस्सी भिगोयी रहती है। इस रस्सीको जलाकर उसको शत्रुसेनामें फेंकनेसे शत्रुसेनामें ऐसी दुर्गंधी फैलती है कि उससे त्रस्त हुए शत्रुके सैनिक युद्ध करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इससे कितना भय प्राप्त होता है देखिये—

धूममग्निं परादृश्य अमित्रा हृत्स्वादधतां भयं ।
(मं. २)

' पूर्वोक्त धूममय अग्नि दूरसे देखकर शत्रुके सब लोग हृदयोंमें भय धारण करते हैं।' इतना यह दुर्गन्धास्त्र महा-भयंकर है। एकवार यह (पूतिरज्जु) दुर्गन्धकी रस्सीका जलना प्रारंभ होकर दुर्गंध फैलाने लगा तो सब सैनिक किसी भी कार्यके लिये बडे निकम्मे हो जाते हैं और मानने लगते हैं कि अब अपने नाशका समय आ गया है। यदि जाल प्रयोग और यह दुर्गन्ध प्रयोग इन दोनोंके प्रयोग किये जाय, तो शत्रुका शीघ्र नाश करना बिलकुल आसानीसे हो सकता है। इस प्रकार इन दोनोंके प्रयोग करनेसे अपनी विजय होती है अतः कहा है—

विजय

हतो जय विजय संजय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ॥
(मं. २४)

' इस पूर्वोक्त युक्तिसे जय और विजय प्राप्त करो, यह तुम्हारी उत्तम जय हो। ये तुम्हारे सैनिक विजयी हों, तुम्हारे शत्रु पराजित हों। तुम्हारा उत्तम कल्याण हो, तुम्हारे शत्रुओंका अकल्याण हो।' इस प्रकार अन्तमें इस जालयुद्ध करनेवालोंको शुभ आशीर्वाद दिया है।

इस प्रकार वेदमें उपदेश किये जालयुद्धका वर्णन है। वेदकी युद्धनीति जानें।

' इन्द्र जाल ' शब्द आध्यात्मिक बन्धनका भी भाव बताता है। इस दृष्टीसे इस सूक्तका विचार कोई करे। यह विषय अन्वेषणीय है।

विजयकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ११८

(ऋषिः - अथर्वाङ्गिराः । देवता - चन्द्रमाः, वरुणः, देवः ।)

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

अर्थ— (ते मर्माणि वर्मणा छादयामि) तेरे मर्मस्थानोंको कवचसे मैं ढकता हूं । (सोमः राजा त्वा अमृतेन अनुवस्तां) सोम राजा तुझे अमृतसे आच्छादित करे । (वरुणः ते उरोः वरीयः कृणोतु) वरुण तेरे लिये बडेसे बडा स्थान देवे । (जयन्तं त्वा देवाः अनुमदन्तु) विजय पानेवाले तुझे देखकर सब देव आनंद करें ॥ १ ॥

युद्धके लिये बाहर जानेके समय वीर लोग अपने शरीर पर कवच धारण करें । इस प्रकार तैयार होकर वीर आनन्दसे शत्रुपर हमला करनेके लिये चलें और विजय प्राप्त करें । मनमें निश्चय रखें की, सत्कर्ममें रहकर लडनेवाले वीरका सब देव सहाय्य करते हैं और उसके विजयसे आनंदित भी होते हैं । जिनकी विजयके कारण देवोंको आनंद हो ऐसे ही वीर अपनेमें बढाने चाहिये ।

विजय सूक्त

कांड १, सूक्त २

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - पर्जन्यः, पृथिवी, इन्द्रः, चन्द्रमाश्च ।)

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् । विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ १ ॥
ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि । वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥

अर्थ— (शरस्य पितरं) शरका, बाणका पिता (भूरि-धायसं पर्जन्यं) बहुत प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला पर्जन्य है यह (विद्म) हम जानते हैं । तथा (अस्य) इसकी माता (भूरि-वर्पसं) बहुत प्रकारकी कुशलताओंसे युक्त पृथिवी है, यह हमें (सुविद्म) उत्तम प्रकारसे पता है ॥ १ ॥

हे (ज्याके) माता ! (नः) हम सब पुत्रोंको (परि नम) परिणत कर अर्थात् हमारे (तन्वं) शरीरको (अश्मानं) पत्थर जैसा सुदृढ (कृधि) कर (वीडुः) बलवान् बनकर (अ-रातीः) अदानके भावोंको तथा (द्वेषांसि) द्वेषोंको अर्थात् सब शत्रुओंको (वरीयः) पूर्ण रीतिसे (अप कृधि) दूर कर ॥ २ ॥

भावार्थ— धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पर्जन्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सरकंडा-पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिणाम करावे कि जिससे वह बलवान् बनकर शत्रुओंको पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् । शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥
यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् । एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (वृक्षं) वृक्षके साथ (परिषस्वजानाः) लिपटी हुई या बंधी हुई (गावः) गौएं अपने (ऋभुं शरं) तेजस्वी पुत्र शरको (अनुस्फुरं) फुर्तीके साथ (अर्चन्ति) चाहती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! (अस्मत्) हमसे (दिद्युं शरुं) तेजपुञ्ज बाणको (यावय) दूर करो ॥ ३ ॥

जिस प्रकार (द्यां) द्युलोक और पृथ्वीके (अन्तः) बीचमें (तेजनं) तेज (तिष्ठति) होता है, (एव) इसी प्रकार यह (मुञ्जः) मुंज (रोगं च आस्रावं च) रोग और स्रावके (अन्तः) बीचमें (इत् तिष्ठतु) निश्चयसे रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवें अपने बछडेको वेगसे प्राप्त करना चाहती हैं, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे आगे बढे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोग और स्राव-पाप-के बीचमें शर ठहरे ॥ ४ ॥



विजय सूक्त

प्रथम काण्डके प्रथम सूक्तमें ' मेधाजनन ' अर्थात् बुद्धिका संवर्धन करनेके मूलभूत नियम बताये हैं। गुरु, शिष्य तथा विद्यालय आदिका प्रबंध किस रीतिसे करना चाहिये, गुरु किस प्रकार पढावे, शिष्य किस ढंगसे पढे और दोनों मिलकर राष्ट्रकी उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार किया गया है।

इसके पश्चात् विद्याकी पढाई शुरू होती है, जिसमें अपराजित पक्षका सूक्त ' विद्मा शरस्य पितरं ' यह है। अथर्ववेदमें यह द्वितीय सूक्त है। तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारंभ होता है। इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे।—

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके हरएक आगे पीछेका संबंध देखकर जो भाव व्यक्त होता है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये। वह भाव देखनेके लिये आगेका स्पष्टीकरण देखिये—

(१) वैयक्तिक विजय

इस सूक्तमें पहिले वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश निम्न प्रकार बताये हैं—

१ उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मं १)
२ शरीर बलवान् बनाया जावे, (मं. २)
३ रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जावे, (मं. २)
४ शरीरमें फुर्ती लाई जावे, (मं. ३)
५ जगत्में अपना तेज फैलानेका यत्न किया जावे, (मं. ४)
६ शोधनोंसे रोगोंको दूर किया जावे। (मं. ४)

पाठक विचारकी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारों मंत्रोंके अन्दर गुप्तरूपसे दिखाई देंगे। इनका विशेष विचार होनेके लिये यहां मंत्रोंके शब्दार्थ और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं—

(२) पिताके गुण-धर्म-कर्म

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म बतानेवाले ये शब्द आये हैं- " पिता, पर्जन्य, भूरिधायस्, पृक्ष, द्यौः " इनके

अर्थोंका बोध होनेसे पिताके गुण-धर्म-कर्मोंका बोध हो सकता है; इसलिये इनका आशय देखिये—

१ पिता- (माता) रक्षक, संभालनेवाला।

२ पर्जन्यः- (पूर्ति+जन्यः) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला। न्यूनताको दूर करनेवाला।

३ भूरिधायस्- (भूरि) बहुत प्रकारसे (धायस्) धारण पोषण करनेवाला, दाता, उदारचरित।

४ वृक्षः- आधार, स्वयं धूप सहकर दूसरोंको छाया देनेवाला।

५ द्यौः- प्रकाश देनेवाला, अंधकारका नाश करनेवाला।

मुख्यतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त मन्त्रोंमें पिताके गुणधर्म कर्मोंका प्रकाश कर रहे हैं। इनका आशय यह है- ' पिता ऐसा हो जो अपने पुत्रादिकोंका उत्तम पालन करे उनके अंदर जो जो न्यूनताएं हों उनकी पूर्णता करे अर्थात् अपनी संतानको पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको हृष्टपुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संतानकी उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लडकियोंको ज्ञान देकर उनको उत्तम नागरिक बनावे।'

(३) माताके गुण-धर्म-कर्म

" माता, पृथिवी, भूरिवर्पस्, ज्याका, गौ " ये पांच शब्द पूर्वोक्त मन्त्रोंमें माताके गुण-धर्म-कर्मोंको प्रकट कर रहे हैं। इनका अर्थ देखिये—

१ माता- बालकोंका हित करनेवाली।

२ पृथिवी- क्षमाशील, सहनशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक कष्ट सहन करनेवाली।

३ भूरिवर्पस्- (भूरि) बहुत (वर्पस्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यंत कुशल, सदा कर्म करनेमें दक्ष, परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली।

४ ज्या, ज्याका- (ज्या-जया) जयका साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रस्सी, बलशालिनी।

५ गौः- प्रगतिशील, दुग्धादि द्वारा पुत्रोंकी पुष्टि करनेवाली। किरण, स्वर्ग, रत्न, वाणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश, सूर्य आदिके शुभगुणोंसे युक्त।

माताके गुणधर्म इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो रहे हैं। अर्थात्- ' बालबच्चोंका हित करनेवाली, क्षमाशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये करनेयोग्य कर्मोंमें सदा दक्ष रहनेवाली, बहुत ही कुशलतासे अपने कुटुंबकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, गौके समान दुग्धादि द्वारा बालकोंकी पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्गके समान सुखदायिनी, रत्नके समान घरकी शोभा बढानेवाली, शुभ भाषण करनेमें चतुर, विदुषी, जलके समान शांति बढानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शानेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अज्ञानान्धकार दूर करनेवाली माता होनी चाहिये।'

पिताके गुण-धर्म-कर्म पहिले बताये और यहां माताके गुण-धर्म बताये हैं। ये आदर्श माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पाला तथा बढाया जायगा, यह भी सच्चा *वीर पुत्र ही होगा तथा पुत्री भी उसी प्रकार वीरा बनेगी* इसमें क्या संदेह है ?

(४) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म

पूर्वोक्त मन्त्रोंमें पुत्रके गुण-धर्म-कर्म बतानेवाले ये शब्द हैं- " शारः, अश्मा-तनुः, वीडुः, ऋभुः, शरुः, दिद्युः, तेजनः, मुञ्जः " इनके अर्थ ये हैं—

१ शारः- (शृणाति) जो शत्रुका नाश कर सकता है।

२ अश्मा-तनुः- पत्थरके समान सुदृढ शरीरवाला।

३ वीडुः- बलिष्ठ, शूर।

४ ऋभुः- बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी।

५ शरुः- शत्रुका नाश करनेवाला।

६ दिद्युः- तेजस्वी।

७ तेजनः- प्रकाशमान्।

८ मुञ्जः- (मुञ्जति मार्जयति) शुद्धता और पवित्रता करनेवाला।

पुत्र ऐसा हो कि जो ' शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुदृढ अंगवाला हो, शूर, बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी, यशस्वी और पवित्र आचारवाला हो।' माता पिताको उचित है, कि वे ऐसा यत्न करें कि पुत्रमें ये गुण-धर्म और कर्म बढें और इन गुणोंके द्वारा कुलका यश फैले।

यह बात स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त गुण-धर्म कर्मोंसे युक्त मातापिता होंगे तो उनके पुत्रों और पुत्रियोंमें ये गुण-धर्म आसकते हैं।

या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थिति-पर तथा सुप्रजा निर्माणपर ही अवलंबित है। जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें। आदर्श कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है।

(७) पूर्वापर-सम्बन्ध

पहिले सूक्तमें विद्या पढानेका उपदेश दिया है। इस द्वितीय सूक्तसे पढाईका प्रारंभ हो रहा है। विद्याका प्रारंभ बिलकुल साधारण बातोंसे ही किया गया है। घासकी उत्पत्ति-का विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं। ' मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पिता मेघ और माता भूमि हैं। ' इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है। इतनी साधारण घटनाका उपदेश करते हुए ' पिता-माता-पुत्र ' रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बतायी है यह पाठक यहां देख चुके हैं। घासके अंदर मुञ्ज या शर एक जातीको घास है। यह सर-कंडा स्वयं शत्रुका वध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्यों कि कोमल रहता है। परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कोमल सरकंडा धनुष्यपर चढकर डोरीकी गति प्राप्त करके शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार कोमल बालक गुरु-गृहकी कठिन तपस्या करता हुआ ब्रह्मचर्य पालनरूपी कठिन वज्रसे युक्त होकर उन्नतिके नियमोंके पालनसे अपनी गतिको एक मार्गमें रखता हुआ अपने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके शत्रुओंको भगा देनेमें समर्थ होता है।

पहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें धनुष्यकी उपमा देकर बताया है कि ' गुरु-शिष्यरूपी धनुष्यकी दो कोटियां विद्यारूपी डोरीसे तनी हैं। ' प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस सूक्तका धनुष्यका दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है। दृष्टांतमें एकदेशी बातको ही देखना होता है, इसलिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई दोष नहीं है। प्रथम सूक्तके दृष्टांतमें भी डोरीका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मातृत्वका सादृश्य है।

जंगलमें वृक्षके साथ बंधी हुई गाय भी अपने बछडेका स्मरण करती रहती है, गायका बछडेके ऊपरका प्रेम सबसे बढिया प्रेम है। इस प्रकारका प्रेम अपने बालकके विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये। अपना बालक अति तेजस्वी होवे, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको दूध पिलावेगी, तो उक्त गुण पुत्रमें निःसंदेह उतरेंगे। इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करनेके योग्य है।

(८) कुटुम्बका आदर्श

चतुर्थ मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना सन्मुख रखा है। द्युलोक पिता, भूमि माता और इनके बीचका तेजस्वी गोलक इनका पुत्र है। अपने घरमें भी यही आदर्श होवे। आकाश और पृथ्वीमें जैसा सूर्य होता है, उसी प्रकार पिता और माताके मध्यमें बालक चमकता रहे। कितना उत्तम आदर्श है। हर-एक गृहस्थी इसका स्मरण रखें।

(९) औषधिप्रयोग

मुञ्ज घास अपने रस आदिसे अनेक रोगों और अनेक स्रावोंको दूर करता है, क्यों कि मुञ्ज शोधक, शुद्धता तथा निर्मलता करनेवाला है। इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोधकता और पवित्रताका गुण अपने अंदर बढाया जाय तो रोगादि दूर रहा करते हैं। हरएकके लिये यह सूचना अपनाने योग्य है।

मुञ्ज या शर औषधिका प्रयोग करके स्रावके रोग तथा मूत्राघात आदि रोग दूर होते हैं। इस विषयका सूचक उप-देश इस सूक्तके अन्तमें है। वैद्य लोग इसका विचार करें।

(१०) राष्ट्रकी विजय

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्यु-दयके नियमोंमें समानता है। पाठक इस बातको अच्छी प्रकार जानते ही हैं। व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बातको छोडनेसे दोनों स्थानोंमें नियमोंकी एकरूपताका अनुभव आ सकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान लें और पूर्व स्थानमें एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकोंको राष्ट्रीय उन्नतिका विषय पूर्वोक्त रीतिसे ही ज्ञात हो जायगा।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है, घरमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाद्वारा चुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंधकर्त्री है। घरमें पुत्र वीर बनाया जाता है और राष्ट्रमें बालवृन्दोंमें वीरता बढाई जाती है। इत्यादि साम्य देखकर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और पुत्रके गुण-धर्म-कर्म यहां राष्ट्रीय क्षेत्रमें अति-विस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंको अतिस्पष्ट हो

जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्नलिखित प्रकार होगा—

'प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजाही सूक्ष्मा सच्चा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोको प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मातृभूमि ! हम सबके शरीर अति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान् बनकर अपने शत्रुओंको भगा दें ॥ २ ॥ जिस प्रकार गौ अपने बछडेका हित सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे बढे हुए वीर आगे बढें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तेजोगोलक होते हैं, उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर चमकते रहें तथा वे पवित्रता करते हुए रोगादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥

विजय-प्राप्ति

कांड २, सूक्त २७

(ऋषिः - कपिञ्जलः । देवता - १-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः ।)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ २ ॥
इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ४ ॥
तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

अर्थ— (शत्रुः प्राशं न इत् जयाति) प्रतिपक्षी मेरे प्रश्नपर निश्चयसे विजय प्राप्त नहीं कर सकता। क्यों कि तू (सहमाना अभिभूः असि) जयशील और प्रभावशाली है। (प्राशं प्रतिप्राशः जहि) प्रत्येक प्रश्नपर प्रतिवादीको जीत। (ओषधे ! अरसान् कृणु) हे औषधे ! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥ १ ॥

(सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत्) गरुडने तुझे प्राप्त किया है और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूअरने तुझे नाकसे खोदा है ॥ २ ॥

(इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा बाहौ ह चक्रे) इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे बाहूपर धारण किया था ॥ ३ ॥

(असुरेभ्यः स्तरीतवे) असुरोंसे बचाव करनेके लिये (इन्द्रः पाटां व्याश्नात्) इन्द्रने इस पाटा वनस्पति को खाया था। ०॥ ४ ॥

(अहं तया शत्रून् साक्षे) मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूं (इन्द्रः सालावृकान् इव) जैसे इन्द्र भेड आदिकोंको दूर करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— मेरे प्रश्नसे प्रतिपक्षीकी पराजय हो। क्यों कि मेरी यह शक्ति जयशालिनी और प्रभावयुक्त है। इसी लिये प्रत्येक प्रश्नसे प्रतिपक्षीका पराभव हो। औषधि भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥ १ ॥

इस वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सुअर खोदता है ॥ २ ॥

इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥

तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥

उसीसे शत्रुओंको भगा देता हूं ॥ ५ ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ६ ॥
तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति । अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७॥

अर्थ— हे (जलाष-भेषज) जलसे चिकित्सा करनेवाले (नील-शिखण्ड) नील शिखावाले (कर्मकृत् रुद्र) पुरुषार्थी रुद्र ! (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको (जहि) जीत ले । (ओषधे अरसान् कृणु) हे ओषधे ! तू प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (यः नः अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है (तस्य प्राशं त्वं जहि) उसके प्रश्नको तू जीत (शक्तिभिः नः अधिब्रूहि) शक्तियोंके साथ हमें कह और (प्राशि मां उत्तरं कृधि) प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तम कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे जल चिकित्सक नील शिखाधारी उत्तम पुरुषार्थी रुद्रदेव ! प्रति प्रश्नसे प्रतिवादीको परास्त कर और हे औषधे ! तू प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत, प्रतिप्रश्नमें मेरी विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥ ७ ॥

विजय-प्राप्ति

विजयके क्षेत्र

एक विजय वाद-विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों विजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियोंकी आवश्यकता रहती है ।

वादी और प्रतिवादी

प्रश्न करनेवाला ' प्राश् ' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको ' प्रति प्राश् ' कहते हैं । ' वादी और प्रतिवादी ' इन दो शब्दोंके समान ही ये ' प्राश और प्रतिप्राश ' शब्द हैं । पहिला मंत्र तथा आगे भी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्नकर्ता यों समझिये कि उत्तरदाता भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे और इस प्रकार कुशलतासे प्रश्न करे कि एक दो या थोडेसे प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका मुख फीका पडजाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शांतिसे एक दो प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना चाहिए कि जिससे सहजहीमें वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । इस सूक्तके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई बार दी है । वाद-विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्मविश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादकी विजयके विषयमें हुआ ।

युद्धमें विजय

अब दूसरी विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेकी है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करनी योग्य ही है । जिस तैयारीसे अपने विजयका निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

पाटा औषधि

इस (१।११) उक्त विजयके लिये एक औषधि प्रयोग लिखा है । इस औषधिका नाम ' पाटा या पाठा ' (मं. ४) है इस औषधिके गुण ये हैं—

तिक्ता गुरूष्णा वातपित्तज्वरघ्नी ।
भग्नसंधानकरी पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च ।

राज नि० व. ६

श्रेयसी मुखवाचिका । कफकण्ठरुजापहा । भावप्र० ।

' यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुरु, उष्ण है; वात, पित्त, ज्वरनाशक, टूटे हुएको जोडनेवाली; पित्त, दाह, अतिसारका नाश करनेवाली है । यह श्रेयकारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है । ' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको ' चक्रपाठा, आकनादी, निमूखा ' कहते हैं ।

वाद-विवादके समय यह वल्ली मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और वक्तृत्वसे होनेवाले कष्ट नहीं होते । यह बात भावप्रकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है । कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके जो कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औषधिसे वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका

वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे थकावट भी नहीं होती। इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिये उपयोगी है कि इससे टूटे हुए अवयव जोडे जाते हैं, घाव शीघ्र भर जाते हैं। महाभारतमें भी देखते हैं कि वहांके वीर युद्धसमाप्तिके अंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे। जिससे रात्री व्यतीत होते ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिये सिद्ध होजाते थे। नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है। महाभारतमें कहीं औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जडी बूटी सेवन की जाती थी इतना ही लिखा है। इस सूक्तने 'पाठा' नाम दिया है। ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें। कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

१ इन्द्रः पाठां चक्रे। (मं. ३)

२ इन्द्रः पाठां व्याश्नात्। (मं. ४)

इन मंत्रभागोंमें शरीरपर धारण करने और सेवन करनेकी बात लिखी है। यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य खोज करेंगे और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बडे उपकार हो सकते हैं। भारतीय युद्धके समय वीर लोग इसका उपयोग करते थे और लाभ उठाते थे। बाणोंसे रक्त पूरित हुए वीर तथा घोडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ वक्तृत्व

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिये—

शक्तिभिः अधिब्रूहि। (मं. ७)

' अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो। ' अपने पास शक्तियां न रहते हुए बोलना और बडा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है। अपनी शक्तिसे आत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल बढा सकता है। इसलिये वेदकी यह महत्त्वपूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें। तथा—

यः नः अभिदासति तं जहि। (मं. ७)

' जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो। ' यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बडा लाभकारी हो सकता है। अपना बल बढाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपनेको दास बनानेवालेका पराभव करना। यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है।

अभिदासनका निषेध

वेदमें हम देखते हैं कि अभिदासनका पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्थानपर किया है। यहां तक यह निषेध है कि ' अभिदास ' का अर्थ ' विनाश ' ही माना है। पूर्ण नाश होना और दास बनना, यह वेदकी दृष्टिसे एक ही बात है। किसी भी अवस्थामें वेद दास-गुलाम-बनना पसंद नहीं करता।

जलचिकित्सक

षष्ठ मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरुषार्थी रुद्रका वर्णन है। ' जलाष-भेषज ' शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है। जलाष का अर्थ जल ही है। नील शिखण्डीका अर्थ नील शिखावाले है, यह तरुण जवान आरोग्यपूर्ण मनुष्यका बोध करता है। वृद्धकी शिखा श्वेत होती है। तरुणकी ही नीली या काली होती है। ' कर्म-कृत् ' शब्द पुरुषार्थीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्ममें कुशल। ' रुद्र ' शब्दका अर्थ ही (रुद्+द्र) रुलानेवाले रोगोंको हटानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं। यह चिकित्सकका नाम यहां इसलिये आया है कि यहां युद्धमें व्रणितांग वीरोंको आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है। तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिये सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसलिये ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल ग्रंथोंमें ही रहेगी।

विजय-प्राप्ति

कांड ५, सूक्त ३

(ऋषिः - बृहद्दिवोऽथर्वा । देवता - अग्निः, विश्वेदेवाः ।)

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्व॑ पुषेम ।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वया॒ध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥

अग्ने॑ म॒न्युं प्र॑ति॒नु॒दन्परे॑षां॒ त्वं नो॑ गो॒पाः परि॑ पाहि वि॒श्वतः॑ ।
अपा॑ञ्चो यन्तु नि॒वता॑ दुर॒स्यवो॒ऽमैषां॑ चि॒त्तं प्र॒बुधां॒ वि नेशत् ॥ २ ॥

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः ।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामा॑या॒स्मै ॥ ३ ॥

मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु ।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु मे॒ह ॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्नि ! (विहवेषु मम वर्चः अस्तु) सब युद्धमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। (वयं त्वा इन्धानाः तन्वं पुषेम) हम तुझे प्रदीप्त करते हुए अपने शरीरको पुष्ट बनावें। (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नमें। (त्वया अध्यक्षेण पृतनाः जयेम) तुझ अध्यक्षके साथ रहकर हम संग्रामोंमें विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (परेषां मन्युं प्रतिनुदन्) शत्रुओंके क्रोधको दूर करता हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नः विश्वतः परिपाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर। (दुरस्यवः पराञ्चः निवताः यन्तु) दुःखदायी दूर हटाने योग्य नीच लोग दूर चले जावें। (एषां प्रबुधां चित्तं अमा विनेशत्) ये दुष्ट प्रबुद्ध हुए तो भी उनका चित्त साथ ही साथ नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

(सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मरुतः विष्णुः अग्निः) सब देव अर्थात इन्द्रके साथ मरुत् विष्णु और अग्नि (विहवे मम सन्तु) युद्धमें मेरे पक्षमें हों। (मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विशाल स्थानवाला होवे। (वातः मह्यं अस्मै कामाय पवतां) वायु मेरे इस कार्यके लिये बहता रहे ॥ ३ ॥

(मम यानि इष्टा मह्यं यजन्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों। (मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे। (अहं कतमच्चन एनः मा नि गां) मैं किसी भी प्रकारके पापको न करूं। (विश्वे देवाः इह मा अभिरक्षन्तु) सब देव यहां मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। तुझे अपने अंदर प्रकाशित करके हम अपने शरीरको पुष्ट और बलवान् करें। मेरे सन्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नम्र हों। तेरी अध्यक्षतामें हम सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें विजयी हों ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका क्रोध दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर। दुःख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जांय। यदि वे शत्रु बुद्धिमान् हों तो उनकी दुष्ट बुद्धि भी साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

सब देवोंकी सहायता हमें स्पर्धाके समय प्राप्त हो। इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा अन्यान्य देव हमें सहायक हों। मेरा अन्तःकरण बहुत विशाल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें ॥ ३ ॥

मेरी सब कामनाएं पूर्णतया सिद्ध हों। मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों। मुझसे कोई पापकर्म न हो और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः ।
दैवा होतारः सनिषन्न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥ ५ ॥
देवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥
तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ७ ॥
उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥
धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥

अर्थ— (देवाः मयि द्रविणं आयजन्तां) देव मेरे लिये धन देवें। (मयि आशीः, मयि देवहूतिः अस्तु) मुझमें आशीर्वाद और मुझमें देवताओंको पुकारनेकी शक्ति रहे। (दैवा होतारः नः एतत् सनिषन्) दिव्य होतागण हमें यह देवें। हम (तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम) अपने शरीरसे नीरोग और उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

(देवीः षड् उर्वीः) हे दिव्य छः बडी दिशाओ ! (नः उरु कृणोत) हमारे लिये विशाल स्थान बनाओ। हे (विश्वे देवासः) सब देवो ! (इह मादयध्वं) यहां हमें आनंदित करो। (अभिभाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो। (अशस्तिः मा उ) अकीर्ति हमारे पास न आवे, (या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आवें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियो ! तुम (नः महि शर्म यच्छत) हमें बडा सुख प्रदान करो। (यत् च पुष्टं नः तन्वे प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजाके लिये दो। (प्रजया मा हास्महि) हम संततिसे हीन न हों और (मा तनूभिः) शरीर भी कृश न हो। हे (राजन् सोम) राजा सोम ! (द्विषते मा रधाम) शत्रुके कारण हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

(उरुव्यचा पुरुहूतः महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षु शर्म यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रशंसित देव इस यज्ञमें हमें बहुत अन्नयुक्त सुख देवे। हे (हर्यश्व इन्द्र) रसहरणशील किरणवाले देव ! (नः प्रजायै मृड) हमारी प्रजाके लिये सुख दे (नः मा रीरिषः) हमारा नाश न कर। (मा परा दाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

(धाता विधाता) धारक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवनस्य पतिः अभिमातिषाहः सविता देवः) जो भुवनका पालक सञ्चालक घमंडी शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र, तथा (उभा अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ— सब देव मुझे धन्य बनावें, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी निष्ठा मेरे मनमें स्थिर हो। यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो। हम अपने शरीरोंसे नीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम वीर बनें ॥५॥

दिव्य दिशायें हमारे लिये विस्तृत स्थान देवें। सब देव हमें आनन्दित करें। निस्तेजता, अकीर्ति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥ ६ ॥

तीन देवियां हमें बडा सुख देवें। हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो। हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें उत्तम सुख देवे। हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विभक्त न हों ॥ ८ ॥

ईश्वर तथा सविता आदि सब अन्य देव हमें पापसे बचावें ॥ ९ ॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥
अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद्धनजिदश्वजिद्यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

अर्थ— (ये नः सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो हमारे वैरी हैं वे दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्यां एनान् अव बाधामहे) इन्द्र और अग्निकी सहायतासे इनको हम रोकते हैं। (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र और ऊपरके स्थानको स्पर्श करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेत्तारं अधिराजं अक्रत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले मुख्य अधिराजको बनाते हैं ॥ १० ॥

(यः गोजित् धनजित् यः अश्वजित्) जो गौ, धन और घोडोंको जीतनेवाला है उस (अर्वाञ्चं इन्द्रं अमुतः हवामहे) पासवाले इन्द्रको वहांसे स्तुति करते हैं। वह (नः विहवे इमं यज्ञं शृणोतु) विशेष स्पर्धामें किये गये हमारे इस यज्ञको सुने। हे (हर्यश्व) रसहरणशील किरणवाले देव ! (अस्माकं मेदी अभूः) तू हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो हमारे वैरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं। तथा आदित्य आदि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान् राजा दें ॥ १० ॥

जो गौ, घोडे, आदि विविध धनोंको देनेवाला है, उस प्रभुकी हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं। हे प्रभो ! यह हमारी प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥



विजय-प्राप्ति

अपने विजयकी प्रार्थना

इस सूक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है। मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है। यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परंतु उस विजयको प्राप्त करनेके लिये किस प्रकारके विचार मनमें धारण करने चाहियें, बुद्धिमें कौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये और शरीरसे कौनसे कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता। मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःशक्तियोंके तथा शरीरादि बाह्य शक्तियोंके उत्तम सहकार्य और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यकी विजय हो सकती है। इससे स्पष्ट होता है विजय प्राप्त होना अथवा न होना अपनी शक्तिपर ही निर्भर है। बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार जाग्रत होते हैं उनके ही परिणाम जय अथवा पराजय हैं। अर्थात् मनमें विजयी विचारोंके होनेसे विजय और हीन विचारोंके होनेसे पराजय होगी। इसका संबंध ऐसा है कि, मनके शुभाशुभ विचारोंके अनुसार शरीरसे शुभाशुभ कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम परमेश्वरीय नियमानुसार विजय अथवा पराजयमें मिलता है। इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहिये, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो। इस सूक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनको मनमें धारण करनेसे मनुष्यको निःसन्देह विजय होगी, ये विचार इस प्रकार हैं।

#

विजयी विचार

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहियें, हीन और क्षुद्र विचार कदापि मनमें आने नहीं देने चाहिये। इस सूक्तमें प्रारम्भसे अन्ततक विजयी विचार कहे हैं। इसलिये इस सूक्तके मननसे मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकते हैं और मनुष्यकी विजय निःसन्देह हो सकती है। ये विजयी विचार अब देखिये—

१ विह्वयेषु मम वर्चः अस्तु। (मं. १)
२ पृतनाः जयेम। (मं. १)

' युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे और हम युद्धोंमें शत्रुओंकी सेनाओंको पराजित करें । ' यह मनका निश्चय होना चाहिये । मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूंगा और विजय संपादन करूंगा ।

३ पृतनान् अप बाधामहे । (मं. १)

' इन शत्रुओंका हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे । ' अर्थात् किसी भी मार्गसे शत्रुको आनेसे रोकेंगे और आगे बढने नहीं देंगे । इस मंत्र भागसे अपनी युद्धविषयक तैयारी कैसी रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है । हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये । मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे । जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा । इस विजयके विषयमें व्यक्तिके लिये तथा और राष्ट्रके लिये तथा दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बडेके अनुसार शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेष ही रीतिसे करनी आवश्यक है । इस प्रकारकी पूर्व तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम् । (मं. १)

' चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें ' अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवशिष्ट न रहे । इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु । (मं. ३)

' मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानवाला होवे । ' हरएक मनुष्यके लिये अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बडा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है । जो प्रबल पुरुषार्थी होते हैं उनके लिये संपूर्ण जगत्‌के समान विशाल अंतरिक्ष होता है और आलसी तथा आत्मघातकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है । अपने अधिकारके अन्दर कितना अन्तरिक्ष है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है । मानो, यह एक अपनी परीक्षाकी उत्तम कसौटी ही है । पाठक इन पांचों वाक्योंकी परस्पर संगति देखेंगे, तो उनको विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है । इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रु दबा कर रखना और उसको उठने न देना, यह विजय लिये मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें ये मंत्रभ देखिये—

६ सपत्ना अप भवन्तु । (मं. १०)

७ दुरस्यवः नियताः अपाञ्चः यन्तु । (मं. २)

' वैरी दूर हों, तथा दुष्ट लोग नीच गतिसे नीचेकी ओ चले जावें । ' अर्थात् वे अपना सिर ऊपर न करें । तथा मं देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या वृजिना मा नो विदन्
(मं. ६

' निस्तेजता, अकीर्ति और द्वेष करने योग्य कुटिल हमारे पास न आवे ' अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना सिर ऊपर न कर सके । इ मंत्रभागोंमें व्यक्तिके अन्तर्गत और बाह्य तथा समाज अन्तर्गत और बाह्यके सब शत्रुओंको दूर करनेकी सूच मिलती है । सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको उचि है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे औ अपने अभ्युदयका मार्ग खुला करे ।

कामनाकी तृप्ति

अपनी विजय करना और शत्रुको दूर करना यह स अपनी कामनाकी तृप्तिके लिये ही है । मनुष्यके अन्तःकरण कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्णतामें ही जीवनर सार्थकता है ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनक निरर्थक समझता है । इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं कि प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मै कामाय वातः पवताम् । (मं. ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं. ४)

११ मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु । (मं. ४)

१२ देवा मयि द्रविणं, आशीः,
देवहूतिः च आ यजन्ताम् । (मं. ५)

१३ तिस्रो देवीः नः महि शर्म यच्छत । (मं. ७)

१४ नः प्रजायै मृड । (मं. ८)

' मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु अथवा प्राण चले । जो मेरे इष्ट मनोरथ हैं, वे परिपूर्ण हों । मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों । सब देव मुझे धन, आशीर्वाद और देव-

भक्ति दें। तीन देवियां अर्थात् मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता मुझे बडा सुख देवें। ईश्वर हमारी सब प्रजाको सुखी करे।' इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हरएक मनुष्यके अंदर न्यूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं। मनुष्यका सुख और दुःख इन कामनाओंकी न्यूनाधिक पूर्तिपर अवलंबित है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं शुभ ही रखे और उनमें कोई अशुभ वासना न रहे, ऐसी मनकी उच्च अवस्था बना दे। उन्नतिके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है। इस प्रकार भावनाकी शुद्धताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है—

ईश्वर उपासना

१५ इन्द्रं हवामहे। (मं ११)

'प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं। ईश्वर सब श्रेष्ठ गुणोंसे मण्डित है, इसलिये उसके गुणोंका मनन करनेसे मनुष्यके मनकी भावना शुद्ध होती है, कामना निर्दोष होती है और संकल्प शुद्ध होते हैं। यही बात निम्नलिखित मन्त्रभागोंमें कही है—

निष्पाप बनाना

१६ अहं कतमच्चन एनः मा नि गाम्। (मं ४)

'मैं किसी प्रकारका छोटा या बडा पाप न करूं अथवा पापके पास भी नहीं जाऊं।' मन्त्रमें कहा है कि 'पापके पास नहीं जाऊं' यह बडा भारी उच्च निश्चय है। जो मनुष्य ऐसा निश्चय करेगा वही उन्नतिके पथपर चल सकता है। स्वयं पाप करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। स्वयं पातक करनेकी अपेक्षा पापके पास जाना सहज है। मनुष्य प्रथम पापकर्मका वर्णन सुनता है, पश्चात् दूसरेका किया पापकर्म देखता है, तदनंतर स्वयं प्रवृत्त होता है। यह पापकी परंपरा है, अतः मन्त्रमें उपदेश किया है कि पापकर्मकी ओर ही मनुष्य न जावे। इस प्रकार निष्पाप होकर मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे कि—

ईश प्रार्थना

१७ इमं यज्ञं निहवे शृणोतु। (मं. ११)

'इस उपासना रूप स्तुति प्रार्थनामय यज्ञको ईश्वर सुने।' अर्थात् जो प्रार्थना मैं कर रहा हूं उसको परमेश्वर सुने। यहां पाठक स्मरण रखें कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो पूर्वोक्त प्रकार निष्पाप होकर शुद्धाचारी रहते हुए उन्नतिके मार्गसे जाना चाहता है। इस प्रकारके मनुष्यको देवताओंकी सहायता अवश्य मिलती है, इन्हींका अधिकार है कि वे देवताओंकी सहायता चाहें, इस समय इन उपासकोंका विश्वास किस प्रकारका होता है यह बात निम्नलिखित मन्त्रभागोंमें देखिये। हरएक मनुष्य यद्यपि यशका भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध और पवित्र बने हुए मनुष्यको ही वह सहायता मिलती है।

देवोंकी सहायता

प्रायः मनुष्य संकट समयमें देवताओंकी सहायता चाहता ही है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो निःसन्देह उसको वह सहायता मिल सकेगी। इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य हैं—

१८ जिहवे सर्वे देवा मम सन्तु। (मं. ३)
१९ इह विश्वेदेवाः मा अभिरक्षन्तु। (मं ४)
२० विश्वेदेवास इह मादयध्वम्। (मं. ६)
२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः अन्ये च देवाः निर्ऋथात् पान्तु। (मं ७)
२२ अस्मिन् हवे पुरुहूतः मघवा पुरुक्षु शर्म यच्छतु। (मं ८)
२३ अस्माकं मेदी भव। (मं ११)
२४ देवीः षट् उर्वीः नः उरु कृणोत। (मं ६)
२५ परेषां मन्युं प्रतिनुदन् नः विश्वतः परिपाहि। (मं २)

'युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों। सम्पूर्ण देव मेरी रक्षा करें। सब देव यहां मेरा आनन्द बढावें। धाता, विधाता, भुवनस्पति और अन्य देव दुःखसे हमारी रक्षा करें। इस यज्ञके समय बहुत प्रशंसित समर्थ प्रभु बहुत भोगयुक्त सुख हमें देवें। प्रभु हमारा सहायक हो। दिव्य छः विशाएं हमारे लिये बडा विस्तृत कार्यक्षेत्र बनावें। शत्रुओंको क्रोध दूर करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें।'

शत्रुओंको दूर करनेके विषयमें येही इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं। विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको भी अपने मनमें येही इच्छाएं धारण करनी चाहिये। पूर्वोक्त वाक्योंमेंसे अन्तिम वाक्यमें 'शत्रुओंका क्रोध दूर करनेकी प्रार्थना' है। यह प्रार्थना विशेष महत्वकी है। 'शत्रुका क्रोध दूर करके उसको सुहृत कर' यह आशय इस प्रार्थनामें है। शत्रुके नाश करनेकी अपेक्षा शत्रुके क्रोधादि दुष्टभाव दूर कर उसे भला आदमी बनाना अच्छा है। इस दृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है।

राजप्रबंध

अपने राजप्रबन्धकी उत्तमतासे विजय प्राप्त होती है और राज्यशासनकी अव्यवस्थासे हानि होती है, इसलिये शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहिये इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य मननपूर्वक देखने योग्य है—

२६ देवा चेतारं उग्रं अधिराजं सक्रत। (म १०)

' सब देव चेतना देनेवाले शूर वीर राजाको हमारे लिये बनायें ' अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि वह प्रजामें चेतना और नवजीवन सञ्चारित करे और स्वयं शूर वीर, प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज कम करनेवाला राजा कदापि राजगद्दीपर न आवे। विजय प्राप्त करनेके मार्गपर चलनेवालोंको इस उपदेशका महत्व सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बल बढाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुषेम। (म १)

२८ तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम। (म. ५)

२९ नः तन्वे प्रजायै पुष्यम्। (म. ७)

३० तनूभिः प्रजया मा हासिषम्। (म. ७)

३१ नः मा रीरिषः। (मं ८)

' अपने शरीरका बल बढायें और उनको पुष्ट करें। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम वीर बनें। हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान हीन और दीन न हों। हम दुर्बल न हों। ' इस प्रकार शारीरिक बल और पुष्टि बढानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूक्तमें हैं। इन सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करनेसे ध्यानमें यह आ सकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि मनमें धारण किया जाय और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण किया जाए तो विजयका मार्ग सबके लिये खुला और भयरहित हो सकता है।

विजयी स्त्रीका पराक्रम

कांड १, सूक्त २७

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – इन्द्राणी।)

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्यावपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥
विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती। विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

अर्थ— (अमूः पारे) वह पारमें (निर्जरायवः) झिल्लीसे निकली हुई (त्रि- सप्ताः) तीन गुना सात अर्थात् इक्कीस (पृदाकः) सर्पिणियोंके समान सेनाएं हैं। (तासां) उनकी (जरायुभिः) केंचुलियोंसे (वयं) हम (अघायोः परिपंथिनः) पापी दुष्टशत्रुकी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें (अपि व्ययामसि) ढक देते हैं ॥ १ ॥

(पिनाकं इव बिभ्रती) धनुष्य धारण करनेवाली और शत्रुको (कृन्तती) काटनेवाली वीरसेना (विषूची एतु) चारों ओरसे आगे बढे। जिससे (पुनर्भुवाः) फिर इकट्ठी की हुई शत्रुसेनाका (मनः विष्वक्) मन इधर उधर हो जावे और उससे (अघायवः) पापी शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ— केंचुलीसे बाहर आयी हुई सर्पिणीके समान चपल सेनाएं तीन गुने सात विभागोंमें विभक्त होकर युद्धके लिये सिद्ध हैं, उनकी हलचलोंसे हम सब पापी दुष्टोंकी आंखें बंद कर देते हैं ॥ १ ॥

शस्त्र धारण करनेवाली और शत्रुको काटनेवाली वीरोंकी सेना चारों दिशाओंमें आगे बढे, जिससे शत्रुसेनाका मन तितर बितर हो जावे और सब पापी शत्रु निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

न बह्वः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः । वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥
प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् । इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

अर्थ — (बह्वः न समशकन्) बहुत शत्रु भी उनके सामने ठहर नहीं सकते । फिर (अर्भकाः) जो बालक हैं वे (न अभि दाधृषुः) धैर्य ही नहीं कर सकते (वेणोः अद्गाः इव) बासके अंकुरोंके समान (अभितः) सब ओरसे (अघायवः) पापीलोक (असमृद्धाः) निर्धन होवें ॥ ३ ॥

हे (पादौ) दोनों पांवो ! (प्रेतं) आगे बढो, (प्र स्फुरतं) फुर्ती करो, (पृणतः गृहान् वहतं) सन्तोष देनेवाले घरोंके प्रति हमें पहुंचाओ । (अजीता) बिना जीती, (अमुषिता) बिना लूटी हुई और (प्रथमा) मुखिया बनी हुई (इन्द्राणी) महारानी (पुरः एतु) सबके आगे बढे ॥ ४ ॥

भावार्थ — ऐसी शूर वीराकी सेनाके सन्मुख बहुत शत्रु भी ठहर नहीं सकते फिर कमजोर बालक कैसे ठहर सकेंगे ? बांसके कोमल और अशक्त अंकुरके समान चारों ओरसे पापी शत्रु धनहीन होकर नाशको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

विजयी अपराजित और न लूटी गई वीर स्त्री महारानी मुखिया बनकर आगे बढे, इतर लोग उसके पीछे चले, हरएक वीरके पांव आगे बढें, शरीरमें फुर्ती बढे और सब लोग संतोष बढानेवालोंके घरोंतक पहुंच जांय ॥ ४ ॥

विजयी स्त्रीका पराक्रम

इन्द्राणी

' इन्द्र ' शब्द राजाका वाचक है जैसा नरेन्द्र (मनुष्योंका राजा), मृगेन्द्र (मृगोंका राजा), खगेन्द्र (पक्षियोंका राजा) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही वाचक है, और ' इन्द्राणी ' शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी रानी, महारानी, राज्ञी ' का वाचक है । यह इन्द्राणी सेनाकी प्रेरक देवी है यह बात तैत्तिरीय संहितामें कही है—

इन्द्राणी वै सेनायै देवता । (तै. सं. २।२।८।१)

' इन्द्राणी सैन्यकी देवता है । ' क्योंकि इसकी प्रेरणासे सैनिक अपना पराक्रम दिखाते और विजय प्राप्त करते हैं ।

वीर स्त्री

' इन्द्राणी अर्थात् रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेनाको प्रोत्साहन देती हुई आगे चले, हरएकके पांव आगे बढें, हरएकका मन उत्साहसे युक्त रहे, संतोष बढानेवाले सज्जनोंके घरोंमें ही लोग जांय । ' परंतु जो लोग सन्तोषको कम करनेवाले, उत्साहका नाश करनेवाले, और मनकी आशाका घात करनेवाले हों उनके पास कोई न जावे, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावोंसे मनुष्योंको निरुत्साहित ही करते हैं । यह चौथे मंत्रका भाव विचार करने योग्य है ।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियां भी ऐसी शूर और दक्ष होंगी, वह राष्ट्र सदा विजयी ही होगा इसमें क्या संदेह ? जिस देशमें स्त्रियां सेनाको चला सकेंगी, उस देशके पुरुष कितने शूर और कैसे वीर होंगे । क्या ऐसी वीर स्त्रियोंको कोई हीन मनवाला आदमी धमका सकता है और ऐसी शूर स्त्रियोंकी किसी स्थानपर कोई बेइज्जती कर सकता है । इसलिये आत्मसंमान रखनेकी इच्छा करनेवालोंको उचित है, कि वे स्वयं शूर बनें और अपनी स्त्रियोंको भी ऐसी शिक्षा दें कि वेभी शूरवीर बनकर अपने संमानकी रक्षा कर सकें ।

' हाथमें शस्त्र धारण करती हुई, शत्रुको काटती हुई आगे बढे, जिसका वेग देखकर शत्रुका मन उत्साहरहित होवे और शत्रु निर्धन अर्थात् परास्त हो जावें । ' यह द्वितीय मंत्रका भाव भी चतुर्थ मंत्रके साथ देखने योग्य है । क्योंकि यह मंत्र भी वीर स्त्रीका पराक्रम ही बता रहा है । यह सेनाका वर्णन करता हुआ भी वीर स्त्रीका वर्णन करता है । (मं. २)

वीरस्त्रियोंकी उपमा केंचुलीसे निकली हुई सर्पिणीसे इस सूक्तमें दी है । स्वभावतः सर्पिणी बडी तेज रहती ही है और अति फुर्तीसे शत्रुपर हमला करती है । परंतु जिस समय वह केंचुलीसे बाहर आती है उस समय अतितेजस्वी और अतिचपल रहती है क्योंकि इस समय वह नवजीवनसे युक्त होती

है। और स्त्री ऐसी ही होती है। स्त्री स्वभावतः चपल होती है, परंतु जिस समय कार्यवश राष्ट्रीय आपत्तिसे प्रेरित होकर, आत्मसन्मानकी रक्षाके लिये कोई वीरा स्त्री अपने अतगृहरूपी केचुलीसे बाहर आती है, उस समय उसकी तेजस्विताका वर्णन क्या करना है ? वह उस समय सचमुच सर्पिणीकी भांति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर वीरसेनाजनोंको प्रेरित करती है। उस समयका उत्साह और पुरुष ही कल्पनासे जान सकते हैं। 'उसके तेजसे शत्रुकी आंखें ही अंधी बन जाती हैं' और उसके सब शत्रु नि:सत्व हो जाते हैं। (मं १)

जहां ऐसी वीरांगनाएं समर्थ हैं उन लोगोंके सामने बडे बडे शत्रु भी ठहर नहीं सकते, फिर अल्पशक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है ? पासके अकुरोंके समान उनके शत्रु नष्टभ्रष्ट हो ही जाते हैं।' (मं. ३)

शत्रुवाचक शब्द

इस सूक्तमें शत्रुवाचक कुछ शब्द हैं उनका विचार यहां करना आवश्यक है—

१ अघायुः= आयु भर पाप कर्म करनेवाला।
२ परिपन्थिनः= बटमार, बुरे मार्गसे चलनेवाला।

पापीलोग ये हैं और इनके बुरे आचरणके कारण ही ये शत्रुत्व करने योग्य हैं।' असमृद्धा, अघायवः ' यह शब्द प्रयोग इस सूक्तमें दोवार आया है। ' पापी समृद्धिसे रहित होते हैं। ' यह इसका भाव है। पापसे कभी वृद्धि नहीं होती। पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है। यह भाव इसमें देखने योग्य है। जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा धनाढ्य बनना चाहते हैं उनको यह मत्रभाग देखना योग्य है। यह मत्र उपदेश दे रहा है कि ' पापी कभी उन्नत नहीं होगा, ' यदि किसी अवस्थामें वह धनवान् हो भी जाए तो वह उसका धन उसके नाशका ही हेतु बनगा। तात्पर्य, परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापी लोग अवश्य ही नाशको प्राप्त होंगे।

तीन गुना सात

सेनाके तीन गुणा सात विभाग हैं। रथयोधी, राजयोधी, अश्वयोधी, पदाती, दुर्गयोधी, जलयोधी तथा कूटयोधी ये सात प्रकारके सैनिक होते हैं। प्रत्येकमें अधिकारी, प्रत्यक्ष युद्धकारी और सहायक इन तीन गुणा सात सैनिक होते हैं।

निर्जरायु

' जरायु ' शब्द तिल्ली, जलौका वाचक है, परंतु यहां श्लेषायसे प्रयुक्त है। यहां इसका अर्थ (जरा+आयु) वृद्धावस्था अथवा जीर्णता किंवा थकावट, तथा आयुष्य (निः+जरा-आयु.) जो जीर्णता, थकावट, वृद्धावस्था अथवा आयुकी पर्वाह न करके लडते हैं, जो अपनी अवस्था-की तथा मुसबुल की पर्वाह न करते हुए अपने यशके लिये ही लडते रहते हैं उनको ' निर्जरायु ' अर्थात् ' जरा और आयुके विचारसे मुक्त ' कहते हैं। जीवितकी आशा छोड-कर लडनेवाले सैनिक।

इस सूक्तके मत्र वीरा स्त्री विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये मत्र विशेष मननके साथ पढने योग्य हैं। तथा इसमें कई शब्द श्लेष अर्थके बतानेवाले भी हैं जैसा कि उपर बताया है।

कर्म और विजय

कांड ७, सूक्त ५०

(ऋषि. - अंगिरा. । देवता - इन्द्र. ।)

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति। एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

अर्थ— (यथा अशनिः) जिस प्रकार विद्युत् (वृक्षं विश्वाहा अप्रति हन्ति) वृक्षका सर्वदा पूर्ण रीतिसे नाश करती है, (एव अहं अद्य अक्षैः कितवान्) वैसे मैं आज पासोंके साथ जुआरियोंको (अप्रति बध्यासं) पूर्ण रीतिसे मारूंगा ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार बिजलीसे वृक्षोंका नाश होता है, उस प्रकार मै पासोंके सहित जुआरियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् । समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥
ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत्कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥ ३ ॥
वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥ ४ ॥
अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् । अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥
उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

अर्थ— (तुराणां अतुराणां) त्वरा करनेवाली तथा मन्द किंवा सुस्त और (अवर्जुषीणां विशां) बुराईका वर्जन न करनेवाली प्रजाओंका (भगः विश्वतः समैतु) ऐश्वर्य सब ओरसे इकट्ठा होवे और वह (मम अन्तर्हस्तं कृतं) मेरे हस्तके आधीन होवे ॥ २ ॥

(स्ववसुं अग्निं नमोभिः ईडे) अपने निज धनसे युक्त प्रकाशक देवकी नमस्कारों द्वारा पूजा करता हूं। (इह प्रसक्तः नः कृतं विचयत्) यहां रहता हुआ यह देव हमारे किये कर्मको उसी प्रकार संग्रहित करे, जैसे (वाजयद्भिः रथैः इव प्रभरे) अन्नयुक्त रथोंसे स्थान भर देते हैं। पश्चात् मैं (मरुतां प्रदक्षिणं स्तोमं ऋध्यां) मरुतोंका श्रेष्ठ स्तोत्र सिद्ध करता हूं ॥ ३ ॥

(वयं त्वया युजा वृतं जयेम) हम तेरी सहायतासे युक्त होकर घेरनेवाले शत्रुको जीतें। (भरे भरे अस्माकं अंशं उद् अव) प्रत्येक युद्धमें हमारे कार्यभागकी उत्कृष्ट रक्षा कर। हे इन्द्र ! (अस्मभ्यं वरीयः सुगं कृधि) हमारे लिये वरिष्ठ स्थान सुखसे जाने योग्य कर। हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (शत्रूणां वृष्ण्या प्र रुज) शत्रुओंके बलोंको तोड ॥ ४ ॥

(सं लिखितं त्वा अजेषं) हरएक रीतिसे खुरचनेवाले तुझ शत्रुको मैं जीत लेता हूं। (उत संरुधं अजैषं) और रोकनेवाले तुझ जैसे शत्रुको भी मैं जीतता हूं। (यथा अविं वृकः मथत्) जैसे भेडको भेडिया मथता है (एवा ते कृतं मथ्नामि) ऐसे ये तेरे किये शत्रुभूत कर्मको मैं मथ डालता हूं ॥ ५ ॥

(उत अतिदीवा प्रहां जयति) और अत्यंत विजयेच्छु वीर प्रहार करनेवालेको भी जीत लेता है। (श्वघ्नी [स्व-घ्नी] काले कृतं इव विचिनोति) अपने धनका नाश करनेवाला मूढ समयपर अपने किये हुए कर्मको ही विशेष रीतिसे प्राप्त करता है। (यः देवकामः धनं न रुणद्धि) जो देवकी तृप्तिकी इच्छा करनेवाला धनको केवल अपने लिये ही रोक रखता है। (तं इत् रायः स्वधाभिः संसृजाति) उसीको सब धन अपनी धारक शक्तियोंसे उत्तम प्रकार संयुक्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— किसी कार्यको त्वरासे समाप्त करनेवाले, सुस्तीसे समाप्त करनेवाले और बुराइयोंको दूर न करनेवाले प्रजाजन होते हैं। उन सब प्रजाजनोंका धन एक स्थानपर जमा होवे और वह मेरे हाथमें रहे ॥ २ ॥

मैं ईश्वरकी भक्ति और उपासना करता हूं। यह देव हमारे कर्मोंका निरीक्षण करे और जिस प्रकार रथोंसे धन इकट्ठा करते हैं उस प्रकार हमारे सब सत्कर्मोंका फल इकट्ठा होवे। उसका उपभोग करते हुए हम उत्तम स्तोत्रोंका गायन करके आनन्दसे रहें ॥ ३ ॥

हम ईश्वरकी सहायतासे सब शत्रुको जीतें। ईश्वरकी कृपासे हरएक युद्धमें हमारे प्रयत्न सुरक्षित हों। हे देव ! हमारे शत्रुओंका बल कम करो और हमें वरिष्ठस्थान सुखसे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पीडा देनेवाले और मार्गमें रुकावट पैदा करनेवाले शत्रुको मैं जीतता हूं। जिस प्रकार भेडिया भेडको पराजित करता है, वैसे मैं शत्रुके किये उत्तमसे उत्तम प्रयत्नको बेकार बनाता हूं ॥ ५ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥
कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः । गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥
अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव । सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अर्थ—(दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम) दुर्गतिरूप कुमतिको गौओंसे पार करें। हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा प्रशंसित देव ! (विश्वे यवेन वा क्षुधं) और हम सब जौसे भूखको पार करें। (वयं राजसु प्रथमाः अरिष्टासः) हम सब राजाओंमें उत्कृष्ट होकर विनाशको न प्राप्त होते हुए (वृजनीभिः धनानि जयेम) निज शक्तियोंसे धनोंको जीतें ॥ ७ ॥

(कृतं मे दक्षिणे हस्ते) पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है और (मे सव्ये जयः आहितः) मेरे बायें हाथमें विजय है। अतः मैं (गोजित् अश्वजित्) गौओं और घोडोंका विजेता, (हिरण्यजित् धनंजयः भूयासं) सुवर्ण और धनका विजेता होऊं ॥ ८ ॥

हे (अक्षाः) ज्ञान विज्ञानो ! (क्षीरिणीं गां इव) दूधवाली गौके समान (फलवतीं द्युवं दत्त) फलवाली विजिगीषा हमें दो। (स्नाव्ना धनुः इव) जैसे तांतसे धनुष्य संयुक्त होता है वैसे (मा कृतस्य धारया सं नह्यत) मुझको कृतकर्मकी धारा प्रवाहसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— विजयेच्छु वीर घातक शत्रुको भी जीत लेता है। आत्मघात करनेवाला मूढ मनुष्य अपने कृत कर्मको ही भोगता है। जो मनुष्य देवकार्यके लिये अपना धन समर्पित करता है और ऐसे समयमें अपने पास रोक नहीं रखता, उसीको विशेष धन प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

दुर्गति और कुमतिको गौओंकी रक्षा करके हटा दें। इसी प्रकार जौसे भूखको हटा दें। हम राजाओंमें उत्कृष्ट राजा बनें और निजशक्तियोंसे यथेष्ट धन कमायें ॥ ७ ॥

मेरे दायें हाथमें पुरुषार्थ है और बायें हाथमें विजय है। इसलिये हम गौवें, घोडे, सुवर्ण और अन्य धन प्राप्त करें ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञान ये मेरी आंखें बनें और उनसे बहुत दूध देनेवाली गौके समान उत्तम फल देनेवाली विजयेच्छा हममें स्थिर रहे। जिस प्रकार तांतसे धनुष्यके दोनों कोने जुडे रहते हैं, उस प्रकार मेरा पुरुषार्थ मुझे फलके साथ बांध देवे ॥ ९ ॥

कर्म और विजय

पुरुषार्थ और विजय

इस सूक्तका सप्तम मंत्र हरएकको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है, उसका पाठ ऐसा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥ (मं. ८)

' पुरुषार्थ प्रयत्न मेरे दायें हाथमें है और विजय मेरे बायें हाथमें है। इससे मैं गौवें, घोडे, धन और सुवर्णको जीत कर प्राप्त करनेवाला होऊं। '

मनुष्यको यही विचार मनमें धारण करने चाहिये और उसको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि अपने प्रयत्नसे अपनी विजय चारों ओर होवे। अपनी विजय कहीं बाहरके प्रयत्नसे नहीं होनी है, वह अपने अंदरके बलसे ही प्राप्त होगी। इस लिये अपने अन्दर इतना बल बढे और अपनी विजय हो, इसके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है।

' कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ' ये चार प्रकारके मनुष्यके कर्म होते हैं, इनके लक्षण ये हैं—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
(ऐ. ब्रा. ७।१५)

' सो जाना कलि है, निद्राका त्याग द्वापर है, उठकर

तैयार होना त्रेता कहलाता है, कार्य करना कृत कहलाता है। ' अर्थात् सुस्तिसे कलियुग बनता है और पूर्ण पुरुषार्थसे कृत युग होता है और बीचकी अवस्थाएं द्वापर और त्रेता युगकी है। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार नाम पुरुषार्थके चार दर्जोंके सूचक हैं। जो पुरुष प्रयत्न करके अपने हाथमें कृत नामक पुरुषार्थ लेता है, वह दूसरे हाथसे निश्चय पूर्वक विजय प्राप्त कर लेता है। ' कृत ' पुरुषार्थ मानो एक बडे जलप्रवाहकी मजबूत धारा है, वह धारा निःसंदेह विजय पहुंचा देती है—

कृतस्य धारया म सं नशात्। (मं ९)

' कृत नाम श्रेष्ठ पुरुषार्थकी प्रवाह धारासे संयुक्त होकर उद्दिष्ट स्थानको मैं पहुंच जाऊं। ' कृतनामक पुरुषार्थका लक्षण क्या है ? कृतके साथ ' सत्य, अहिंसा, प्रबल पुरुषार्थ शक्ति, उद्यम, सरलता, धैर्य आदि सात्विक गुणोंका साहचर्य हमेशा रहता है। सत्ययुग कृतयुगको ही कहते हैं। सत्ययुगके मनुष्योंके जो गुण पुराणोंमें वर्णन किये हैं, वेही सात्विक शुभ गुण इस कृत नामक पुरुषार्थके साथ सदा रहते हैं, ऐसा यहां समझना चाहिये, तब कृत पुरुषार्थका महत्त्व पाठकोंके सन्मुख आसकता है।

' कलि ' यह कोई पुरुषार्थ नहीं है, यह शब्द पुरुषार्थहीनताका द्योतक है। जहां बिलकुल पुरुषार्थ नहीं है वहां कलि रहता है, आपसके झगडे, दुराचार, अधर्म, अनीति, मद्यपानादि व्यवहार सब इसके साथ रहता है। इससे मनुष्योंकी अधोगति होती है। इसलिये इससे मनुष्योंको बचना आवश्यक है। बीचके दो पुरुषार्थ इन दो स्थितियोंके बीचमें हैं।

जुआरीको दूर करो

अपने समाजमेंसे जुआरीको दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका पहिला ही मंत्र बडा बोधप्रद है, देखिये—

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ (मं. १)

' जैसे आकाशकी विद्युत् वृक्षका नाश करती है उस प्रकार मैं अपने समाजसे पासोंके साथ जुआरियोंको दूर करता हूं। ' समाजसे जुआरियोंको दूर करता हूं, अर्थात् समाजमें एक भी जुआरीको नहीं रहने दूंगा। समाजसे जुआरियोंको दूर करना ही समाजके जुआरियोंका वध है। वध कोई शरीरके नाशसे ही होता है और अन्य रीतिसे नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। समाजमें जबतक जुआरी रहेंगे, तबतक समाजमें पुरुषार्थका सामर्थ्य बढेगा नहीं, क्योंकि थोडे प्रयत्नसे ही धनी होनेका भाव जुएसे जनतामें बढता है। अतः समाज पुरुषार्थी होनेके लिये समाजमें जुआरी न रहें, ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

तीन प्रकारके लोग

समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं, ' तुर, अतुर और अवर्जुष ' अर्थात् त्वरासे काम करनेवाले, प्रत्येक कार्यमें अत्यंत शीघ्रता करनेवाले, जल्दी जल्दीसे कार्य करसे कार्यको बिगाडनेवाले जो होते हैं ये भी पुरुषार्थके लिये योग्य नहीं होते, क्योंकि वे शीघ्रतासे ही हाथमें लिये कामको बिगाड देते हैं। दूसरे ' अतुर ' अर्थात् शिथिल किंवा सुस्त, ये अपनी सुस्तीके कारण कार्यका बिगाड करते हैं, अतः ये पुरुषार्थके लिये निकम्मे होते हैं। तीसरे ' अवर्जुष ' अर्थात् वर्जन करने योग्य बातोंको भी दूर नहीं करते। ये लोग भी कभी पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति नहीं कर सकते। ये तीनों प्रकारके लोग सदा हीन अवस्थामें ही रहेंगे, इनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। इसलिये मंत्रमें कहा है कि—

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ (म. २)

' शीघ्रता करनेवाले, सुस्त तथा बुराइयोंको भी दूर न करनेवाले ये जो तीन प्रकारके लोग अपनी उन्नतिकी साधना नहीं करते, वे सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे। अतः उनके पास जानेवाला धन मेरे हाथमें रहनेके समान हो जावे, क्यों कि मैं पुरुषार्थ करता हूं। ' इसका आशय यह है, कि पूर्वोक्त तीन दोषोंवाले लोग ये सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे और विश्वके धनका जो भाग उनको प्राप्त होना था, वह उनका भाग पुरुषार्थी लोगोंके हस्तगत होगा। उदाहरणके लिये यह मान लीजिये कि जगत् में १००) रु० है और संपूर्ण जगत्में १० लोग ही हैं। उनमें पांच पुरुषार्थी हैं और पांच पूर्वोक्त तीन दोषोंसे युक्त हैं। ऐसा होनेसे उक्त धन पांच ही पुरुषार्थी लोगोंमें बांटा जायगा और पांच लोग दुर्भाग्यमें ही सडते रहेंगे। यह मंत्र इस दृष्टिसे पाठकोंको विचार करने योग्य है। एक ही ग्राममें कई लोग पुरुषार्थसे धन कमाते हैं और सुस्तीसे कई निर्धन अवस्थामें रहते हैं, इसका कारण इस मंत्रमें उत्तम रीतिसे कहा है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि प्रकाशक देवकी हम उपासना करते हैं और उससे पर्याप्त धन हमें मिल सकता है। चतुर्थ मन्त्रमें भी यही आशय स्पष्ट हुआ है—

वयं जयेम त्वया युजा। (मं. ४)

'हम तेरे (ईश्वरके) साथ रहनेसे विजय प्राप्त कर सकते है।' ईश्वरके साथ रहनेसे अर्थात् ईश्वरके भक्त होनेसे विजय प्राप्त होती है, यह विजय सच्ची विजय होती है। ईश्वरके सत्य भक्त होनेसे बडी शक्ति प्राप्त होती है। देखिये इस विषयमें पञ्चम मंत्रका कथन यह है—

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्। (मं. ५)

'सुरचनेवाले अर्थात् विविध प्रकारसे दुःख देनेवाले और रोकटोक करनेवाले तुझ जैसे शत्रुको मैं जीत लेता हूं।' अर्थात् ईश्वरभक्त होनेके कारण अब मुझे सत्य मार्गसे आगे बढनेके लिये कोई डर नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति निःसन्देह सिद्ध करूंगा। पुरुषार्थकी सिद्धता होनेके विषयमें एक नियम है। वह यह कि धार्मिक बुद्धिसे निर्दोष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला ही जीत लेता है, अन्तमें इसीकी विजय होती है। अधार्मिक को कुछ देरके लिये विजय हो भी जाए तो भी अन्तमें उसका नाश निश्चयसे होता है, इस विषयमें षष्ठ मन्त्रकी घोषणा विचार करने योग्य है—

उत प्रहामतिदीवा जयति।
कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले॥ (मं. ६)

'निःसन्देह यह बात है कि (अतिदीवा) अत्यंत विजिगीषु पुरुषार्थी मनुष्य (प्रहां जयति) प्रहार करनेवालेको जीतता है। और (श्व-घ्नी, स्वघ्नी) अपना आत्मघात करनेवाला मनुष्य (काले) समयमें अपने कृतकर्मका फल प्राप्त करता है।'

इस मंत्रमें दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं। उनका विचार करना अत्यंत आवश्यक है।

१ श्व-घ्नी=[स्व-घ्नी]- आत्मघात करनेवाला मनुष्य, जो मनुष्य अपने नाशके कारणभूत कुकर्म करता रहता है। जिससे उसकी अधोगति होती है ऐसे कुकर्म जो करता है वह आत्मघातकी है। आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति होती है इस विषयका वर्णन ईशोपनिषद्में भी (वा. यजु. ४०।३) में है।

२ अतिदीवा= इस शब्दमें 'दिव्' धातु 'विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति, मोद, गति' इत्यादि अर्थमें है, अतः 'दीवा' शब्दके अर्थ-' विजिगीषा अर्थात् जयकी इच्छा करनेवाला, व्यवहार उत्तम रीतिसे करनेवाला, स्तुति ईशभक्ति करनेवाला, आनंद बढानेवाले कार्य करनेवाला, प्रगति करनेवाला' इतने होते हैं। 'अतिदीवा' शब्दका अर्थ 'अत्यंत विजयका पुरुषार्थ करनेवाला' इत्यादि प्रकारका होता है। यह विजय करनेवाला अपने शत्रुको अवश्य ही जीत लेता है।

देवकाम मनुष्य

कई मनुष्य देवकामी होते हैं और कई असुरकामी होते हैं। देवोंके समान जिनकी इच्छा होती है, वे देवकामी मनुष्य और राक्षसोंके समान जिनकी कामना होती है, वे असुरकामी मनुष्य होते हैं। ये क्या करते हैं इस विषयका वर्णन इसी मंत्रमें किया है, वह अब देखिये। इसी मंत्रके शब्द निम्न प्रकार रखनेसे दोनोंके लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं—

देवकामः धनं न रुणद्धि।
[असुरकामः] धनं रुणद्धि। (मं. ६)

'देवकामनावाला मनुष्य अपने धनको अपने पास ही इकट्ठा करके नहीं रखता, परंतु आसुरीकामनावाला मनुष्य अपने पास धन इकट्ठा करके रखता है।' यह मंत्रभाग इन दोनोंके व्यवहारका स्वरूप अच्छी प्रकार बता रहा है। कंजूस लोग धन अपने पास संग्रह करते हैं, उसको बाहर व्यवहारमें जाने नहीं देते, अथवा अपने स्वार्थी भोगोंके लिये रखते हैं, अतः ये राक्षसी कामनाएं हैं। परंतु जो मनुष्य दैवी प्रवृत्तिके होते हैं, वे धन अपने पास कभी इकट्ठा करके नहीं रखते, अपितु अपने सर्वस्वको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पित करते हैं, अपनी संपूर्ण शक्तियां उसी कार्यमें लगाते हैं, इसलिये ये लोग उन्नतिके भागी होते हैं। यही बात इसी मंत्रके अंतमें कही है—

तं रायः स्वधाभिः संसृजति। (मं. ६)

'उसीको सब प्रकारके धन अपनी सब धारक शक्तियोंके साथ प्राप्त होते हैं।' जो अपना धन देवकार्यके लिये लगाता है वही विशेष धन प्राप्त कर सकता है और वही बडी विजय प्राप्त कर सकता है।

यहां देवकार्य कौनसा है, इसका भी विचार करना चाहिये। 'साधुजनोंका परित्राण करना, दुष्कर्म करनेवालोंका नाश करना और धर्ममर्यादाको स्थापना करना' यह त्रिविध कार्य देवकार्य कहलाता है। अर्थात् इसके विरुद्ध जो कार्य होगा वह राक्षस या आसुरकार्य समझना चाहिए। यह देवकार्य जो करता है और इस देवकार्यमें अपनी शक्ति और धन जो लगाता है वह देवकाम मनुष्य होता है। इसके विरुद्ध कार्य करनेवाला मनुष्य आसुरीकामनावाला कहलाता है और वह अवनतिको प्राप्त होता है।

गोरक्षा

सप्तम मंत्रमें गोरक्षाका महत्त्व वर्णित है। यदि दुर्गतिसे बचनेका कोई सच्चा साधन है तो वह एक मात्र गोरक्षा ही है, देखिये—

दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम। (मं. ७)

' दुरवस्थाकी जो बुद्धिहीन स्थिति है वह हम गौओंकी रक्षासे दूर करें। ' अर्थात् गौओंकी सहायतासे हम अपनी दुरवस्था हटा दें। देशमें उत्तम गोरक्षासे और विपुल दूध हरएकको प्राप्त होनेसे देशकी दुरवस्था निःसन्देह दूर हो सकती है। मनुष्यका सुधार करनेका यह एकमात्र उपाय है। इसी प्रकार—

विश्वे यवेन क्षुधं [तरेम]। (मं. ७)

' हम सब जौसे भूखको दूर करें। ' अर्थात जौ आदि धान्यका भक्षण करके ही हम अपनी भूखका शमन करें। यहां मांस आदि पदार्थोंका भूखकी निवृत्तिके लिये उल्लेख नहीं है, यह बात विशेष ध्यानमें धारण करने योग्य है। गौका दूध पीना और जौ, गेहूं, चावल आदि धान्यका सेवन करना, ये दो रीतियां हैं जिनसे मनुष्य उन्नत होता है और अत्यंत सुखी हो सकता है। अब अन्तिम मंत्रका उपदेश देखिये—

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त। (मं. ९)

' हे ज्ञान विज्ञानो ! फलवाली विजय हमें दो। ' यहां ' अक्ष ' शब्द है, यह शब्द कोशोंमें निम्नलिखित अर्थोंमें आया है– ' गाडीका मध्य दण्ड, आधार स्तंभ, रथ, गाडी, चक्र, तुलाका दण्ड, तोलनेका वजन (कर्ष), बिभीतक (भिलावा), रुद्राक्षका वृक्ष, रुद्राक्ष, इन्द्राक्ष, सर्प, गरुड, आत्मा, ज्ञान, सत्यज्ञान, विज्ञान, तारक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कानून, कानूनी कार्यवाही, विधिनियम '। हमारे मतसे यहांका ' अक्ष ' शब्द अन्तिम आठ या नौ अर्थोंको यहां व्यक्त कर रहा है और इसीलिये हमने इसका अर्थ ज्ञान विज्ञान ऐसा किया है।

द्यु और दीवाकी उत्पत्ति एक ही दिव् धातुसे होनेके कारण ' अतिदीवा ' शब्दके प्रसंगमें जो अर्थ बताया है वही ' द्युवं ' का यहां अर्थ है। ' विजिगीषा ' इसका यहां अर्थ अभिप्रेत है। ' ज्ञान विज्ञानसे हमें फलयुक्त विजय प्राप्त हो ' यह इस मंत्रभागका यहां आशय है। ज्ञान विज्ञानसे ही सुफल युक्त विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय ऐसी हो कि जैसी (क्षीरिणीं गां इव) सदा दूध देनेवाली गौ होती है। विजय प्राप्त करनेसे उसका मधुर फल भविष्यमें मिलता रहे और पुनः हमारा अधःपात कभी न होवे, यह आशय यहां है।

(कृतस्य धारयामा संनह्यत्। म. ८) अपने किये हुऐ पुरुषार्थके धाराप्रवाहसे में उत्कर्षको सरलतया प्राप्त होऊं। बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो। जो ज्ञान विज्ञानयुक्त होकर इस प्रकार परमपुरुषार्थ करेंगे, वेही निःसन्देह यशके भागी होंगे।

पुरुषार्थ विजय प्राप्त करनेवाले इस सूक्तका इस प्रकार विचार करें और बोध प्राप्त करें।

वर्चःप्राप्ति सूक्त

कांड ३, सूक्त २२

(ऋषिः – वसिष्ठः। देवता – वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः।)

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

अर्थ— (यं अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मतवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— जो मूल प्रकृतिके अंदर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥ १ ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु । देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥
यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः । यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥
यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते । तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥
हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि । तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवे। (ते विश्व-धायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा सं बभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा उत्पन्न हुआ है और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे, देवोने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने ! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य, हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी [मेघ] का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विनौ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्विदेवो ! (तावत् वर्चः मे आधत्तां) उतना तेज मेरे अन्दर स्थापित कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् (चतस्रः प्रदिशः) जितनी दूर चारों दिशायें हैं, (यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि जाती है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (सं ऐतु) इकट्ठा होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुषदां मृगाणां) जैसे अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् बभूव) हाथी बडा प्रतिष्ठा-वान् है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभिषिञ्चामि) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ— मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवे, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अदर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जल पर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

हे उत्पन्न हुए संसारको जाननेवाले देव ! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसे हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

वर्चःप्राप्ति सूक्त

शाकभोजनसे बल बढाना

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंध का उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तीवर्चसं। म १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श नहीं लिया। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है।

बल प्राप्तिकी रीति

'अदिति' प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको 'अदिति' अर्थात् 'अ-दीन' कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य, चन्द्रादि देव हैं, इसीलिये प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आये हैं। इसलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि 'इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो। (म १)' सचमुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। वह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका संबंध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय मंत्र कहता है कि '(मित्र) सूर्य, (वरुण,) जलदेव, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु मेरे विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें' (म २)। यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे ? इसलिये बल बढाने-वालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता

कांड ३, सूक्त १९

(ऋषि. - वसिष्ठ। देवता - विश्वेदेवा, चन्द्रमा, इन्द्र.।)

संशि॑तं म इ॒दं ब्रह्म॒ संशि॑तं वी॒र्यं१॒॑ बल॑म्। संशि॑तं क्ष॒त्रम॒जर॑मस्तु जि॒ष्णुर्येषा॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥ १ ॥
समहमे॑षां रा॒ष्ट्रं स्या॑मि॒ समोजो॑ वी॒र्यं१॒॑ बल॑म्। वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरा यह ज्ञान तेज युक्त है और मेरा यह (वीर्यं बलं संशितं) वीर्य और बल तेजस्वी है। (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे ॥ १ ॥

(अहं एषां राष्ट्रं सस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी बनाता हूं, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनता हूं। और (अनेन हविषा) इस हवनसे (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी बढाता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत । इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥
उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥
प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

अर्थ – (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यात्) जो हमारे धनवान् और विद्वान् पर सेनासे चढाई करें। वे शत्रु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे गिरें, (अधरे भवन्तु) अवनत हों, (अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका क्षय करता हूं, और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥ ३ ॥

(येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका पुरोहित मैं हूं उनके (परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण अस्त्र हों ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूं, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढाता हूं, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा जयशाली होवे, (विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! उनके (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उत्तेजित हों (जयतां वीराणां घोषः उत् एतु) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे। (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघशब्दका घोष (पृथक् उत् ईरताम्) अलग अलग ऊपर उठे। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत् देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चलें ॥ ६ ॥

हे (नरः) लोगो ! (प्र इत) चलो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्महारे बाहु शौर्यसे युक्त हों। हे (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाण वाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः उग्रबाहवः) उग्र आयुधवालो और बलयुक्त भुजावालो ! (अ-बल-धन्वनः अबलान् हत) निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो शत्रु हमारे धनिकोंपर तथा हमारे ज्ञानियोंपर सैन्यके साथ हमला करते हैं वे अधोगतिको प्राप्त हों। क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उसीसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रके शस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम वीर उत्पन्न करके बढाता हूं, इनके शौर्यको कभी क्षीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं। सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंका जयजयकारका शब्द आकाशमें भर जावे। झंडे उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रास्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥

अर्थ — हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू (अवसृष्टा परापत) छोडा हुआ दूर जा और (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीत, (प्र पद्यस्व) आगे बढ, (एषां वरं वरं जहि) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे किसीको भी मत छोड ॥ ८ ॥

भावार्थ— ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोडा जाता है, तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है। हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनको ऐसा कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ण होते हैं। उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है। पूर्णहित करनेवालेका नाम पुरोहित है। यजमान का पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये। जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यजमान है और सब ब्राह्मणजाति उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है। इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है। ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; इस कर्तव्यका इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है, राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जान कर उसको निभायें।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है। इस दृष्टिसे भी इस सूक्त का मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये। अब सूक्तका आशय देखिये —

ब्राह्मतेजकी ज्योति

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्वका और अत्यंत आवश्यक है। इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है—

मे इदं ब्रह्म संशितम्। (मं १)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि। (मं १)
उन्नयामि स्वान् अहम्। (मं ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (मं ८)
जय अमित्रान्० (मं. ८)

' मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका ज्ञानतेज चमकता है। ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूं। और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं। ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो। '

ये मंत्र भाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं। ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है। जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं। ज्ञान न होते हुए अभ्युदयका होना अशक्य है। यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण है तो वह एकमात्र अज्ञान ही है। अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है। इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण हों उन सबका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञानसंपन्न करें। क्षत्रियों वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको

जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करनी चाहिये। यह उपाय योजनाका कार्य ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना चाहिए, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, अपने शस्त्रास्त्र उनसे भी अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करने चाहिए, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करने चाहिए इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (मं. ८)

'ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें।' इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने शस्त्रोंके अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जानकर और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जायगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपनी जीत निश्चयसे होगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा

'जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, वीर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो।' (मं १)

'जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, *वीर्य और बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल* घटाता हूं। (मं. २)

'जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूं।' (मं. ३)

'जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं।' (मं ४)

'इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं।' (मं. ५)

ये मंत्र भाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वेही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पडित' पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति

षष्ठ, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इस प्रकार किया है—

'वीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपनी विजय प्राप्त करें।' (मं. ६)

'वीरो! आगे बढो, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मार डालो।' (मं. ७)

'*ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें,* ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तुम पराभव करो।' (मं. ८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्वकी युद्धनीति कही है, वे शब्द देखने योग्य हैं—

(१) जह्येषां वरं वरं,
(२) माऽमीषां मोचि कश्चन ॥ (मं. ८)

'इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे।' ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्वके हैं। शत्रुसेनाके पथकके जो संचालक और प्रमुख वीर हों, प्रथम उनका वध करना चाहिये। प्रमुख

संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे। ऐसी अवस्थामें शत्रुकी सेना बडी आसानीसे पराभूत हो जाएगी। यह युद्धनीति अत्यंत मनन करने योग्य है।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुन कर मारनेमें तत्पर हों। जब इन वीरोंके वेधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी।



तेजस्विताके साथ अभ्युदय

कांड ३, सूक्त २०

(ऋषिः – वसिष्ठः। देवता – अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः।)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥
प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः। प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥
सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्। ॥ ४ ॥

अर्थ– हे अग्ने! (अयं ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋतुसे संबंधित उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है। (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ (अधा नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढा ॥ १ ॥)

हे अग्ने! (इह नः अच्छ वद) यहां हमसे अच्छी तरह बोल और (प्रत्यङ् नः सुमनाः भव) हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन्! (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्यों कि (त्वं नः धनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अर्यमा नः प्रयच्छतु) अर्यमा हमें धन देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें धन देवे। (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवे। (उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको (अवसे गीर्भिः हवामहे) अपनी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ– हे अग्ने! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है। अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो, हे प्रजाओंके पालक! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवियां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

*

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥
इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥
अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥
वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥
दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् । प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि । आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (त्वं अग्निभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायू) दोनों इन्द्र और वायु (सु-हवौ) उत्तम बुलाने योग्य हैं इसलिये उनको (इह हवामहे) यहां बुलाते हैं । (यथा नः सर्वः इतः जनः) जिससे हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमनाः असत्) संगतिमें उत्तम मनवाले होवें (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं । (प्रजानन्) जाननेवाला (अदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवाले-को निश्चयपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे । (च नः सर्ववीरं रयिं नियच्छ) और हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

(उर्वीः पञ्च प्रदिशः) ये बडी पांचों दिशाएं (यथाबलं मे दुह्रां) यथाशक्ति मुझे रस देवें । (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकूतीः प्रापेयम्) सब संकल्पोंको पूर्ण कर सकूं ॥ ९ ॥

(गोसनिं वाचं उदेयं) इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाली वाणी मैं बोलूं । (वर्चसा मां अभ्युदिहि) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर । (वायुः सर्वतः आ रुन्धाम्) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे । (त्वष्टा मे पोषं दधातु) त्वष्टा मेरी सब पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढा । हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देनेके लिये पर्याप्त धन दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र, वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठनसे संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छावाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, वैसे ये सब भुवन अन्नसे संघटित हुए हैं । यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीर भावोंसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

ये बडी विस्तीर्ण पांच ही दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करें ॥ ९ ॥

प्रसन्नताको बढानेवाली वाणी मैं बोलूं । तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त करा । चारों ओरसे मुझे प्राण उत्सा-हित करे और जगत्रचयिता देव मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

तेजस्विताके साथ अभ्युदय

अग्निका आदर्श

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदयको सिद्ध करनेके मार्गका उत्तम उपदेश दिया है। इस सूक्तका ध्येय वाक्य यह है —

वर्चसा मा अभ्युविहि। (मं. १०)

'तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर।' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये। यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार बताये हैं। उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

'यज्ञमें जो अग्नि होती है, वह लकडियोंसे उत्पन्न की जाती है, लकडियां स्वयंप्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उत्पन्न होनेवाली अग्नि (जातः अरोचथाः। मं. १) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होती है। पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखी जाती है, वहां वह (रोह। मं. १) स्वयं बढती है और दूसरोंको भी प्रकाशित करती है। इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (गीर्भिः हवामहे। मं. ४) मंत्र पाठ करते हैं और हवन करते हैं। इस समय इस अग्निके साथ (अग्निः अग्निभिः। मं. ५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नियां प्रज्वलित होती हैं और इससे (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। मं. ५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है। यज्ञमें सब लोग (जनाः सगर्त्याः सुमनाः। मं. ६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं। तथा (प्रसवे संयमुविम। मं. ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं।'

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निको चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसे समर्थ होती है, यह बात बताई है। यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है। 'यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जहां उत्पन्न होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढने का यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है, अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करनी चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहांसे आया हूं और मुझे कहां पहुंचना है' इसका विचार करना सुगम हो जाता है। जहां कहीं भी उत्पत्ति हुई हो वहांसे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(इह अच्छा वद) यहां सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यङ् सुमनाः भव) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे बर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (प्रयच्छ) दान कर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है।

सबसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके बिना मनुष्यका उद्धार होना असंभव है, तत्पश्चात् (सूनृता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्यके पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नती असंभव है। इसके नंतर (अर्य+मन् =आर्य+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् (बृहस्पतिः) ज्ञानी और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिलतक पहुंचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा भद्रः) राजाकी छत्रछायामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो तो सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा असंभव है। इसके

साथ साथ (सोम आदित्य सूर्य) वनस्पतियों और सबका आदान करनेवाला सूर्यप्रकाश व बल और आरोग्य वर्धक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (विष्णुः) सर्वव्यापक देवताकी है जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है। जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएं मिलती हैं और इनकी सहायता लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहीं पहुंचता है।

सम्भूय समुत्थान

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है। (वाजस्य नु प्रसवे समभूविम। (म ८) 'बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं।' सम्भूयसमुत्थानके बिना शक्ति नहीं होती इसलिये सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है। (सर्वो जन संगत्यां सुमनाः असत्। म ६) 'जब सब मनुष्य सहकारिता करने लगें उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें।' ऐसा न करेंगे तो संघशक्ति बढ नहीं सकती। यह उत्तम सौमनस्यका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये (ब्रह्म यज्ञ च वर्धय। म ५) ज्ञान और आत्मसमर्पणका भाव बढाओ। संघशक्तिके लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होनी है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् सांघिक उन्नतिके निर्देश दिये हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति होनेपर ही पूर्ण उन्नति हो सकती है।

'वाजस्य प्रसवे संबभूविम' (म ८) यह मंत्र बहुत बुद्धिसे मनन करने योग्य है। यहां 'वाज' शब्दके अर्थ देखिये- 'युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गति, वाणीका बल' ये अर्थोंके प्रकरणमें इस मंत्रभागका अर्थ इस प्रकार होता है- 'हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगठन करते हैं, अन्न, जल, खाद्य, पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं, अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अर्थात् अपने मतका प्रभाव बनानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे, तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं।'

उन्नतिके लिये कंजूसीका भाव घातक है इसलिये कहा है कि (अ-दित्सन्त दापयतु। म ८) 'कंजूसको भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर झुकाओ,' क्योंकि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे बिगडती है। अपने पास धन तो होना चाहिये परंतु वह धन (सर्ववीरं रयिं नियच्छ। म ८) 'संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ हो।' अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ धन कमानेका उपदेश यहां है।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि 'मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण होजांय। (मं १) इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण होजाते हैं।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धिता होना असंभव है। इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयपर बडा बल दिया गया है। सूक्तके प्रारंभसे यही विषय है-

'अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (म. १); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना, (म २); ज्ञान और त्यागभाव बढाना, (म. ५), प्राप्त धन परोपकारमें लगाना, (म ५), सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करनेकी ओर प्रवृत्त करना, (म. ६), सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना, (म.८), अपने अंदर जो संकुचित विचार के हों उनको भी उदार बनाना, (म. ८), इस पूर्व तैयारीके पश्चात् ही सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता संभव है।' संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायकशक्ति उत्पन्न होनी चाहिये। तब संकल्प सिद्ध होंगे। इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जांय। इसके नंतर- 'सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विताके साथ आभ्युदयको प्राप्त होता है। (म १०)'

इस दशम मंत्रमें 'गोसनिं वाचं उदेयं' यह वाक्य है। 'गो' का अर्थ है- 'इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी।' 'इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता,

प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं ' ये अर्थ इससे व्यक्त होता है। आगे ' तेजस्विताके साथ अभ्युदय ' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह ' प्रसन्नता बढानेवाली वाणीसे बोलना ' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें। इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है। पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं। अधिक विस्तार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थान पर दिये ही हैं, इसलिये यहां अधिक लेख बढानेकी आवश्यक नहीं है। अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें। वेदकी यह एक अपूर्व शैली है।

तेजस्विताकी प्राप्ति

कांड ६, सूक्त ३८

(ऋषिः - अथर्वा वर्चस्कामः । देवता - त्विषिः, बृहस्पतिः)

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ २ ॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ ३ ॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ ४ ॥

अर्थ — (या त्विषिः) जो तेज (सिंहे, व्याघ्रे, उत पृदाकौ) सिंह, बाघ, और सांपमें है और (या अग्नौ, ब्राह्मणे, सूर्ये) जो तेज अग्नि, ब्राह्मण, और सूर्यमें है, (या सुभगा देवी इन्द्रं जजान) जो भाग्ययुक्त देवी तेज इन्द्रको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है (वर्चसा संविदाना सा नः एतु) अन्न और बलसे युक्त होकर वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(या त्विषिः) जो तेज (हस्तिनि द्वीपिनि) हाथी और बाघमें है (या हिरण्ये, अप्सु, गोषु, पुरुषेषु) जो तेज सोना, जल, गौवें और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्ययुक्त तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

जो तेज (रथे अक्षेषु ऋषभस्य वाजे) रथ, अक्ष, और बैलके बलमें है और (वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे) वायु पर्जन्य और वरुणके सामर्थ्यमें है और जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

जो तेज (राजन्ये आयतायां दुन्दुभौ) क्षत्रियमें और खिंची हुई दुन्दुभीमें होता है, और (अश्वस्य वाजे, पुरुषस्य मायौ) घोडेके बलमें और मनुष्यके चित्तमें जो बल होता है, जिससे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

तेजस्विताकी प्राप्ति

तेजके स्थान

इस सूक्तमें तेज कहां कहां रहता है, इसका उत्तम वर्णन है। मनुष्यको इन्हें गुरु बनाना चाहिये और इनसे तेजका पाठ सीखना चाहिये, देखिये—

१ सिंह- सिंहमें तेज है इसीलिये उसको वनराज कहते हैं। सिंहके सामने उसकी उग्रता देखकर साधारण मनुष्य नहीं ठहर सकता।

२ व्याघ्र- बाघ भी बडा तेजस्वी होता है, उसकी उग्रता प्रसिद्ध है।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको ' नरसिंह, नरव्याघ्र ' कहते हैं। क्योंकि ये पशु अन्य पशुओंसे बडे तेजस्वी होते हैं।

३ पृदाकु- सांप भी बडा तेज पुञ्ज होता है, चपल और उग्र होता है।

४ अग्नि- अग्निका तेज, उष्णत्व और प्रकाश सब जानते हैं।

५ ब्राह्मण- ब्राह्मणमें ज्ञान और विज्ञानका बल रहता है।

६ सूर्य- सूर्य तो सब तेजका केन्द्र है ही। इसके समान कोई तेजस्वी पदार्थ नहीं है।

७ हस्ती- हाथीमें गभीरताका तेज होता है, उसकी शोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी शक्ति भी बडी होती है।

८ द्वीपी- यह नाम तरक्षु या व्याघ्रका है यह बडा उग्र और तेजस्वी होता है।

९ हिरण्य- सोनेका तेज सब जानते हैं।

१० आपः- जल भी तेजस्वी होता है, ' उस मनुष्यमें बिलकुल भी पानी नहीं है, ' ऐसा भाषाका भी व्यवहार होता है। जलमें तेज होनेके कारण जीवनके लिये भी यह शब्द प्रयुक्त होता है।

११ गौ- गायमें भी तेज है। पाठक बैलका सांघिक्य और गायकी चपलताका विचार करेंगे तो उनको गायके तेजका पता लग जायगा।

१२ पुरुष- मनुष्यमें भी तेज होता है।

१३ रथ, अक्ष, वृषभ- इनके तेजका अनुभव सबको है। मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ होता है उसको ' नरर्षभ ' अर्थात् ' मनुष्योंमें बैल ' ऐसा कहते हैं। बैल बडा बलवान् और तेजस्वी होता है।

१४ वायु, पर्जन्य- यद्यपि वायु अदृश्य है तथापि वह प्राणके द्वारा शरीरमें तेज स्थापित करता है, प्राणके बिना मनुष्य निस्तेज बनता है। पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवन देता है।

१५ क्षत्रिय- क्षत्रियमें अन्य मनुष्योंसे उग्रता और तेज होता है इसी कारण क्षत्रिय राज्यका शासन कर सकता है।

१६ दुन्दुभी, अश्व,- ढोलके बजते ही मनुष्यमें बडा उत्साह बढता है और घोडा भी बडा प्रभावशाली होता है।

विचार करने पर पता लग जायगा कि इनमें अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंकी कल्पनाके लिये देखिये सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि इनमें तेज है, परंतु वह परस्पर भिन्न है। हरएक पदार्थके तेजमें भिन्नता है। बाघका तेज और गौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको विचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये।

अग्निमें तेज है, उसकी गति उच्च दिशाकी ओर होती है वह स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाशित करता है, वह सदा उग्र अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज बढाना चाहिये। अर्थात् मनुष्य तेजस्वी बने, उच्च अवस्थाकी ओर अपनी प्रगति करे, स्वयं कष्ट सहन करके दूसरोंको प्रकाशित करे और सदा उग्र बना रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य ले सकता है। उसी प्रकार सब अन्य तेजोंके विषयमें जानना चाहिये।

इस जगत्में हरएक पदार्थ मनुष्यको बोध देनेके लिये तैयार है, परंतु मनुष्य ही बोध लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। बोध लेनेकी दृष्टिसे यह सूक्त बडा महत्त्वपूर्ण है।



अभ्युदयकी दिशा

कांड ३, सूक्त २७

(ऋषि: - अथर्वा । देवता - अग्न्यादय: ।)

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

अर्थ — (प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ-सितः रक्षिता) बंधनरहित रक्षक और (आदित्याः इषवः) प्रकाशरूप शस्त्रवाला है। (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियोंको (नमः) मेरा नमन है। उन (रक्षितृभ्यः नमः) बंधनरहित संरक्षकोंके लिये हमारा आदर है। उन (इषुभ्यः नमः) प्रकाशके शस्त्रोंके सामने हमारी नम्रता रहे। (यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आस्तिकोंसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टसे (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जम्भे) न्यायके जबडेमें (दध्मः) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ — प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिका सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इसलिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वृद्धि हो रही है, उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए। इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा। उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वारा ही ज्ञात हो सकता है, इसलिये हम सब लोग ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके पास चलें और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करें। इस उदयकी दिशाका (अ-सित) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवाला ही रक्षक है। ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षणके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रताके बिना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (आदित्याः) प्रकाशके किरण हैं। प्रकाशके साथ ही स्वातंत्र्य रहता है। विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होता है। प्रकाश जिस प्रकार अंधारका निवारण करता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसे ही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसन्मान आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसे ही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंधनिवारक प्रकाशमय शक्तियोंका ही हम आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात् जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देनेका काम हम अपने हाथमें नहीं लेना चाहते, परंतु हे तेजस्वी स्वामियो! और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य हो आप ही उसको दीजिए। समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सच्चे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, अपितु उस अपराधीको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पित करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंका ही सदा आदर करें। अर्थात् हरएक मनुष्य सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥
प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

अर्थ— (दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका (इंद्रः अधिपतिः) शत्रु निवारक शूर इंद्र स्वामी है, (तिरश्चि-राजी रक्षिता) वह मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला और संरक्षक है (पितरः इषवः) पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां उसके शस्त्र हैं । हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजा निर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका आदर करते हैं । जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको, हम सब स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ २ ॥

(प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशाका (वरुणः अधिपतिः) वर अर्थात श्रेष्ठ अधिपति है (पृद्-आ-कुः रक्षिता) वह स्पर्धामें उत्साह धारण करनेवाला और संरक्षक है (अन्नं इषवः) अन्न उसके इषु हैं । उन श्रेष्ठ अधिपति-योंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है । जो सबके साथ कलह करता है इसलिये सब भद्र पुरुष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है । दक्षता, चातुर्य, कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है । अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है । शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लंघन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं । इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है । अपनी उन्नतिको सिद्ध करनेके लिये (इन्-द्र) शत्रुओंके विदारण करनेकी आवश्यकता होती है । शत्रुका पराजय करनेपर ही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है । शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है । इसलिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका दमन करनेके उपायका अवलंबन करना मेरे लिये आवश्यक है । समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है । कोई भी सरदार अपनी मर्यादाका उल्लंघन करके अत्याचार न करे । मैं भी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण न करूं । समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है । सुप्रजानिर्माणसे समाज अमर रह सकता है । इसलिये हरएक पुरुषको अपने अंदर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए । तात्पर्य यह कि उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते हैं वहीं दाक्षिण्यका व्यवहार होता है । इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूंगा । जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्याया-लयमें हम सब पहुंचाते हैं । वेही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें । हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिको उत्तम प्रकारसे सिद्ध करे ॥ २ ॥

पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें आकर लुप्त होती हैं और जगत्को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं । पूर्व दिशा द्वारा प्रवृत्तिरूप

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—(उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शांत अधिपति है (स्व-जः रक्षिता) वह स्वयं सिद्ध और रक्षक है (अशनिः इषवः) विद्युत्तेज उसके इषु हैं । उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है । जो सबसे द्वेष करता है और जिससे सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें हम धर देते हैं ॥ ४ ॥

(ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) प्रवेशकर्ता अधिपति है (कल्माष-कर्मास-ग्रीवः रक्षिता) वह कर्मकर्ता और संरक्षक है (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां उसकी इषु हैं । इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है । इ० ॥ ५ ॥

पुरुषार्थकी सूचना दी गई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम और आरामका मुख्य साधन यही अन्न है । श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंका सत्कार सबको करना उचित है । तथा अन्नको और सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है । जो सबके मार्गोंमें विघ्न डालता है इसलिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहता उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है । समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसार ही अपना सब बर्ताव करें और किसीको कष्ट न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है । हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये । इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोडकर सदा सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका संरक्षण होता है । व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं । इसलिये मैं इन गुणोंको धारण करूं और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूं । शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षक ही सदा सन्मान करने योग्य हैं । साथ ही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है । जो सबकी हानी करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे । लोग ही स्वयं उसको दंड न देवें । अधिपति ही निष्पक्षपातकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवे । समाजकी उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारका स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है । चपलता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं । उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं । क्योंकि कर्मसे ही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीको स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं । यहां औषधि वनस्पतियां दोष निवारण द्वारा सहाय्य करती हैं । जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं । उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए । इ० ॥ ५ ॥

*

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अर्थ— (ऊर्ध्वा-दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) वह पवित्र और संरक्षक है (वर्षं इषवः) अमृत जल उसके इषु हैं। आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सन्मान करना योग्य है। शुद्ध अमृत जलका ही सबको आदर करना चाहिये। ह० । ॥ ६ ॥

भावार्थ— ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुष ही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गपर चलनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलके रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करूं और दूसरोंका मार्ग भी यथाशक्ति सुगम करूं। मैं सदा ही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूं। ह० ॥ ६ ॥

अभ्युदयकी दिशा

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान

उन्नतिके छः केन्द्र

इस 'सूक्तके' छः मन्त्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये गए हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रहीं हैं। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें। इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है। जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए। क्योंकि 'यह पूर्णसृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वारा ही उदय को प्राप्त होती है। और उस पूर्ण ईश्वरको साक्षित ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है।' इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओं द्वारा अपनी उन्नतिके छः केंद्रोंके संबंधमें उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक यहां देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते हैं—

दिशा कोष्टक (१) [अथर्व० ३।२७।१-६]

दिशा	अधिपति	रक्षिता	इषव
प्राची	अग्नि	असित	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

इस सूक्तके मन्त्रोंको देखनसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवा स्तेषां वो अग्निरिषव । ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो व स्वाहा ॥ १ ॥ येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां व काम इषव । ते नो० ॥ २ ॥ येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषव । ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषव ते नो० ॥ ४ ॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधी रिषव । ते नो० ॥ ५ ॥ येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषव । ते नो० ॥ ६ ॥ (अथर्व ३।२६।१-६)

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें वे हम सबको (अधिब्रूत) उपदेश करें उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निम्न लिखित कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व० ३।२६।१-६]

दिशा	देवा	इषव
प्राची	हेतय	अग्नि
दक्षिणा	अविष्यव	काम
प्रतीची	वैराजाः	आप
उदीची	प्रविध्यन्त	वात
ध्रुवा	निलिंपा	ओषधी
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पति

पहिले कोष्टकको इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें 'प्राची और ऊर्ध्वा' के 'अग्नि और बृहस्पति' अधिपति हैं वेही यहां 'इषु' बने हैं। ध्रुवा दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें 'वीरुध' हैं और यहां 'ओषधि' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। 'प्रतीची' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें 'अन्न और आप' है। खानपानका परस्पर निकट संबंध है। 'दक्षिण' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें 'पितरः और काम' हैं। कामके उपभोगसे ही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। 'उदीची' दिशाके इषु 'वात और अशनि' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल प्राची और ऊर्ध्वा दिशाओंके इषु बदले हैं, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्ववेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिये—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतर साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतु क्षत्र द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूप साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराज
सामैकविंश स्तोम शरदृतुः फल द्रविणम् ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम्। १४ ॥ (यजु अ १०)

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविण) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु० १०।१०-१४]

दिश	रक्षक छंद	साम	स्तोम	ऋतु	द्रविण धन
प्राची	गायत्री	रथंतर	त्रिवृत्	वसन्त	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्म	क्षत्र
प्रतीची	जगती	वैरूप	सप्तदश	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराज	एकविंश	शरद्	फल
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्ति	शाक्वररैवत	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	हेमन्तः शिशिर	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विश) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम लाभ आदि हैं। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रधान, लाभ और वीर्य तेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं। उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंने यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फल प्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि।
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि॥
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ॥
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि ॥
दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्० ॥ ८ ॥
(अथर्व ४।१४)

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका अब स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ अथर्व. (४।१४।७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिण पार्श्व	दाहिना बगल
प्रतीची	भसद्	गुप्त भाग
उदीची	उत्तर पार्श्व	बांया बगल
ध्रुवा	पाजस्य	पेट
ऊर्ध्वा	आनूक्य	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ और फलका संबंध सिर, बाहु, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्। तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीची दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च। तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम्। पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह संभवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु। सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥ (अथर्व १२।३)

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्दधानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं। जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं) पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्री-पुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न करें॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पात्रं) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तेथां) सब प्रकारसे वारवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पक्वाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा॥ (३) (प्रतीची) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान् और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है। इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए। और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए। (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा

है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्र) अग्र भागमें ले जावे। (पांक्तं) पांच वर्णों-राष्ट्रके विभागोंका (छदः) छद ही यह पुरुष होता है। इन सब अगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहें। (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है। इसके लिये नमन है। यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याण कारी होवे। हे (अ-दिते देवी) हे स्वतन्त्रता देवि ! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तू (गोपा) हम सबका सरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो।

इन मन्त्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं। इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्ठक बनता है।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व १२।३।७--११)

दिश	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्धधान	दंपती	सश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमं सविदान'	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृत.	मिथुन'	सभवाथ'
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छदः	पुरुषः	सह सभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदिति	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं। और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा है। इन मन्त्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा— (प्र+अंच्=आगे बढना, उन्नति करना) यह मूल अर्थ 'प्राच्' धातुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है। 'प्राची दिशा' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारभ करनेकी अत्यत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारम किए बिना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके बिना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही ससारमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (गुप्ति) सरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा-'दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। 'दक्षिण दिशा' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ 'सीधे तरफकी दिशा' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्षमाण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होनी असभव है। एकबार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसीको सूचना '(पर्यावर्तयो, परि-आ-वर्तयां) वारवार प्रयत्न कीजिए' इन शब्दों द्वारा मन्त्रमें दी है। 'यम' शब्द नियमोंका सूचक, 'पितृ' शब्द जननशक्ति और सरक्षणका सूचक, तथा 'सविदान' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसरक्षण और ज्ञानसे ही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मन्त्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा— प्रत्यच् अदर आना, अतर्मुख होना। प्रतीची दिक् शांतिकी दिशा, अदर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अतर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। 'पूर्वदिशा' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अच्)	(प्र-अच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए।

निवृत्ति विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है। शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी ? सोम ही शांतताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रचड किरणोंके तापसे सतप्त मनुष्य चद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शात सतुष्ट और आनदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य

कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मन्त्रमें ज्ञात होते हैं।

(४) उत्तर दिशा– (उत्–तर) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंकी उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुप-
निषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै
देवा उपसंनमन्तु (अथर्व १९।४१।१)

' सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषि-मुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें।' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अन्दर (नः अग्रं कृण्वन्) ' हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न ' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक्त) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छन्द) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरोंमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो ' लोककल्याण ' करता है, वही सच्चा पुरुष है। सब अंगोंसे उसको पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सबको मिलकर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मन्त्रके शब्दोंसे टपकता है।

(५) ध्रुवा दिक्–स्थिरताका धर्म यहां बताना है। मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता ठीक नहीं है। स्थिरता, दृढता निश्चिततता, उन्नतिकी साधक है। सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग योगमार्ग है, जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ–दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतन्त्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतन्त्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (गो–पा) इन्द्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार ध्रुव दिशाके मन्त्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मन्त्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं। अस्तु। दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है। इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करते हैं। उसके पूर्व निम्न मन्त्र देखिए।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय
रक्षित्र आदित्यायेषुमते। एतं परिदद्मस्तं नो
गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि
नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन
सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा दिश
इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ॥ एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते।
एतं० ॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं०
॥ ५८ ॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये
कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः
॥ एतं० ॥ ५९ ॥ ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतये
ऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥
एतं ॥ ६० ॥ (अथर्व १२।३)

' प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परिदद्म।) देते हैं। (अस्माकं आ–एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें। (अत्र) यहां (नः) हम सब को (दिष्ट) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्थातक (नि नेषत्) ले आवे। (जरा) वृद्ध अवस्था मृत्युको (न मृत्यवे परिददातु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे। (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (संभवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावे। यह प्रथम मन्त्रका अर्थ है। शेष मन्त्रोंका भाव ऐसा ही सुगम है।

इन मन्त्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्टभावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है।

प्रारम्भसे यहां तक दिशा विषयक जो कोष्टक और मन्त्र दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे इन मन्त्रोंका अधिक बोध होना संभव है।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥
(अथर्व. ३।२७।१)

इस मन्त्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेसे अन्य सब मन्त्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इसलिये इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषव आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, औषध आदिओंको भी बाण कहा है। वस्तुत ये बाण नहीं हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मन्त्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना जा सकता है परन्तु ' अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः ' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते। आवश्यक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एकवचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थान पर मन्त्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एकवचन और बहुवचन आया नहीं है। इसलिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वर पर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न है। यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें 'जो हम सबसे द्वेष करता है और जिससे हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जबडेमें हम सब धर देते हैं।' इस आशयके शब्द आये हैं। यह मन्त्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूप पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परन्तु (वः) अनेक हैं। (वः जम्भे) ' आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दण्ड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही दण्ड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मन्त्र भागमें स्पष्ट है। इसमें न्याय व्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखी हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयं ही दुष्टको मन माना दण्ड देवे। वह अधिकार न्यायसभाका ही है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रगट करना द्वेष नहीं है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दण्ड देवें। बहुपक्ष और अल्पपक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मन्त्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती। अब यहां ' जम्भ ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

' जम्भ ' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, भक्ष्य, दण्ड होता है। मन्त्रमें ' वः जम्भ ' अर्थात् ' अनेकोंका एक जबडा ' कहा है, प्रत्येक प्राणीका एक जबडा हुआ करता है। परन्तु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परन्तु यहां कहा है, इसलिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है—

व्यक्तिका जबडा	समाजका जबडा
जम्भ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अन्न-चर्वण	प्रमाण-विचार

सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबडेमें रखकर खाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको काटने दौडता है। परन्तु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है,

इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्योंकि यही 'समाजका जबडा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबडेका-अर्थात् न्यायसभाका-भाव 'जंभ' शब्दसे लेना यहां उचित है। यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा होसकता है।

त वो जंभे दध्मः।

(त) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सबोंके (जंभे) एक जबडेमें-अर्थात् न्यायसभामें- (दध्म) स्थापित करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'वः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबसे द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेकी वृत्ति कम होती है और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अतःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्व है।

'तेभ्यो नमो०' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छः मंत्रोंमें वारवार कहे गए हैं। वारवार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते हैं। विशेष महत्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (३ असितः रक्षिता) स्वतंत्र सरक्षक और (४ आ-दित्या इषवः) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, सरंक्षक और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) 'अग्नि' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्टक सं० ३ देखिए, उसमें प्राची दिशाका 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान ही मन कहा है।

(२) 'अ-सित' शब्दका अर्थ बंधनरहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। 'सि-बंधने' इस धातुसे 'सित' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-आधीन' है। 'अ-सित' अबद्ध, स्वतंत्र।

(३) 'आदित्य' शब्द 'अ-खंडनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'दो-अवखंडने' धातुसे 'दिति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ-खंडित' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, बंधनरहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां प्रमादका बंधन नहीं है।

(४) 'इषु'-'इष्-गतौ' धातुसे यह शब्द बनता

है। इसलिये 'गति' हलचल यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। पश्चात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, यजतुत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना, ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव 'इषवः' शब्दमें है। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मन्त्रका आशय है। अब द्वितीय मन्त्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा, (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी, (३ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला सरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो। जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिससे आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) 'इन्द्र' — (इन् शत्रून् द्रावयिता॥ १०१८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी।

(६) 'तिरश्चिराजी' – (तिरः) बीचमेंसे, (अंचु-) जाना, (राजी-) लकीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

(७) 'पिता' (पातीति पिता) - सरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है।

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तीसरा मन्त्र देखिये-

(३)

(१ प्रतीची दिग्) अतर्मुख होनेकी दिशा, (२ वरुण. अधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी, (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्न इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्चतर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी, (३ स्वजः रक्षिता) स्वयं सिद्ध सरक्षक और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नतिकी हैं।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी, (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता सरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं।

(६)

१ (ऊर्ध्वा दिक्) उच्च दिशा, (२ बृहस्पति) ज्ञानी स्वामी, (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध सरक्षक, (४ वर्षं इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन शब्दोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं —

(१) 'वरुण' — वर-वृ-वरणे। पसद करना। जो पसद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्व संमत सर्वश्रेष्ठ।

(२) 'पृदाकुः' — (पृत्-आ-कु-) - पृतका अर्थ युद्ध, सग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलनेवाला 'पृदाकु' होता है। कु=शब्द।

(३) सोम '— शांतिका द्योतक यह अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ 'स+उमा' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। 'सु-प्रसवैश्वर्ययोः' इस धातुसे 'सोम' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्' ऐसा होता है।

(४) 'स्वजः' (स्व+जः) अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलबनशील। स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है।

(५) 'अशनिः' – यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। 'अश्' धातुका अर्थ 'व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) 'विष्णुः' सर्व 'व्यापक' कर्ता उद्यमी।

(७) 'कल्माष-ग्रीवः' – 'कल्मन्' का अर्थ 'कर्मन्' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। 'कल्माष' = (कल्म स)=कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। (कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः। कर्माष एवं कल्माषः।) 'पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करनेवाला 'कल्मा-ष-ग्रीव' किंवा 'कर्मा-स-ग्रीव' कहलाता है।

(८) 'बृहस्पतिः' -महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) 'श्वित्रः '-शुद्ध, पवित्र, श्वेत ।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, ऐश्वर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं। इन छः गुणोंका साधक ' गुण-चतुष्टय ' पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति, (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेतके हैं और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा। बार बार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मन्त्रोंमें ' इषु ' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका किसी अन्यभाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मन्त्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मन्त्रोंमें हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दंड देनेका अधिकार इन्हींको है। किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयं ही लेकर किसीको दंड देवे। इससे अशांति और अराजकता फैलती है। इसलिये प्रत्येक मन्त्रमें कहा है कि ' हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उन्हींके स्वाधीन करते हैं। ' सब लोगोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मन्त्रोंका मुख्य उद्देश्य है। इन मन्त्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है। वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है। केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा और केवल समाजका भी नहीं होगा। दोनोंका मिलकर होगा। व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है। प्रत्येक मन्त्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मन्त्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान

वैदिक दृष्टि

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, अपितु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्‌के पदार्थमात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोण उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है। यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोण न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मन्त्रोंका अर्थ समझना ही असंभव है। वेद मन्त्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना हो एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है। आजकलकी जड सभ्यताकी रीतिका अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई भाव उत्पन्न नहीं कर सकती, काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न ही चाहिए। कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके बिना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता। उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है। वीणाके एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिले हुए दूसरे तार आप ही आप अवाज देते रहते हैं, परंतु जो तार उसके स्वरके साथ मिले नहीं होते, वह नहीं बजते । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमें भी है। जो हृदय कवीके हृदयके समान उच्च होते हैं वेही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परंतु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते। वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिए।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा। परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी

सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं। परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है और समझता है, कि सृष्टिका मैंने उपभोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया। जैसा–' अग्निं ईळे ' का अर्थ ' मैं आगकी प्रशंसा करता हूं ' इतना ही समझना है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके यन्त्रकलानिपुण वैज्ञानिक उसी जल और अग्निको यन्त्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यन्त्र चला लेते हैं और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया, तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद मन्त्रका काव्य दृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं। जैसा–' अग्निं ईळे '। का अर्थ ये लोग समझते हैं कि ' मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं। '

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं। परंतु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है। वेद काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्य दृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है। यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें। आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मन्त्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है, अपितु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखने की अत्यंत आवश्यकता है। सब साधारण लोगोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यह अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा। ' जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप होगये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता। ' (य ४०।७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए। परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें होगया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिको ' आत्मरूप दृष्टि ' कहते हैं।

जड दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जडताके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं, उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है।

' प्राची दिशा ' पूर्व दिशाकी विभूति

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर ' प्राची दिक् ' शब्द आता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची-(प्र+अंच्)= प्र ' का अर्थ ' आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख ' है। ' अंच् ' का अर्थ ' गति पूजन ' अर्थात जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना ' है। तात्पर्य ' प्राची ' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना ऊपर चढना इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्-दिशा=का अर्थ तरफ, सीध, ताक, हिदायत, आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग इत्यादि होता है।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे ' प्राची दिक् ' का अर्थ–(१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग इत्यादि होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है।

विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्वदिशाका नाम ' प्राची दिक् ' वेदने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्वदिशाकी ओर पाठक देखते जांय। पूर्व दिशाकी अपूर्वता सबेरे और

रात्रीके समय ही शात हो सकती हैं। दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इसलिये सबेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये।

तार्किक लोग दिशाओंको जड कहते हैं, उनकी दृष्टि भिन्न है। वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिए। जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिये। और प्रत्येक दिशा जीवित और जाग्रत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है। यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है!! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है। तात्पर्य यह कि पूर्व दिशा हर-एकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह ' उदयकी दिशा ' है। सबका उदय यहांसे हो रहा है। हे मनुष्य! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो।

सूर्य चंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं। यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी, परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकबार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये हुए मनुष्य भी उन्नत नहीं हो सकेंगे? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठी हुई है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्य चंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया हुआ है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटी देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्यों कर रह सकता है? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, अपितु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिशः और संघशः, अर्थात् अपना और जातिका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है। पूर्वदिशाके अवलोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

पश्चिम दिशाकी विभूति

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्वदिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए। अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य सनातन ही है। उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर सापेक्षताका संबंध रखती हैं, इसलिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन किया है। यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्त गृह)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति

पूर्व	पश्चिम
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अच्	प्रति+अच
हलचल	शांति
जाग्रति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पना अधिक स्पष्ट हो जायगी। इसलिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां प्रथमतः करते हैं।

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते है। अथवा 'वर' शब्द गौणवृत्तिसे उदक वाचक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके बिना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्नका भोजन करनेसे क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अंदर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए- व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्यकी अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानिए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्री पुरुषका मिथुन होता है, इसलिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चोवीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण भाद्रपद, कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस यादीमें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेषभाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परंतु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझमें ही नहीं आवेगा।

'प्रति+अच' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है। इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना अंतर्मुख होना, विश्रामकी तयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिन भर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनके पश्चात सूर्य विश्रांतिके लिये अपने घर आता है और रात्रीके साथ संलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मणवर्ण यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मणवर्ण तपस्याके लिये ही है। परंतु वैश्यवर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्यवर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परंतु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाव और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियालीसे सुंदर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूति-

योंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूति-याका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त ' उत्तर ' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उदीची
उत्-तर	उत्-अच्
उच्च-तर	उच्च-गति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर किंवा उच्च-तर शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि ' प्राची और प्रतीची ' दिशा क्रमशः ' प्रगति और विश्राम ' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह ' उदीची ' दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा ' बायी बगल ' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिपति है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका ' स्वजः ' रक्षिता है। ' स्व-ज ' शब्द स्वरससे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मतत्वकी स्वकीय शक्तिसे यहांका रक्षण होता है। बाहरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभमंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ॥ पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥　　[अथर्व. १२।३]

' (उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्) उत्तर दिशा सदा ही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इसलिये (नः) हम सबको (अग्रे) अग्रभागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तं) पांच वर्णोंमें विभक्त (पुरुषः) नागरिक जन ही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (सहसंभवेम) मिलकर रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें।

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलम्बन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रे) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ बढ़ता जाऊं। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्त वर्ण, बैठकर काम करनेवाले धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच-वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पञ्च जनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम ' पाञ्चजन्य ' है। ' पांच-जन्यका महानाद ' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें बसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उष, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये ' पांच-जन्य ' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं, जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकारका ' पांच जन्य राष्ट्र ' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और वर्णोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है जिससे राष्ट्रको उच्चतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तम दिशाकी विभूति है।

जगतमें जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदृतु है, महिनोंमें आश्विन कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सच्छूद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है।

रक्षाकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ३

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - नानादेवताः ।)

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः । || १ ||
अपां नपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः । || २ ||
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् । || ३ ||
अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद्देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये

अर्थ— (इन्द्रापूषणौ न पातं) इन्द्र और पूषा ये दो देव हमारी रक्षा करें, (अदितिः मरुतः पान्तु) अदिति और मरुत् देव हमारी रक्षा करें। (अपां नपात्, सप्त सिन्धवः पातन) मेघोंको न गिरानेवाला पर्जन्यदेव और सातों समुद्र हमारी रक्षा करें, (विष्णुः उत द्योः नः पातु) व्यापक देव और द्युलोक हमें बचावे ॥ १ ॥

(द्यावापृथिवी अभिष्टये नः पातां) द्युलोक और पृथिवी लोक अभीष्ट अवस्था प्राप्त होनेके लिये हमारी रक्षा करें। (ग्रावा सोमः नः अंहसः पातु) पत्थर और सोम औषधि हमें पापसे बचावें, (सुभगा सरस्वती देवी नः पातु) उत्तम ऐश्वर्यवाली विद्यादेवी हमारी रक्षा करे। (अग्निः पातु) अग्नि हमारी रक्षा करे और (ये अस्य पायवः) जो इसके रक्षक गुण हैं, वे भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

(शुभस्पती अश्विनौ देवौ नः पातां) उत्तम पालक अश्विनीदेव हमारी रक्षा करें। (उत उषासानक्ता नः उरुष्यतां) तथा उषा और रात्री हमारी रक्षा करें। (अपां नपात् त्वष्टः देव) हे जलोंको न गिरानेवाले त्वष्टा देव ! (गयस्य अभिह्रुती चित्) घरको दुरवस्थासे भी दूर करके (सर्वतातये वर्धय) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी वृद्धि कर ॥ ३ ॥

रक्षाकी प्रार्थना

देवों द्वारा हमारी रक्षा

इस सूक्तमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है। इसमें पृथ्वीस्थानीय देव ये हैं—

१ पृथिवी— भूमि, जिसपर सब मानव आदि रहते हैं।

२ सप्त सिन्धवः— सात समुद्र, जिनमें जल भरा पडा है।

३ अग्निः, अस्य पायवः च— अग्नि और उसकी सब रक्षक शक्तियां।

४ सोमः— सोम आदि सब वनस्पतियां और औषधियां।

५ ग्रावा— पत्थर तथा अन्यान्य खनिज पदार्थ।

ये पांच देव पृथिवी स्थानीय हैं, ये अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। इनके अन्दर विविध शक्तियां हैं, इसलिये उन शक्तियोंसे मनुष्यका सुख बढे ऐसा उपाय अवलंबन करना चाहिये। उदाहरणके लिये अग्निका उपयोग पाक करने आदि कार्योंमें करनेसे लाभ और गृहादिके जलानेमें करनेसे हानि होती है। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिये। अब अन्तरिक्षस्थानीय देवोंके विषयमें देखिये—

१ इन्द्र— जो पर्जन्य देता है, विद्युत्का संचार करता है।

७ मरुतः- सब प्रकारके वायु, जो प्राणादि रूपसे सबकी रक्षा करते हैं।

८ अपां नपात्- जलोंको मेघोंमें धारण करनेवाला देव।

९ त्वष्टा- जो तोडने जोडनेका कार्य करता है और जो रूपोंको बनाता है।

ये देव भी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं। इसलिये इनकी शक्तियोंसे मनुष्यका लाभ हो और कदापि हानि न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अब द्युस्थानीय देवताओंका विचार देखिये—

१० द्यौः- द्युलोक जहां सब तेजधारी सूर्यादि गोलक रहते हैं।

११ पूषा- सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है।

ये देव द्युलोकमें रहते हुए मनुष्यकी रक्षा कर रहे हैं; इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ अश्विनौ- श्वास और उच्छ्वास, प्राण और अपान, तारक (अर्भरी), मारक (तुर्फरी) शक्ति, यह प्राण शक्ति है।

१३ उषासानक्ता- उषा और रात्री, यह काल है।

१४ सरस्वती- विद्या देवी, ज्ञानदेवता, शास्त्रविद्या, सभ्यता।

१५ अदितिः- अखंडित मूल शक्ति, और

१६ विष्णुः- सर्वव्यापक ईश्वर।

ये सब देव और देवताएं मनुष्यकी रक्षा करें। मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, कि जिससे इनकी शक्ति इसकी सहायक बने और कभी विरोधक न बने।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आती है, तथापि मनुष्यका इनके साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्य सिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बडी हानी भी होती है, इसलिये इनकी सहाय्यताकी याचना यहां की है।

दो उद्देश

मानवी उन्नतिके दो उद्देश्य हैं- (१) तयस्य अभिह्रुती- घरकी कुटिलता, हानि आदि दूर करना और (२) सर्वतातये वर्धय- सब प्रकारका विस्तार होनेके लिये बढना। उक्त देवताओंकी शक्तियोंसे ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये। पूर्वोक्त देव अपने शरीरमें अंश रूपसे हैं, उनकी शक्तियोंकी उन्नति करके भी मनुष्यका बडा लाभ हो सकता है। इस सूक्तका विचार करनेसे इस ढंगसे बहुत लाभ हो सकता है।

अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये।

रक्षाकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - नानादेवताः।)

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः। पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः।

अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥ २ ॥

अर्थ— (त्वष्टा) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और (पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः) पुत्र और भाइयोंके साथ अदिति देवी (मे दैव्यं वचः) मेरे देवोंके संबंधके वचनको सुनें और (नः दुष्टरं त्रायमाणं सहः पातु) हम सबके अजेय और रक्षा करनेवाले बलको सुरक्षित रखें ॥ १ ॥

अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति और मरुत देव ये सब देव मेरी (पान्तु) रक्षा करें। (तस्य अभिह्रुतः द्वेषः अपगमेत्) उस शत्रुका कुटिल द्वेष दूर होवे। (अन्तितं शत्रुं यावयत्) ये सब पासके शत्रुको दूर भगा दें ॥ २ ॥

धियै समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् । द्यौष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (धिये नः सं प्रावतं) बुद्धिके लिये हमारी उत्तम रक्षा करो। हे (उरु-ज्मन्) विशेष गतिवाले ! (अप्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ तूं (नः उरुष्य) हम सबकी रक्षा कर। हे (द्यौः पितः) द्युलोकके पालक ! (या दुच्छुना यावय) जो दुर्गति है, उसको दूर कर ॥ ३ ॥

रक्षाकी प्रार्थना

इस सूक्तके पूर्व सूक्तमें कहे गए देवोंके नाम इस प्रकार हैं–' त्वष्टा, अदिति, मरुतः '। जिन देवोंके नाम पूर्व सूक्तमें नहीं आये थे वे ये हैं–' पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, द्यौष्पिता। ' पूर्वके अनु-संधानसे ही इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये।

१ पर्जन्यः– मेघ, जल देनेवाला देव।

२ ब्रह्मणस्पतिः– ज्ञानका स्वामी, ज्ञान देनेवाला।

३ अंशः– प्रकाश देनेवाला।

४ भगः– भाग्यवान्, भाग्य देनेवाला।

५ वरुणः– वरिष्ठ देव, सबसे श्रेष्ठ देव।

६ मित्रः– सबका हितकारी,

७ अर्य-मा– श्रेष्ठ पुरुषका निश्चय करनेवाला।

८ द्यौष्पिता– द्युलोकका पालक देव।

९ पुत्रैः भ्रातृभिः सह अदितिः– लड़कों और भाइयोंके समेत अदिति देवी। अखंडित मूल शक्तिका नाम अदिति देवी है, इससे सूर्यादि तेजके गोलक उत्पन्न होते हैं, इसलिये ये इसके पुत्र हैं। तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं। अर्थात् मूल प्रकृति अथवा मूल शक्ति और उससे उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मंत्र भागसे लेने योग्य हैं।

यह सब देवोंशक्तियोंका समूह हम सबकी रक्षा करे।

रक्षाका कार्य

रक्षा करनेका तात्पर्य इस सूक्तमें बताया है, इसलिये इसके सूचक वाक्य देखिये। रक्षाके लिये अपनी बुद्धि उत्तम करनी चाहिये। यह बतानेके लिये कहा है—

१ धिये नः सं प्र अवतं– ' उत्तम बुद्धिके विस्तारके लिये हम सबकी उत्तम प्रकार विशेष रक्षा करो। ' मनुष्यकी बुद्धिकी ही विशेष आवश्यकता है। मनुष्यकी रक्षा भी इसी-लिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विशेष शुद्ध, पवित्र, निर्दोष और कुशाग्र हो और कभी हीन न हो। (मं० १)

२ मे दैव्यं वचः– मेरा भाषण दिव्य हो, अर्थात् उसमें देवके गुणोंका वर्णन हो, शुद्ध भाव हो और कभी हीन भाव न हो। वाणीकी इस प्रकार शुद्धि होनेसे ही ऊपर कही गई बुद्धिकी उन्नति हो सकती है। इस सूक्तमें एक वाणीका उल्लेख करके सब अन्य इंद्रियोंकी प्रवृत्ति शुद्ध करनेका उपदेश दिया है। जिस नियमसे वाणीकी शुद्धि होती है, उसी नियमसे नेत्र कर्ण आदि अन्यान्य इंद्रियोंकी भी शुद्धि होती है। इंद्रियोंको शुभ कर्ममें सदा नियुक्त रखनेसे ही सब इंद्रियां शुद्ध हो सकती हैं। यह नियम सब इंद्रियोंके विषयमें समान ही है। अपनी इंद्रियोंमें ' दिव्य भाव ' स्थिर करना चाहिये, यह इस विवरणका तात्पर्य है। इस प्रकार सब इंद्रियां शुद्ध होनेसे बुद्धि भी इसी कारणसे शुद्ध होती है और विकसित होती है। (मं० १)

३ द्वेषः अपगमेत्– द्वेषभाव, निंदा करनेका स्वभाव, शत्रुत्व करनेका आशय अन्तःकरणसे दूर हो जावे। यह पवित्र बननेका मार्ग है। द्वेषभावके मनसे पूर्णतया निकल जानेपर मन शुद्ध होता है। (मं० २)

४ दुच्छुना यावय– सब दुर्गतिको दूर कर। इंद्रियके हीन कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेसे ही सब प्रकारकी दुर्गति प्राप्त होती है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि हो जानेपर दुर्गति अपने पास कदापि नहीं रहेगी। (मं० ३)

५ शत्रुं यावय– शत्रुको दूर भगा दे। शरीरमें काम-क्रोधादि शत्रु हैं, समाजमें कामी क्रोधी ये शत्रु हैं और राष्ट्रके भी शत्रु होते हैं। इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करनेसे सब आंतरिक शत्रु दूर होते हैं, सामाजिक और अन्य प्रकारके शत्रुओंको दूर करनेका उपाय भी यहांकी शुद्धता करना ही है। इस कार्यके लिये मनमें अंदर बल चाहिये, उसका उपदेश इस प्रकार है—

१ नः सुपर्द शासनानं सहः– हमारे अंदर शत्रुके

लिये दुस्साह और हमारी रक्षा करनेवाला बल हो। बलके दो लक्षण यहां कहे है, वह बल ऐसा चाहिये कि जिसका (दुः+तरं) उल्लंघन शत्रु न कर सके। जब शत्रु आक्रमण करे उस समय वह पूर्ण रीतिसे परास्त हो। इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये। इस प्रकारका बल बढ जानेसे स्वयमेव सब शत्रु दूर होंगे।

इस प्रकारका बल बढाना ब्रह्मणस्पतिका कार्य है। ब्रह्मणस्पति ज्ञान और विज्ञानका देव है और वह अपने ज्ञानके दानसे पूर्वोक्त बल मनुष्योंमें बढाता है। इसीलिये उसकी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्योंको करनी चाहिये। उपासनाके समय इस प्रकारका मनन करनेसे और श्रद्धाभक्तियुक्त अन्तःकरणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते है।

अपनी रक्षा

कांड ६, सूक्त ५३

(ऋषि. - बृहच्छुक्रः। देवता - नानादेवताः।)

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्दक्षिणया पिपर्तु ।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥
पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥
सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद्विरिष्टम् ॥ ३ ॥

अर्थ - (प्र-चेतसौ द्यौः च पृथिवी च) उत्तम ज्ञानवाले द्युलोक और भूलोक और (बृहन् शुक्रः दक्षिणया) बडा सामर्थ्यवान् सूर्य दक्षताके साथ (मे इदं पिपर्तु) मेरे इस सबकी रक्षा करे। (सोमः अग्निः) सोमादि वनस्पति और अग्नि ये (स्वधा अनु चिकितां) अपनी धारणशक्तिका ज्ञान अनुकूलताके साथ देवे। (वायुः सविता भगः च नः पातु) वायु, सविता और भग ये हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(प्राणः नः पुनः एतु) प्राण हमारे पास फिर आवे, (आत्मा नः पुनः एतु) आत्मा हमारे पास पुनः आवे। (पुनः चक्षुः पुनः असुः नः एतु) फिर आंख और फिर प्राण हमारे पास आवें। (अ-दब्धः तनू-पाः वैश्वानरः) न दबाया जानेवाला शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा (नः विश्वा दुरितानि) हमारे सब पापोंको जानता हुआ (अन्तः तिष्ठाति) अन्दर रहता है ॥ २ ॥

(वर्चसा पयसा सं) तेज और पुष्टिकारक दूधसे हम युक्त हों। (तनूभिः सं) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों। (शिवेन मनसा सं अगन्महि) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों। (त्वष्टा नः अत्र वरीयः कृणोतु) श्रेष्ठ कारीगर परमात्मा हमें यहां उत्तम बनावे। (यत् नः तन्वः विरिष्टं) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो (अनुमार्ष्टु) उसको अनुकूलतासे शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोकका बडा शक्तिशाली भाग्यवान् सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु और भूलोकका अग्नि, सोम आदि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियां पूर्वोक्त प्रकारसे हमें पुनः प्राप्त हों। हम पापोंको छिपकर कर नहीं सकते, क्यों कि ज्ञानी रक्षक आत्मा हमारे अंदर जागता रहता है ॥ २ ॥

हमें पुष्टिकारक अन्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याणका विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे। हमारे शरीरमें जो कुछ घातिकारक पदार्थ घुसा हो वह परमेश्वरकी योजनासे दूर होवे और हमारी शुद्धि होवे ॥ ३ ॥

अपनी रक्षा

इस सूक्तमें अपनी सब प्रकारसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है। द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि—

आत्मा, प्राणः असुः, चक्षुः नः पुनः एतु।
(मं० २)

'आत्मा, प्राण, आंख आदि सब शक्तियां हमारे पास पुनः आवें।' अर्थात् रोगादिके कारण शरीरपर जो विविध आपत्तियां आती है, उनसे चक्षु आदि सब इंद्रिय रोगी और विकल हो जाते हे, किसी किसी समय ये इंद्रिय नामशेष भी हो जाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् यह मनुष्य मर भी जाता है। अर्थात् जब शरीर ऐसा रोगी हो जाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है। इतना रोगी होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आदि सब शक्तियां पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्थामें बसें। अर्थात् रोग आदि आपत्तियां आनेपर भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो। यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मन्त्रने बताया है—

(द्यौः बृहन् शुक्रः भगः सविता) द्युलोकका बडा सामर्थ्यशाली शुद्धता करनेवाला सूर्य, (वायुः) अन्तरिक्षका वायु और (पृथिवी अग्निः सोमः) पृथ्वीके ऊपरकी अग्नि और सोमादि वनस्पतियां (अनु स्वधा चिकिता, पातु, पिपर्तु) अनुकूलतासे अपनी धारक शक्ति देवें, हमारी रक्षा करें, और पूर्णता करें। (मं० १)

द्युलोकमें सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सबकी शुद्धता करता है, सबमें बल लाता है और सबको बढाकर पूर्ण करता है। अन्तरिक्षमें जो वायु है वह सबका प्राण होकर सबको जीवन देता है, पवित्र और पुष्ट करता है और वीर्य आयु देता है। पृथ्वीपरकी सोम आदि वनस्पतियां रोग दूर करनेके द्वारा सबका आरोग्य बढाती हैं और सबको दीर्घायु करती हैं। अर्थात् आत्मा, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साधन (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) वनस्पतियोंके यथायोग्य सेवनसे आसन्नमरण हुआ मनुष्य भी पुन स्वस्थ हो सकता है। इससे—

पयसा, वर्चसा, शिवेन मनसा स अगन्महि।
(मं० ३)

'दुग्धादि अन्नपान, तेजस्विता और शुभ विचारवाला मन प्राप्त हो सकता है।' आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको शुभमंगल विचारोंसे युक्त करे, क्यों कि विचारोंके शुद्ध रहने पर बुराई पास नहीं आसकती। स्वभाव तेजस्वी बनावे और शुद्ध दुग्धाहार करके उत्तम आरोग्यका साधन करे। इतना प्रयत्न करने पर भी जो कुछ रोगबीज या दोष शरीरमें घुस जाए तो, उसे दूर करनेके लिये ऐसी प्रार्थना करे—

त्वष्टा नः तन्वः यत् विरिष्टं मार्ष्टु। (मं० ३)

'ईश्वर हमारे शरीरके रोगादिकों दूर करके हमारी शुद्धता करे।' क्योंकि मनुष्यके प्रयत्न होनेपर भी कुछ अशुद्धियां हो जाती हैं और दोष घुस जाते हैं। ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह सब दोष दूर हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर प्रार्थना करनेसे मनमें एक प्रकारका अद्भुत दैवी बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब दोष और रोगबीज तथा अन्य विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य निर्दोष हो जाता है। कोई यहां यह न समझे कि ईश्वरसे छिपाकर मनुष्य कुछ भी दोष या पाप कर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

वैश्वानरः, अदब्धः, तनूपाः,
विश्वा दुरितानि अन्तः तिष्ठाति। (मं० २)

'सब जगत्का नेता, कभी न दबनेवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरीक्षण करता हुआ हमारे अन्दर रहता है।' जब वह जाग्रत रहता हुआ अंदर रहता है तब उससे छिपकर कोई पाप कैसे कर सकता है? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है। हमारे सब बुरे और भले कर्मोंको वह जानता है, इसलिये उसीको प्रार्थना करनी चाहिये और उसीसे आत्मिकबल प्राप्त करना चाहिये।

यह रीति है जिससे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अपनी उन्नतिका साधन कर सकता है।

अपनी रक्षा

कांड ६, सूक्त १०७

(ऋषि - शन्ताति । देवता - विश्वजित् ।)

विश्वजित्त्रायमाणायै मा परि देहि। त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥
त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि। विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ २ ॥
विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि। कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥
कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि। सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वजित्) जगत्को जीतनेवाले ! (मा त्रायमाणायै परि देहि) मुझे रक्षा करनेवाली शक्तिके लिये दे। हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (न द्विपात् चतुष्पात् च सर्वं रक्ष) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सबकी रक्षा कर और (यत् च नः स्वं) जो हमारा धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (मा विश्वजिते देहि) मुझे जगत्को विजय करनेवालेको दे । हे जगज्जेता ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पाद सबकी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे जगज्जेता ! (मा कल्याण्यै परिदेहि) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके आधीन कर । हे कल्याणि ! मेरा धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि । (मा सर्वविदे परि देहि) मुझे सर्वज्ञके पास पहुंचा । हे सर्वज्ञ ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुर्द रक्षणीय वस्तुमात्रको करे । वह रक्षक सबकी यथायोग्य रक्षा करे । रक्षक उन सब पदार्थोंको विश्वविजयीके पास देवे । और वह विश्वविजयी सबकी योग्य रक्षा करे । यह सब रक्षा करके कल्याणके लिये हो, अर्थात् सबकी रक्षासे सबका यथायोग्य उत्तम कल्याण हो । कल्याण होनेका अर्थ यह है कि सब विशेष ज्ञानीके पास रहें क्यों कि सब प्रकारका कल्याण ज्ञानसे ही होगा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तसे यह बोध प्राप्त हो सकता है- (१) हरएकको अपने अंदर रक्षा करनेकी शक्ति बढानी चाहिये । (२) मैं विजय प्राप्त करूंगा ऐसी महत्वाकांक्षा धारण करनी चाहिये । (३) सबको अधिकसे अधिक कल्याण करनेके लिये यत्न करना चाहिये और (४) ज्ञानीकी संगतिमें सबको लगना चाहिये ।

रक्षाकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ५१

(ऋषिः - अङ्गिरा । देवता - इन्द्राबृहस्पती ।)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहस्पतिः नः पश्चात्, उत उत्तरस्मात्) ज्ञानका स्वामी हमें पीछेसे, उत्तर दिशासे, (अधरात् अघायोः पातु) नीचेके भागसे पापी पुरुषसे बचावे । (सखा इन्द्रः) मित्र प्रभु (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगेसे और बीचमेंसे (सखिभ्यः नः वरीयः कृणोतु) मित्रोंमें हमें श्रेष्ठ बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ— ज्ञानदेनेवाला पीछेसे, ऊपरसे और नीचेसे अर्थात् बाहरसे हमारी रक्षा करे और मित्र हमारी रक्षा सम्मुखसे और बीचके स्थानसे करे ॥ १ ॥

ज्ञान देनेवाला और सहायक मित्र ये दोनों रक्षा करते हैं, एक बाहरसे रक्षा करता है और एक अंदरसे रक्षा करता है। परमात्मा ज्ञान देकर अंदरसे मित्र होकर, अंदरसे और बाहरसे और सब ओरसे हमारी रक्षा करता है।

सुरक्षितताकी प्रार्थना

कांड ५, सूक्त २४

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - ब्रह्मकर्मात्मा, नानादेवताः।)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्याकूत्यामास्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ३ ॥

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ— (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठामें, (अस्यां चित्यां) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें, (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादमें, (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंकी प्रार्थनामें मं (स्व-आ-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण करता हूं, इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब चेतनाओंका अधिपति प्रेरक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

(सः वनस्पतीनां अधिपतिः अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

(ते दातॄणां अधिपत्नी द्यावापृथिवी मा अवतां) वे दाताओंके अधिपति द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावतम् ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ५ ॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ६ ॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ७ ॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ८ ॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ११ ॥

अर्थ— (तौ वृष्ट्या अधिपती मित्रावरुणौ मा अवतां) ये दोनों वृष्टिके अधिपति मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

(ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु) वे पर्वतोंके अधिपति मरुत् मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

(सः वीरुधां अधिपतिः सोमः मा अवतु) वह औषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

(सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

(सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अवतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

(सः दिवः अधिपतिः इन्द्रः मा अवतु) वह द्युलोकका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १३ ॥

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १५ ॥

तता अवरे ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १६ ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

अर्थ— (सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता मा अवतु) वह पशुओंका अधिपति मरुत्पिता मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

(सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः मा अवतु) वह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(सः पितृणां अधिपतिः यमः मा अवतु) वह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

(ते परे पितरः मा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

(ते अवरे तताः मा अवन्तु) वे पिछले पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥

(ते ततः ततामहाः मा अवन्तु) वे बडे प्रपितामह मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता।

ज्ञानोपदेशका कर्म, अन्याय्य पुरुषार्थ, यजन याजन, सबको स्थिरता और सुदृढता बढानेवाले कर्म, जिनसे चित्त मनन आदि कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्यान्य कर्तव्य कर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएं और उन देवताओंका प्रेरक परमात्मा मेरी रक्षा करे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। यह स्पष्ट आशय है इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

अपनी रक्षाकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४७

(ऋषिः - अंगिरा प्रचेताः । देवता - १ अग्निः, २ विश्वेदेवाः, ३ सुधन्वा ।)

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः ।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥
विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्द्वितीये सवने न जह्युः ।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥
इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः) विश्वका चालक, (विश्वकृत्) विश्वका निर्माणकर्ता, (विश्वशंभूः) विश्वको शान्ति देनेवाला, (अग्निः) प्रकाश देव (प्रातः सवने अस्मान् पातु) प्रातःकालके यज्ञमें हमारी रक्षा करे। (सः पावकः नः द्रविणे दधातु) वह पवित्र करनेवाला हम सबको धनके बीच रखे। और इससे हम (आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम) दीर्घ आयुवाले और साथ भोजन करनेवाले होवें ॥ १ ॥

(विश्वेदेवाः मरुतः इन्द्रः) सब देव, मरुत् और इन्द्र सब (अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः) हमको इस द्वितीय यज्ञमें न दूर करें। (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाले और (प्रियं वदन्तः) प्रिय बोलनेवाले होकर, (वयं एषां देवानां सुमतौ स्याम) हम इन देवोंकी सुमतिमें रहें अर्थात् उनका उत्तम आशीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

(ये चमसं ऐरयन्त) जो चमसको हवनके लिये प्रेरित करते हैं (कवीनां ऋतेन) उन कवियोंके सत्यपालनसे (इदं तृतीयं सवनं) यह तृतीय यज्ञ भाग होता है। (ते सौधन्वनाः स्वः आनशानाः) वे उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले वीर आत्माका तेज प्राप्त करते हुए (नः स्विष्टिं वस्यः अभि नयन्तु) हमारे उत्तम यज्ञको उत्तम फलके प्रति ले जावें ॥ ३ ॥

ईश्वरके गुण

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द हैं जो विचार करने योग्य हैं—

१ वैश्वानरः= सब विश्वका चालक, जो सब विश्वमें रहकर विश्वको आगे बढाता है।
२ विश्वकृत्= सब विश्वका बनानेवाला, जगत्‌का निर्माण कर्ता।
३ विश्व-शं-भूः= जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है।
४ अग्नि= प्रकाश देनेवाला, चेतना देनेवाला देव।

ये सब शब्द और विशेषतः पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके द्योतक हैं। यह ईश्वर हम सबकी रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बढे और हमारी मंगलकामना सिद्ध होवे। हम आपसमें (प्रियं वदन्तः) प्रिय भाषण करें और ऐसा आचरण करें, कि जिससे (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंके उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम बुद्धि स्थिर होवे और (स्वः आनशानाः) हमारी आत्मा प्रकाशित होवे।

हमारी रक्षा

कांड ६, सूक्त ७९

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – संस्फानम् ।)

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु । असमातिं गृहेषु नः ॥ १ ॥
त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥
देवं संस्फान सहस्रपोषस्येशिषे ।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ – (अयं संस्फानः नभसः पतिः) यह बढनेवाला आकाशका पालक देव (नः अभिरक्षतु) हमारी रक्षा करे । तथा (नः गृहेषु असमातिं) हमारे घरोंमें असामान्य धन रहे ॥ १ ॥

हे (नभसः पते) आकाशके स्वामी देव ! तू (त्वं नः गृहेषु) हमारे घरोंमें (नः ऊर्जं धारय) हमें प्रभूत अन्न दे और (पुष्टं वसु आ एतु) पुष्टिकारक धन भी हमारे पास आवे ॥ २ ॥

हे (देव संस्फान) वृद्धि करनेवाले देव ! तू (सहस्रपोषस्य ईशिषे) हजारों पुष्टियोंका स्वामी है, इसलिये (तस्य नः रास्व) उन पुष्टियोंको हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिवांसः स्याम) उस तेरी हम भक्ति करनेवाले हों ॥ ३ ॥

भावार्थ– हे वृद्धि करनेवाले ईश्वर ! हमारी रक्षा कर और हमारे घरोंमें बहुत धनसमृद्धि प्रदान कर ॥ १ ॥

हे ईश्वर ! तू हमारे घरोंमें धन, बल और पुष्टि दे ॥ २ ॥

हे वृद्धि करनेवाले देव ! तेरे पास हजारों पोषक शक्तियां हैं । उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके हम भागी बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है। इसलिये वह देव हमें पोषणके साधन देवे और उनका योग्य उपयोग करके हम सब हृष्ट, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हों ।

बल प्राप्त करना

कांड ६, सूक्त १०१

(ऋषिः – अथर्वाङ्गिराः । देवता – ब्रह्मणस्पतिः ।)

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च । यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥ १ ॥

अर्थ– (आ वृषायस्व) बलवान् हो, (श्वसिहि) उत्तम प्राण धारण कर, (वर्धस्व प्रथयस्व च) बढ और अंगोंको फैला । (यथा शेपः अङ्गं वर्धतां) जिससे प्रजननांग पुष्ट हो और तू (तेन योषितं इत् जहि) उससे स्त्रीको प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ– हे मनुष्य ! तू बलवान् बन, प्राणका बल बढा, शरीर पुष्ट कर, और मोटा ताजा कर। इस प्रकार सब शरीरके उत्तम पुष्ट होनेके पश्चात् स्त्रीको प्राप्त कर ॥ १ ॥

येन॑ कृशं॑ वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॑तु॒रम् । तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑ ॥ २ ॥
आ॒हं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि । क्रम॑स्वर्श॑ इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी ! (येन कृशं वाजयन्ति) जिसे कृश मनुष्यको पुष्ट करते हैं, (येन आतुरं हिन्वन्ति) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, (तेन) उस उपायसे (अस्य पसः धनुः इव अतानय) इसका अंग धनुष्य जैसे फैला ॥ २ ॥

(धन्वनि अधि ज्यां इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं, (अहं ते पसः तनोमि) उसी प्रकार मैं तेरी इंद्रियको फैलाता हूं । (ऋश्यः रोहितं इव) जिस प्रकार रीछ हरिनपर धावा करता है (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) उसी प्रकार तू न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी पुरुष ! जिस उपायसे कृशको पुष्ट करते हैं और रोगीको नीरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नीरोग और बलवान् बनें ॥ २ ॥

धनुष्यकी डोरीके समान शरीरमें बल और लचीलापन होवे और ऐसा बल प्राप्त करके हरिनपर रीछके हमलेके समान न थकते हुए तू भी शत्रुओंपर हमला कर ॥ ३ ॥

चार प्रकारका बल

इस सूक्तमें चार प्रकारके बल बताये हैं । हरएकको ये चार प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये- (१) आ वृषायस्व- यह वीर्यका बल है, शरीर वीर्यवान् हो; (२) श्वसिहि- प्राणका बल बढे, श्रमका थोडासा कार्य करते ही श्वास लगना नहीं चाहिये; (३) वर्धस्व- शरीरकी लंबाई चौडाई पर्याप्त हो, मनुष्य अच्छा मोटा ताजा प्रतीत हो; और (४) प्रथयस्व- हरएक अवयव अच्छी प्रकार पुष्ट हो । यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है । मनुष्यको ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये । वीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और पुष्टि ये चार प्रकार हैं । हरएक मनुष्यको अपना शरीर इन चतुर्विधबलोंसे युक्त करना चाहिये ।

कोई मनुष्य किसी कारण रोगी अथवा कृश हुआ तो उसको चाहिए कि वह सुयोग्य वैद्यसे चिकित्सा करवाकर नीरोग और हृष्टपुष्ट बने । उत्तम हृष्टपुष्ट, नीरोग और बलवान् मनुष्य ही स्त्रीसे संबंध करे । अन्य अशक्त मनुष्य दूर रहें । तथा मनुष्य बलवान् बनकर सदा पराक्रम करे ।

अपनी शक्तिका विस्तार

कांड ६, सूक्त ४१

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - चन्द्रमाः, मन्त्रोक्ताः, बहुदेवत्यम् ।)

मन॑से॒ चेत॑से धि॒य आकू॑तय उ॒त चित्त॑ये । म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥
अ॒पा॒नाय॑ व्या॒नाय॑ प्रा॒णाय॒ भूरि॑धायसे । सर॑स्वत्या उरु॒व्यचे॑ वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २ ॥

अर्थ- (मनसे, चेतसे, धिये) मन, चित्त, बुद्धि, (आकूतये चित्तये) संकल्प, स्मृति, (मत्यै, श्रुताय, उत चक्षसे) मति, श्रवण और दर्शनशक्तिकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ १ ॥

अपान, व्यान, (भूरि-धायसे प्राणाय) बहुत प्रकारसे धारण करनेवाले प्राण और (उरुव्यचे सरस्वत्यै) बहुत विस्तृत प्रभावशाली विद्यादेवीकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ २ ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

अर्थ—(य तनूपाः) जो शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं तथा (ये नः तन्वः तनू-जाः) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं (दैव्याः ऋषयः) वे दिव्य ऋषि (नः मा हासिषुः) हमें न छोडें। ये (अमर्त्याः मर्त्यान् नः अभि सचध्वं) अमर देव हम मरनेवालोंसे मिलकर रहें और (नः प्रतरं आयुः जीवसे धत्त) हमें उत्कृष्ट आयु दीर्घ जीवनके लिये धारण करायें ॥ ३ ॥

अपनी शक्तिका विस्तार

अपनी शक्तियां

मन, चित्त, धारणावती बुद्धि, संकल्प शक्ति, स्मृति, मति, श्रवणशक्ति, दृष्टि, प्राण, अपान, व्यान, विद्या-ज्ञान-विज्ञान इत्यादि अनंत शक्तियां मनुष्यके अन्दर हैं। इनका विकास करना चाहिये। मनुष्यका विकास तब ही होगा, जब इसकी इन शक्तियोंकी वृद्धि हो और वे शक्तियां प्रशस्ततम सत्कर्ममें लग जाय। प्रथम मन्त्रमें अन्तःकरणकी शक्तियों और ज्ञानेन्द्रियोंका भी उल्लेख है। द्वितीय मन्त्रमें प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उल्लेख है। यद्यपि इन मन्त्रोंमें कर्मेंद्रिय आदि अनेक शक्तियोंका उल्लेख नहीं है, तथापि उल्लिखित इंद्रियशक्तियोंके अनुसंधानसे अन्य इंद्रियों, अवयवों और शक्तियोंका भी ग्रहण यहां करना उचित है। अर्थात् अपने अन्दरकी संपूर्ण शक्तियोंको उत्कृष्ट बनानेका यत्न करना चाहिये।

ऋषि

इस सूक्तके तीसरे मन्त्रमें ऋषियोंका निश्चित पता दिया है। इससे ऋषियोंके आश्रमका उत्तमता रीतिसे पता लग सकता है—

तनूजाः तनूपाः दैव्याः ऋषयाः (मं. ३)

'शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरकी रक्षा करनेवाले ये इंद्रियरूपी ऋषि यहीं है।' और यह शरीर ही उनका आश्रम है। इस आश्रममें ये रहते हैं और यहाका सब कार्य करते हैं।

अमार्त्याः दैव्याः ऋषयः। (मं. ३)

'ये इन्द्रियरूपी ऋषि दैवीशक्तिसे युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है।' ये दैवी शक्तियां मनुष्यके शरीरमें विकसित हों और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे, इस विषयमें उपदेश देखिये—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः नः मर्त्यान् अभिसचध्वम्।
(मं० ३)

'ये अमर शक्तिसे युक्त दिव्य ऋषि अर्थात् इंद्रिय शक्तियां हम सब मर्त्य मनुष्योंको चारों ओरसे प्राप्त हों।' और—

प्रतरं आयुः जीवसे नः धत्त। (मं० ३)

'उत्तम आयु दीर्घजीवनके लिये हमें प्राप्त हो।' अर्थात् हमारी इंद्रियोंमें वह दैवीशक्ति उत्तम प्रकार कार्य करनेमें समर्थ होवे।

सप्तऋषि शब्द मनुष्य शरीरके इंद्रियोंका वाचक है, दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुख (वागिंद्रिय) ये सात ऋषि हैं अथवा- त्वचा, नेत्र, कान, जिव्हा, नाक, मन और बुद्धि ये भी सप्त ऋषि हैं। इनमें दैवीशक्ति है यह जान-कर इनको देवतारूप बनानेका यत्न मनुष्य करे और सब प्रकारसे समर्थ होकर कृतकृत्य बने।



आत्मबल

कांड ५, सूक्त १६

(ऋषिः – विश्वामित्रः । देवता – एकवृषः ।)

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १ ॥ यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ २ ॥
यदि त्रिवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ३ ॥ यदि चतुर्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ४ ॥
यदि पञ्चवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ५ ॥ यदि षड्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ६ ॥
यदि सप्तवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ७ ॥ यद्यष्टवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ८ ॥
यदि नववृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ९ ॥ यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि ॥ ११ ॥

अर्थ— (यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः असि) यदि तू एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ और दस शक्तियोंसे युक्त है, तो (सृज) बल उत्पन्न कर, नहीं तो (अरसः असि) तू निःसत्व ही रहेगा। तथा यदि तू (एकादशः असि) ग्यारहवां है, तो (अपउदकः असि) तू प्राकृतिक जीवन रससे रहित है ॥ १-११ ॥

मनुष्यमें दस इंद्रियशक्तियां हैं। प्रत्येक इंद्रियमें बडी भारी वृषशक्ति, अथवा अश्वशक्ति है। शरीरस्थ आत्मा इन सब शक्तियोंसे युक्त रहती है। शरीरमें आनेके पश्चात् आत्माको चाहिए कि वह अपना बल बढावे, यदि यह बल बढानेका प्रयत्न न करेगी, तो निःसंदेह इसका बल घटता जायगा। बल न घटे इसलिये इसको उचित है कि, वह अपना बल बढानेका यत्न करे। जिस समय यह ग्यारहवीं शुद्ध आत्मा अर्थात् देहसे विरहित आत्मा होती है, उस समय उसके पास ये प्राकृतिक शक्तियां नहीं होती हैं। उस समय वह केवल आत्मिक शक्तिसे ही युक्त रहती है और वह अखंड शक्ति होती है, इसलिये उस समय उसमें घटना या बढना कुछ नहीं हो सकता है।

सत्यका विजय

कांड ५, सूक्त १५

(ऋषिः – विश्वामित्रः। देवता – मधुला वनस्पतिः।)

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥
द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ २ ॥
तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतजाते ओषधे) सत्य पालक और सत्यसे उत्पन्न औषधि! तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधुला करः) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर। (मे एका च दश च अपवक्तारः) मेरे एक या दस निंदक हो, (द्वे विंशतिः च) दो और बीस, (तिस्रः त्रिंशच्च) तीन और तीस (चतस्रः चत्वारिंशत्

पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ७ ॥
अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ८ ॥
नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ९ ॥
दश च मे शतं च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १० ॥
शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

च) चार और चालीस (पञ्च पञ्चाशत् च) पांच और पचास, (षट् षष्टि च) छः और साठ, (सप्त सप्ततिः च) सात और सत्तर, (अष्ट अशीतिः च) आठ और अस्सी, (नव नवति च) नौ और नब्बे, (दश शतं च) दस और सौ, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवक्तारः) निंदक क्यों न खडे हों और मुझे रोकनेका यत्न क्यों न करें, मैं सत्यमार्गसे ही उनका प्रतिकार करूंगा । इसलिये सर्वत्र मेरे लिये मधुरता फैले ॥ १-११ ॥

सत्यसे यश

इस सूक्तमें ऋतावरी ऋतजाता औषधिका नाम है । यह कौन औषधि है, इसका पता नहीं लगता । परंतु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है । अपितु जो निंदक शत्रु हैं उनको सत्यपालन और सत्य व्यवहारसे ही ठीक करना और सत्यका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है । सत्यपालन करनेवालेके लिये सब दिशाएं मधुरतायुक्त हो जाती हैं, अर्थात् उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता । सत्यपालन करनेवाला मनुष्य शत्रुरहित होजाता है । मानो ' सत्यपालनका व्रत ' ही सब दोषोंको धोनेवाली वीरुधी अथवा औषधि है । इस सूक्तमें कहे हुए संख्याका क्या भाव है यह समझमें नहीं आता ।

बलसंवर्धन

कांड ४, सूक्त ४

(ऋषि – अथर्वा । देवता – वनस्पतिः, नानादेवताः ।)

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे । तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

अर्थ— (यां त्वा) जिस तुझको (गन्धर्वः मृत-भ्रजे वरुणाय अखनत्) गंधर्वने शक्तिहीन वरुणके लिये खोदा है (तां त्वा शेपहर्षणीं ओषधिं) उस तुझ इंद्रियके सामर्थ्य बढानेवाली औषधिको (वयं खनामसि) हम भी खोदते हैं ॥ १ ॥

(वाजिना शुष्मेण) शक्ति और बलके प्रभावसे (उषाः उदेजतु) उषा ऊपर उठे, (उ सूर्यः उत्) सूर्य ऊपर चढे, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन भी ऊंचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापतिः उत् एजतु) बलवान् प्रजापति भी ऊंचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— तरुण मनुष्यके शक्तिहीन होनेपर उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वैद्य इंद्रियशक्ति बढानेवाली औषधि देवे ॥ १ ॥

जिस प्रकार उषा प्रकाशती है, उदयके पश्चात् सूर्य चमकने लगता है, और वक्ताकी आवाज ऊंची होती जाती है, उसी प्रकार इस औषधिके सेवनसे संतानका पिता पुनः बलवान् हो ॥ २ ॥

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति । ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥
उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम् । सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति । अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि । क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥
अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च । अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यथा स्म ते विरोहतः) जिस प्रकार तेरी वृद्धिके समय (अभि तप्तं इव अनति) तप्त होनेके समान श्वास लम्बा होता है (इयं ओषधिः) यह औषधि (ततः ते शुष्मवत्तरं) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान् (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

(ऋषभाणां ओषधीनां शुष्मा सारा उत्) ऋषभक नामक औषधियोंका बलवर्धक सार बल बढावे । हे (तनूवशिन् इन्द्र) शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र ! (पुंसां वृष्ण्यं अस्मिन् धेहि) पुरुषोंका बल इसमें सम्यक् रीतिसे धारण करा ॥ ४ ॥

(वनस्पतीनां अपां प्रथमजः रसः) वनस्पतिके जलांशका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अथ उत सोमस्य भ्राता असि) और सोमका रस, भाई जैसा पोषणकर्ता है, (उत आर्शं वृष्ण्यं असि) और उठाने तथा बल बढानेवाला है ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे अग्ने ! (सवितः) हे सविता ! (सरस्वति) हे सरस्वती देवी ! (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मणस्पते ! (अद्य) आज (अस्य पसः धनुः इव आतानय) इसकी इंद्रियको धनुषके समान फैला ॥ ६ ॥

(धन्वनि अधि ज्यां इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं, (अहं ते पसः तनोमि) उसी तरह मैं तेरी इन्द्रियको फैलाता हूं । (ऋशः रोहितं इव) जैसे हिंसक पशु हरिणपर धावा करता है, उसी प्रकार तू (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

(अश्वस्य अश्वतरस्य अजस्य पेत्वस्य च) घोडेके, खच्चरके, और मेंढेके, (अथ ऋषभस्य) और बैलके (ये वाजाः) जो बल हैं, हे (तनूवशिन्) शरीरको वशमें करनेवाले ! तू (तान् अस्मिन् धेहि) उन बलोंको इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— इस औषधिसे शरीर अधिक बलवान् होगा और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका यह शक्तिवर्धक सार है । शरीरको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंकी शक्तिवर्धक इस सार रूप औषधको धारण करके बलवान् बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्वरस, सोमवल्लीका रस ये सब शक्ति बढानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवो ! आज इसकी इन्द्रियकी शक्ति बढाओ ॥ ६ ॥

इसकी इन्द्रियोंको मैं पुष्ट करता हूं, जैसे हिंस्रपशु हरिणको पकडता है, उसी प्रकार यह न थकता हुआ चढाई करे ॥ ७ ॥

घोडे, खच्चर, मेंढे और बैलमें जो शक्तियां हैं वे सब शक्तियां, हे शरीरको स्वाधीन करनेवाले मनुष्य ! तू इस अपने शरीरमें धारण कर ॥ ८ ॥

बलवर्धन

इन्द्रियोंके बल बढानेवाली औषधियोंका इस सूक्तमें वर्णन है, विशेष करके पुरुषकी जननेन्द्रियकी शक्ति पुनः पूर्ववत् स्थिर करनेके लिये ऋषभक औषधियोंका रस सेवन करनेका उपदेश इसमें है। ऋषभक औषधि और जीवन औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे सोमवल्ली वहां होती है। इसीलिये ऋषभकको सोमका भाई मं. ५ में कहा है। यह ऋषभक औषधि वीर्यवर्धक है। वाजीकरणके लिये अत्यंत उपयोगी है। (इस विषयमें हम अधिक लिखना नहीं चाहते।) सुयोग्य वैद्य इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें। यह औषधि वीर्यवर्धनके लिये अत्यंत गुणकारी औषधि है ऐसा इस सूक्तसे प्रतीत होता है।

क्षात्रबल-संवर्धन

कांड ४, सूक्त २२

(ऋषिः - वसिष्ठः, अथर्वा वा। देवता - क्षत्रियो राजा, इंद्रश्च।)

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्। ॥ १ ॥
निरमित्राँनक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य। ॥ २ ॥
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा। ॥ ३ ॥
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य

अर्थ— हे इन्द्र ! तू (मे इमं क्षत्रियं वर्धय) मेरे इस क्षत्रियको बढा, और (मे इमं विशां एकवृषं त्वं कृणु) इसके सब शत्रुओंको
मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान कर। (अस्य सर्वान् अमित्रान् निरक्ष्णुहि) इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और (अहं-उत्तरेषु) मैं-श्रेष्ठ हूं, मैं-श्रेष्ठ हूं इस प्रकारकी होनेवाली स्पर्धामें (तान् सर्वान्) उन सब
शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु आभज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोडों और गौवोंमें योग्य भाग दे। (यः अस्य अमित्रः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दे। (अयं राजा क्षत्राणां वर्ष्म अस्तु) यह राजा क्षात्रगुणोंकी मूर्ति होवे। हे इन्द्र ! (अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

(अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोंका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे। हे इन्द्र ! (अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि) इसमें बडे तेजोंको स्थापन कर। (अस्य शत्रुं अवर्चसं कृणुहि) इसके शत्रुको निस्तेज कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेजको बढा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान् कर। इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्बल हो जावें और सब स्पर्धाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रत्येक ग्राममें, घोडों और गौओंमेंसे इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो। इसके शत्रु निर्बल बन जायें। यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियोंकी मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें ॥ २ ॥

इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हों, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके तेज बढें और इसके सब शत्रु फीके पडें ॥ ३ ॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥ ४ ॥
युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥
उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून्
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी ! (घर्मदुघे धेनू इव) धारोष्ण दूध देनेवाली दो गौवोंके समान (अस्मै भूरि वामं दुहाथां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो । (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः) गौ, पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

(ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनज्मि) तेरे साथ श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुको मैं संयुक्त करता हूं । (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है । (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुमको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और (उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

हे राजन् ! (त्वं उत्तरः) तू अधिक ऊंचा हो, (ते सपत्नाः) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (अधरे) नीचे होवें । तू (एक वृषः) अद्वितीय बलवान् (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रु जैसा आचरण करनेवालोंकी भोजनसामग्रीको यहां ले आ ॥ ६ ॥

(सिंहप्रतीकः सर्वाः विशः अद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर । (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अव बाधस्व) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटा दे । (एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान्) अद्वितीय बलवान्, प्रभुका मित्र और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि आ खिद्) शत्रुके समान व्यवहार करनेवालोंकी भोजन सामग्री छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

भावार्थ— ये दोनों द्यावा पृथिवी लोक इसको सब प्रकारके धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने । ईश्वर, मनुष्य, पशु, पक्षी और औषधियोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक संबंध जोड दे, जिससे इसका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे । यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और मनुष्योंके सब राजोंमें श्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

यह राजा ऊंचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों । यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ॥ ६ ॥

यह राजा सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बन कर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओंको दूर करे । अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ॥ ७ ॥



क्षात्रबल संवर्धन

स्पर्धा

' अहं-उत्तरेषु ' यह शब्द प्रथम मन्त्रमें है। यह स्पर्धाका वाचक है। ' मैं सबसे ऊंचा होऊं ' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबसे आगे बढूं। मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूं, मैं सबसे अधिक यश, धन, प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापी, यशस्वी और समर्थ बनूं। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उपयोग करके मनुष्य उच्च हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होनेके लिये शत्रुओंकी अपेक्षा अपना बल बढाना चाहिये। शत्रुने जितनी विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त किया है, उसकी अपेक्षा अधिक विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। उन्नतिका कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यत: क्षत्रियोंके यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषत: राजाका बल बढानेका उपदेश दे रहा है। सब जगत्में अग्रस्थानमें रहनेके लायक अपने राष्ट्रकी उन्नति करना हरएक राजाका कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु हों, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके वीरोंको उन्नत करनेसे उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बडे विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि ' अहं-उत्तरेषु ' यह मन्त्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊं, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अग्रभागमें रहे, इसकी सिद्धिके लिये हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धि करके अपने आपको और अपने राष्ट्रको उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव ' अहं-उत्तरेषु ' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसे क्षात्रतेज रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता है। इस गुणकी उन्नति करनी चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्रमें किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। ' विशां एक वृषं कृणु त्वं। ' (मं १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू हो, यह अर्थका तात्पर्य इस मन्त्रमें है। यही विजयकी कुंजी है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बलकी वृद्धि करे। यह बल चार प्रकारका होता है, ज्ञानबल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत्में अग्रस्थानमें लाकर ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहां दूसरोंको गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय उद्धार करनेका उच्च उपदेश यहां है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावटकी स्पर्धा न हो। मन्त्रका पद ' अहं-उत्तरेषु ' है न कि ' अहं-नीचेषु '।

सत्यका बल

कांड ४, सूक्त ३६

(ऋषि - चातन। देवता - सत्योजा अग्नि।)

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा। यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥

अर्थ — (यः नः दुरस्यात्) जो हमें दुष्ट अवस्थामें फेंके, (च दिप्सात्) नाश करे, (अथो यः नः अरातियात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान बर्ताव करे, (सत्य-ओजः वैश्वा-नर) सत्य बलवाला विश्वका नेता (वृषा अग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्रदहतु) उनको भस्म कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ — जो लोगोंको बुरी अवस्थामें फेंक देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और शत्रुता करते हैं, उनको सत्य बलवाला विश्वचालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

*

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति । वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥
य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये । क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥
सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे । सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥
ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् । नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥
तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव । श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥
न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

अर्थ— (य अदिप्सत न दिप्सात्) जो निरपराध होते हुए भी हमारा नाश करनेका यत्न करे, अथवा (य च दिप्सत दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी कष्ट देता है (तं वैश्वानरस्य अग्ने दंष्ट्रयोः) उसे मैं विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों दाढोंमें (अपि दधामि) रखता हूं ॥ २ ॥

(ये आगरे) जो घरमें (प्रति क्रोशे अमावास्ये) कलहके अवसरमें अथवा अमावास्याकी रात्रीमें (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं (अन्यान् दिप्सतः क्रव्यादः तान् सर्वान्) दूसरोंके घातक मांसभोजी उन सबको मैं (सहसा सहे) अपने बलसे पराभूत करता हूं ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्त पीनेवालोंका बलसे पराभव करता हूं । (एषां द्रविणं ददे) इनका धन मैं हर लेता हूं । (दुरस्यतः सर्वान् हन्मि) दुष्ट अवस्थातक पहुंचानेवाले सब दुष्टोंका नाश करता हूं । (मे आकूतिः सं ऋध्यताम्) मेरा यह संकल्प सफल हो ॥ ४ ॥

(ये देवाः तेन हासन्ते) जो दिव्य जन उसके साथ हंसी खेल करते हैं (सूर्येण जवं मिमते) और सूर्यसे वेगका मापन करते हैं उनसे और (नदीषु पर्वतेषु ये तैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं (संविदे) मिलता हूं ॥ ५ ॥

जैसे (गोमतां व्याघ्र इव) गौओंके पालन करनेवालोंको व्याघ्रका भय होता है वैसे ही मैं (पिशाचानां तपनः अस्मि) रक्त पीनेवालोंको तपानेवाला हूं । (सिंहं दृष्ट्वा श्वानः इव) सिंहको देखकर जिस प्रकार कुत्ते घबराते हैं उसी प्रकार मेरे प्रभावसे (ते न्यञ्चनं न विन्दन्ते) वे दुष्ट लोग अपनी रक्षाका स्थान प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

(यं ग्रामं अहं आविशे) जिस ग्राममें मैं प्रविष्ट होता हूं उस ग्राममें (पिशाचैः न सं शक्नोमि) रुधिर पीनेवालोंके साथ मेल नहीं करता (न स्तेनैः) चोरोंके साथ और (न वनर्गुभिः) जंगली डाकुओंके साथ मेल नहीं करता इसलिये (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्रामसे रक्त पीनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमसे थोडासा अन्याय होनेपर भी जो अपने हाथमें अधिकार लेकर हमारा नाश करता है, उसको विश्वचालक तेजस्वी देवको दाढोंमें मैं धर देता हूं ॥ २ ॥

जो घरमें कलहके समयमें अथवा अमावास्याकी अंधेरी रात्रीमें ढूंढ ढूंढ कर लोगोंको सताते हैं उन सबको अपने बलसे मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

रक्त पीनेवाले दुष्टोंको मैं दूर करता हूं और इनका धन छीनता हूं । क्लेश देनेवाले इन दुष्टोंका मैं समूल नाश करता हूं । यह मेरी इच्छा सफल हो जावे ॥ ४ ॥

जो सज्जन सदा अपने ही निजानंदमें मस्त रहते हैं और सूर्यकी गतिसे अपने वेगको मापते हैं उनके साथ, मित्रता करता हूं, इतना ही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मत्स्यादि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले चतुष्पाद प्राणियोंके साथ भी मैं मैत्री रखता हूं ॥ ५ ॥

गौवें जैसे व्याघ्रसे डरती हैं उसी प्रकार रक्त पीनेवाले दुष्ट मुझसे घबराते हैं । जिस प्रकार सिंहके सन्मुख कुत्ता नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार मेरे सन्मुख वे दुष्ट सुखका स्थान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६ ॥

मैं जिस ग्राममें पहुंचता हूं वहांसे रुधिर पीनेवाले चोर डाकू आदि सब दुष्ट दूर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ८ ॥
ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव । तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥
अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या । मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ— (मम इदं उग्र सहः) मेरा यह उग्र बल (यं ग्रामं आविशते) जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है, (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उससे रक्त पीनेवाले नष्ट हो जाते हैं और फिर उस ग्रामके वासी (पापं न उपजानते) पापको जानते भी नहीं ॥ ८ ॥

(हस्तिनं मशकाः इव) हाथीको जिस प्रकार मच्छर क्रोधित करते हैं उसी प्रकार (ये मां लपिताः क्रोधयन्ति) मुझे ये बकबक करनेवाले क्रुद्ध करते हैं, (तान् अल्पशयून् इव) उनको अल्प कीडकोंके समान (अहं जने दुर्हितान् मन्ये) मैं लोकोंमें दुःख बढानेवाला मानता हूं ॥ ९ ॥

(त निर्ऋतिः अभिधत्तां) उसको दुर्गति प्राप्त होवे (अश्वाभिधान्या अश्व इव) घोडोंको बांधनेकी रस्सी से जैसे घोडा बांधा जाता है और उससे छूटता नहीं (यः मल्वः मह्य क्रुध्यति) उसी प्रकार जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है (सः उ पाशात् न मुच्यते) वह पाशोंसे नहीं छूटता ॥ १० ॥

भावार्थ— मेरा उग्र शौर्य जिस ग्राममें चमकता है वहां रुधिर भोजी क्रूर मनुष्य नष्ट हो जाते हैं, अथवा यदि वे वहीं रहें तो भी वे अपने पापविचारको छोड देते हैं ॥ ८ ॥

जो दुर्जन अपने दुराचारके द्वारा मुझे क्रोधित करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि मैं जानता हूं कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पहुंचते हैं ॥ ९ ॥

जो मलिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे दुर्गतिको निःसंदेह प्राप्त होते हैं और वे बंधनमें फंस जाते हैं ॥ १० ॥

सत्यका बल

सत्यका बल

सत्यका बल कितना बडा होता है इसका मनोरंजक वर्णन इस सूक्तमें किया है। सप्तम और अष्टम मंत्रमें कहा है कि--' जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान् हुआ मनुष्य पहुंचता है, उस ग्रामसे चोर डाकू लुटेरे दुष्ट और दूसरेका खून चूसनेवाले दूर हो जाते हैं। सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता। सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहांसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहां रहे तो भी वे अपने पापी विचारको त्याग देते हैं।' (मं. ७-८)

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ होने पर पूरे ग्रामका सुधार हो जाता है। एक मनुष्यके सत्यनिष्ठ होनेसे अर्थात् उसके कायां-वाचा-मनसा असत्यके कुविचार उत्पन्न न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उक्त प्रकार सुधार कर सकता है।

सत्यका बल इतना बडा है और मनुष्यकी उन्नति भी इसी सत्यनिष्ठासे होती है। अपने ग्राममें चोर डाकू लुटेरे या दुष्ट यदि हैं तो समझना चाहिये कि अपने अंदर उतनी सत्यनिष्ठा नहीं बढी जितनी बढनी चाहिये। अपने ग्रामकी परीक्षासे इस प्रकार अपनी परीक्षा हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है। व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर इस प्रकार प्रभाव होता रहता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये यमनियम यदि एक भी मनुष्यमें बढ जाएं और स्थिर हो जाएं तो उसकी अन्तःपवित्रताके कारण वह ग्राम सुधर जाता है। इसलिये इस सत्यके बलको अपने अंदर बढानेका प्रयत्न जहांतक हो सके वहां तक हरएकको करना चाहिये।

दुष्ट मनुष्य

दुष्ट मनुष्योंके कुछ लक्षण इस सूक्तमें दिये गए हैं उनका यहां विचार करते हैं—

(१) दुरस्यात्- जो दूसरोंको बुरी अवस्थामें फेंकता है। (म. १)

(२) दिप्सात्- जो दूसरोंका घात अथवा नाश करता है। (म. १,२)

(३) अरातीयात्- जो शत्रुता करता है, निंदा अथवा द्वेष करता है, शत्रुके समान आचरण करता है। (म. १)

(४) अदिप्सतः दिप्सात्- दूसरोंको कभी कष्ट न देनेवाले सज्जनोंको भी जो क्लेश पहुंचाता है। (म. २)

(५) दिप्सतः दिप्सति- थोडासा कष्ट देनेपर भी जो अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित नुकसान करता है। (मं. २)

(६) आगरे दिप्सति- जो घरमें घुसकर विनाकारण घात करता है। (म. ३)

(७) प्रतिक्रोशे दिप्सति- थोडीसी बातचीत होनेपर जो विनाकारण क्रुद्ध होकर मारपीट करता है। (म. ३)

(८) आमावास्ये मृगयन्ते- अमावास्याकी रात्रीमें जो ढूंढ ढूंढकर डाका डालता है। (म. ३)

(९) पिशाचाः- कच्चा रक्त पीनेवाला और कच्चा मांस खानेवाला क्रूर मनुष्य। (म. ४, ६, ७, ८)

(१०) स्तेन-चोर, लुटेरे, डाकू। (म. ७)

(११) वनर्गु- जंगलमें रहते हुए ग्रामके लोगोंको कष्ट देनेवाले लोग। (मं. ७)

(१२) जने दुर्हितान्- लोगोंका अहित करनेवाले। (म. ९)

(१३) अल्प शयून्- रात्रीमें थोडी निद्रा लेनेवाले अर्थात् शेष रात्रीमें डाका डालनेवाले डाकू। (म. ९)

(१४) मलवः- मलिन आचारवाले, दुष्ट। (म. १०)

दुष्ट मनुष्योंके ये चौदह लक्षण इस सूक्तमें हैं। इनका विचार करके अपने ग्राममें कौन मनुष्य किस प्रकारका दुष्ट है यह जान सकते हैं और अपने ग्रामका सुधार भी इनको सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं। अष्टम मंत्रमें कहा ही है कि- ' सत्यनिष्ठ मनुष्य ग्राममें होने पर उसके सत्यके बलसे या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा अपनी दुष्टता छोड देते हैं और सज्जन बनकर रहते हैं।' यही ग्राम सुधारकी रीति है।

वैश्वानरकी दंष्ट्रा

दुष्ट मनुष्य अथवा अपराधी मनुष्यको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, अपितु ' वैश्वानरकी दंष्ट्रा ' में उसको रख देना चाहिये, यह उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें दिया है। यह ' वैश्वानरकी दंष्ट्रा ' क्या है इसका विचार अवश्य करना चाहिये। ' विश्व ' शब्दका अर्थ ' सब ' है, ' नर ' शब्द मनुष्यवाचक है अर्थात् ' विश्वानर ' शब्द ' सब मनुष्योंके समूह ' का वाचक है। संपूर्ण मानवोंके एक संघकी कल्पना ' वैश्वानर ' शब्दसे ली गई प्रतीत होती है। इसकी दंष्ट्रा न्यायालय अथवा पंचके नामसे प्रसिद्ध है। इस न्यायालयके सन्मुख उस अपराधीको रख देना चाहिये।

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्रत्युत अपने पंचोंके शासनाधिकारमें ही संतुष्ट रहे, यह सभ्यताका आदेश है जो ऐसे सूक्तोंमें वेदने दिया है। ग्राम, नगर और राष्ट्रमें शान्ति रखनेके लिये इस नियमके पालनकी अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे सभ्य नहीं कहलाते।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्यों कि वे (पिशाचाः) अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका खून चूसनेवाले हिंसक होते हैं। वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हिंसकोंका हिंसाभाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिसे कहे हैं। इसी हेतुसे इस सूक्तके पंचम मंत्रमें नदियों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले जीवजन्तुओंके साथ (सं विदे) सहानुभूति करनेकी सूचना दी है। संवेदनाका अर्थ ' अपने सुखदुःखके समान उनके भी सुखदुःखको समझना '।

सुधारके दो उपाय

ये नदीषु पर्वतेषु (पशवः सन्ति) तैः पशुभिः संविदे। (म. ५)

' जो नदियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनके लिये मैं सहृदयता अपने मनमें धारण करता हूं। ' यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करनी चाहिये। ' मेरेसे किसी भी जीवजन्तुके लिये कोई भय नहीं हो, ' यह संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केंद्र अपने अन्तःकरणमें जाग्रत करना चाहिये, पश्चात् सब उन्नतियां होनी संभव हैं। यह अपने हृदयकी तैयारी होनेके पश्चात्—

ये देवाः तेन हासन्ते, सूर्येण जयं मिमते ।
(म० ५)

'जो देव उस आत्मानन्दसे सदा हसते रहते हैं और अपनी उन्नतिका वेग सूर्यको गतिसे मापते हैं' उनसे संगति करनी चाहिए । जब पहिले अपने मनके अंदर अहिंसा स्थिर हो जायगी तभी ऐसे श्रेष्ठ सज्जनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा । अर्थात् सुधारके उपाय दो हैं, एक अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाना और दूसरा दिव्य जनोंसे मित्रता करना । इस प्रकार मनुष्य अचूक उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढ सकता है ।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस ग्राममें पहुंचता है, उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य रहते नहीं और यदि रहते भी हैं तो वे अपनी दुष्टता दूर करके ही रहते हैं । इस कसौटीसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उन्नतिके मार्ग पर चलना चाहिए ।

आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना

कांड ६, सूक्त १९

(ऋषि. - शन्तातिः । देवता - चन्द्रमा, मानादेवता ।)

पुनन्तुं मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया । पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥
पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे । अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । अस्मान्पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवजना मा पुनन्तु) दिव्य जन मुझे शुद्ध करें । (मनवः धिया पुनन्तु) मननशील अपनी बुद्धिसे पवित्र करें । (विश्वा भूतानि पुनन्तु) सब भूत मुझे पवित्र करें और (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

(क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्म, बल और दीर्घ आयुके लिये (अथो अरिष्टतातये) और कल्याणके विस्तारके लिये (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥

हे (देव सवितः) सबके उत्पादक देव ! (चक्षसे) तेरे दर्शनके लिये (उभाभ्यां पवित्रेण) दोनों पवित्र विचार और (सवेन च) यत्नसे (अस्मान् पुनीहि) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शारिरिक तथा मानसिक शक्ति दीर्घ आयु बढानेके लिये और कल्याणकी प्राप्तिके लिये विचार व आचारकी पवित्रतासे अपने आपको पवित्र करना हरएकको उचित है । उस कार्यके लिये यह उत्तम ईश्वर-प्रार्थना है ।

मैं उत्तम बनूंगा

कांड ६, सूक्त १५

(ऋषि - उद्दलकः । देवता - वनस्पति ।)

उत्तमो अस्योषधीनां तर्व वृक्षा उपस्तयः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥१॥

अर्थ— (ओषधीनां उत्तमः असि) तू औषधियोंमें उत्तम है । (वृक्षाः तव उपस्तयः) अन्य वृक्ष तेरे समीपवर्ती हैं । अतः (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाकर हमारा नाश करनेका इच्छुक है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारा अनुगामी होवे ॥ १ ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः । तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (सबन्धुः च असबन्धुः च) बन्धुवाला अथवा बन्धुरहित, (यः अस्मान् अभिदासति) जो भी हमारा नाश करता है (वृक्षाणां सा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार (अहं तेषां उत्तमः भूयासं) मैं उनसे उत्तम होऊं ॥ २ ॥

(यथा सोमः हविषां ओषधीनां उत्तमः कृतः) जिस प्रकार सोम हविके पदार्थों और ओषधियोंमें उत्तम है और (वृक्षाणां तलाशा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार (अहं उत्तमः भूयासं) मैं उत्तम बनूं ॥ ३ ॥

मैं श्रेष्ठ बनूंगा

' मैं उत्तम बनू, मैं श्रेष्ठ बनू ' यह महत्वाकांक्षा मनुष्यमें होनी चाहिये । मनुष्यका अभ्युदय और निःश्रेयस इसी इच्छापर निर्भर है । शत्रुको नीचे दबानेसे भी उनसे अपनी अवस्था उच्च बन सकती है, परन्तु यहां कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अन्योंसे श्रेष्ठ बनो । अन्योंको नीचे गिराना नहीं है, परन्तु अपनी योग्यता सबसे अधिक करनी है ।

यः अस्मान् अभिदासति सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु । (मं. १)

' जो हमारा नाश करना चाहता है, वह हमारे पास उपस्थित होनेवाला होवे ' तथा—

तेषां अहं उत्तमः भूयासम् । (मं २)

' उन सबसे मैं उत्तम बनू ' । मैं अपनी योग्यता ऐसी बढाऊं कि जिससे मेरे सब शत्रु मेरे आश्रयसे रहनेवाले बनें ।

अपनी उन्नति करनेवाली इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे । और जगत्में जो उन्नतिके साधनके नियम है, उनको जानकर, सबसे श्रेष्ठ बने ।

सूचना– इस सूक्तमें आये ' उत्तम, तलाशा ' ये ओषधियोंके भी नाम होंगे । परन्तु इन ओषधियोंका पता आजकल नहीं लगता । ' सोम ' भी आजकल प्राप्त नहीं है ।

सबसे श्रेष्ठ हो

कांड ६, सूक्त ८६

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – एकवृषः ।)

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् । वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥
समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी । चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं) यह (इन्द्रस्य वृषा) इन्द्रके बलसे समर्थ होकर, (दिवः वृषा) द्युलोकसे श्रेष्ठ (पृथिव्याः वृषा) पृथिवीसे भी श्रेष्ठ (विश्वस्य भूतस्य वृषा) और सभी भूतोंसे श्रेष्ठ हो और तू (त्वं एकवृषः भव) अकेलाही सबसे श्रेष्ठ हो ॥ १ ॥

जिस प्रकार (स्रवतां समुद्रः ईशे) बहनेवालोंमें समुद्र मुख्य है । (पृथिव्याः वशी अग्निः) पृथिवीमें सबको वशमें रखनेवाली अग्नि मुख्य है । (नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशे) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है, इस प्रकार (त्वं एकवृषः भव) तू अद्वितीय और सबसे श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

भावार्थ— सूर्य, द्युलोक, पृथ्वी सब प्राणी इनमें जो शक्ति है, उनसे श्रेष्ठ बननेका प्रयत्न कर ॥ १ ॥

जिस प्रकार सब स्रोतोंमें समुद्र प्रमुख है, पृथ्वीको वश करनेवाला अग्नि समर्थ है और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार सब मनुष्योंमें तू समर्थ और श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् । देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

अर्थ– (असुराणां सम्राट् असि) तू असुरोंका सम्राट् है, (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी मुख्य है और (देवानां अर्धभाक् असि) देवोंका अर्धभाग तू है ऐसा तू (एकवृषः भव) सबसे श्रेष्ठ बन ॥ ३ ॥

भावार्थ– असुरवृत्तिवालोंके ऊपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंमें भी तू श्रेष्ठ हो, तथा देवोंके अर्ध आसनपर बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला हो ॥ ३ ॥

सबसे श्रेष्ठ बनना

अपना सामर्थ्य बढाकर सबसे श्रेष्ठ होनेका परम पुरुषार्थ करना हरएक मनुष्यको योग्य है । जो श्रेष्ठ होता है उसीकी प्रशंसा होती है और जो श्रेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है । यह स्मरण रख कर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे श्रेष्ठ बने ।

यशस्वी होना

कांड ६, सूक्त ३९

(ऋषिः - अथर्वा (वर्चस्कामः) । देवता - त्विषिः, बृहस्पतिः ।)

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् । ॥ १ ॥
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये
अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम । ॥ २ ॥
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम
यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत । ॥ ३ ॥
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः

अर्थ– (इन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं) ईश्वरसे प्राप्त, सहस्रों वीर्योंसे युक्त उत्तम भरपूर, (सहस्कृतं हविः यशः वर्धतां) बलसे प्राप्त किया हुआ यशरूप मेरा यश बढे । इससे (दीर्घाय ज्येष्ठतातये) बडी श्रेष्ठताको फैलाने-वाले (चक्षसे) दृष्टि प्राप्त होनेके लिये (प्रसर्स्राणं हविष्मन्तं मा अनुवर्धय) प्रगति करनेवाले अन्नयुक्त मुझको अनुकूलतासे बढा ॥ १ ॥

(यशोभिः यशसं यशस्विनं इन्द्रं) अनेक यशोंसे युक्त होनेके कारण यशस्वी प्रभुको (नमसानाः नः अच्छ विधेम) नमस्कार करते हुए अपने उदयके हेतुसे हम उत्तम प्रकार उसको पूजते हैं । (सः इन्द्रजूतं राष्ट्रं नः रास्व) वह तू प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अथवा तेज हमें दे । (तस्य ते रातौ यशसः स्याम) उस तेरे दानमें हम यशस्वी हों ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशाः) प्रभु यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम भी यशस्वी हुआ है । (विश्वस्य भूतस्य यशाः) संपूर्ण भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं यशवाला हूं ॥ ३ ॥

यशस्वी होना

हजारों सामर्थ्य

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य (सहस्रवीर्य) प्राप्त करने चाहिये । क्योंकि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यसे ही होती है । सामर्थ्यहीन मनुष्य निकम्मा होता है । यह सामर्थ्य (सहस्कृतं) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये । दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उसके बलके दूर होनेपर स्वयं ही दूर हो जाती है, इस कारण अपना बल बढाकर उससे अपने यशकी वृद्धि करनी चाहिये । यह यश (हविः यशः) हवनके समान, यज्ञरूपी यश है । अर्थात् सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला यह यश है । जब कोई मनुष्य सब जनताकी भलाईके लिये आत्म सर्वस्वका त्याग करता है, तब उसको (इन्द्रजूतं यशः) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है ।

यशका स्वरूप

दीर्घाय ज्येष्ठतातये चक्षसे । (मं. १)

' दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठताका विस्तार इस यशसे होता है ' संकुचित दृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता क्षीणत्वकी द्योतक है । इस कारण यशके साथ दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठता अवश्य रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करना चाहिये कि जिसके साथ दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठता रहती है ।

प्रभुकी भक्ति

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशश्विने इन्द्रे नमसानाः विधेम । (मं. २)

' यशस्वी प्रभुको नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति करें । ' यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है और वे यशके भागी होते हैं । उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि—

नः राष्ट्रं रास्व । (मं. २)

' हे प्रभो ! हमें राष्ट्र अथवा तेज दे । ' हमें ऐसा राष्ट्र दे कि जो हमारे यशवर्धन करनेमें सहायक होवे ।

इस जगतमें इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्र ये सब अपने अपने यशसे यशस्वी हुए हैं, उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी बनूं, यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये । देखिये—

अहं यशस्तमः अस्मि । (मं. ३)

' मैं यशस्वी होऊं । ' अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने यशसे यशस्वी हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा । इस प्रकारकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे और अपने प्रयत्नसे उच्च अवस्था प्राप्त करे और चारों पुरुषार्थ सिद्ध करे ।

यशकी इच्छा

कांड ६, सूक्त ५८

(ऋषिः - अथर्वा (यशस्कामः) । देवता - बृहस्पतिः, मन्त्रोक्ताः ।)

यशसं मेन्द्रो मघवान्कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥

अर्थ— (मघवान् इन्द्रः मा यशसं कृणोतु) महत्त्ववान् प्रभु मुझे यशस्वी बनावे । (उभे इमे द्यावापृथिवी मा यशसं) ये दोनों द्यावापृथिवी मुझे यशस्वी बनावें । (सविता देवः मा यशसं कृणोतु) सविता देव मुझे यशस्वी बनावे । और (अहं दक्षिणायाः दातुः प्रियः स्याम्) मैं दक्षिणा देनेवालेका प्रिय हो जाऊं ॥ १ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, सूर्य, इन्द्र आदि सब मेरी सहायता करें जिससे मैं यशस्वी होऊं ॥ १ ॥

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥
यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत । यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ – (यथा इन्द्रः द्यावापृथिव्योः यशस्वान्) जिस प्रकार इन्द्र द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीच यशस्वी है, (यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः) जिस प्रकार रस औषधियोंमें यशयुक्त हैं, (यथा विश्वेषु देवेषु इस प्रकार सब देवोंमें और (सर्वेषु वयं यशसः स्याम) सब प्रजाओंमें हम यशस्वी हों ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशाः) इन्द्र यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम यशस्वी है। (विश्वस्य भूतस्य यशाः) सब भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं अधिक यशवाला हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस त्रिलोकीमें सूर्य तेजस्वी है, सब औषधियोंमें रसभाग मुख्य है, इसी प्रकार सब मनुष्योंमें मैं श्रेष्ठ बनूं ॥ २ ॥

इन्द्र अग्नि अथवा सोम जैसे यशस्वी हुए हैं, उसी प्रकार मैं, अधिक श्रेष्ठ यशवाला होऊं ॥ ३ ॥

मनुष्य ऐसे कार्य करे कि जिससे उसका उत्तम यश फैले। मनुष्यके सामने सूर्य, इन्द्र, अग्नि और सोमके आदर्श रहें। सूर्य सबको प्रकाश देता है, इन्द्र चेतना देता है, अग्नि उष्णता देता है, सोम रोग दूर करता है; इसी प्रकार मनुष्य भी परोपकार करे और यशस्वी बने। सूर्यादि सब देव स्वार्थ छोड परोपकारमें अपने आपको लगा रखते हैं, उनके यशका बीज इस परोपकारमें ही है। जो मनुष्य इस प्रकार निःस्वार्थ जनसेवा करेगा वह भी उनके अनुसार ही प्रशस्त यशसे युक्त होगा।

यशके लिए प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ६९

(ऋषि: – अथर्वा। देवता: – बृहस्पतिः, अश्विनौ।)

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद्यशः । सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती । यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥
मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः । तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरौ) पर्वतपर, (अरगराटेषु) चक्रपथमें (हिरण्ये, गोषु यद् यशः) सुवर्ण और गौवोंमें जो यश है, तथा (सिच्यमानायां सुरायां) बहनेवाली पर्जन्यधारामें तथा (कीलाले मधु) अन्नमें जो मधुरता है (तत् मयि) वह मुझमें हो ॥ १ ॥

(शुभस्पती अश्विनौ) कल्याण देनेवाले दोनों अश्विदेव (सारघेण मधुना मा अंक्तं), सारवाली मधुरतासे मुझे युक्त करें। (यथा भर्गस्वतीं वाचं) जिससे तेजवाली वाणीको (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं ॥ २ ॥

(मयि वर्चः) मुझमें तेज हो, (अथो यशः) और मुझमें यश, (अथो यज्ञस्य यत् पयः) और यज्ञका जो सार है। (दिवि द्यां इव) जैसे द्युलोकमें प्रकाश दृढ है उसीप्रकार (प्रजापतिः तत् मयि दृंहतु) प्रजापालक देव वह मुझमें दृढ करे ॥ ३ ॥

पहाड पर तपस्या करनेवाले मुनियोंमें, चक्रयंत्र चलानेवाले अथवा रथपर चढनेवाले वीरोंमें जो यश होता है, उत्तम वृष्टि जल और श्रेष्ठ शुद्ध अन्नके विषयमें जो प्रशंसा होती है, उस प्रकारकी प्रशंसा मेरे विषयमें होती रहे। अर्थात् मैं भी उनकी तरह दूसरोंके उपयोगके कार्योंमें अपने आपको समर्पित करूं और यशस्वी होऊं। मेरे प्राण और बल उक्त प्रकार श्रेष्ठ कार्यमें समर्पित हों। मेरी वाणी ऐसी हो कि जिससे जनताका भाग्य बढे। इस प्रकार आत्मयज्ञ करनेसे मुझमें तेजस्विता और यश बढे और आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यश बढे।

इस सूक्तमें आत्मयज्ञ द्वारा यश और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है।

निर्भयताके लिये प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४०

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – मन्त्रोक्ताः।)

अभ॑यं द्यावापृथिवी इ॒हास्तु नोऽभ॑यं॒ सोमः॑ सवि॒ता नः॑ कृणोतु ।
अभ॑यं नोऽस्तू॒र्व॑न्तरि॑क्षं सप्तऋ॒षीणां॑ च ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु ॥ १ ॥
अ॒स्मै ग्रामा॑य प्र॒दिश॒श्चत॑स्र ऊर्जं॑ सुभू॒तं स्व॒स्ति स॑वि॒ता नः॑ कृणोतु ।
अ॒श॒त्र्विन्द्रो॒ अभ॑यं नः कृणोत्व॒न्यत्र॒ राज्ञा॑म॒भि या॑तु म॒न्युः ॥ २ ॥
अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॑ उत्त॒रात् । इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॒रस्कृ॑धि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवि ! (इह नः अभयं अस्तु) यहां हमारे लिये अभय होवे। (सोमः सविता नः अभयं कृणोतु) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे। (उरु अन्तरिक्षं नः अभयं अस्तु) यह बडा अन्तरिक्ष हमारे लिये अभयदायी होवे। और (सप्त-ऋषीणां च हविषा नः अभयं अस्तु) सप्त ऋषियोंकी हविसे हमारे लिये अभय प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(सविता) सबकी उत्पत्ति करनेवाला देव (अस्मै नः ग्रामाय) इस हमारे नगरके लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति कृणोतु) बल, ऐश्वर्य और कल्याण उत्पन्न करे। (इन्द्रः नः अशत्रु अभयं कृणोतु) प्रभु हम सबके लिये शत्रुरहित निर्भयता करे। (राज्ञां मन्युः अन्यत्र अभियातु) राजाओंका क्रोध औरोंपर चला जावे ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (नः अधरात् अनमित्रं) हमारे लिये नीचेसे शत्रु दूर होवे। (नः उत्तरात् अनमित्रं) हमारे लिये उच्च भागसे निर्वैरता होवे। (नः पश्चात् अनमित्रं) हमारे लिये पीछेसे निर्वैरता होवे और (नः पुरः अनमित्रं कृधि) हमारे सामनेसे निर्वैरता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सोम, सविता, सप्तऋषि, दिशा, इन्द्र, राजा इन सबसे हम सब लोगोंको अभयता प्राप्त होवे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। अभय प्रार्थनाके लिये यह बडा उत्तम सूक्त है।

ये सब देव अपने अंदर भी हैं, सप्त इन्द्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आंखमें है, चन्द्र मनमें है, दिशाओंने कानोंमें स्थान प्राप्त किया है, इन्द्र मनमें रह रहा है, भूमि स्थूल शरीरके घनभागमें है, अन्तरिक्षका अन्तःकरण बना है, द्युलोकका मस्तक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अंशरूपसे स्थिर ये देव हमारे शरीरके अन्दर निर्भयता स्थापित करें। अर्थात्

शत्रुरूपी रोगों और कुविचारोंको दूर करके हमें अंदरसे शत्रुरहित करे। यह तब होगा जब कि हमारे अंदरके ये देवतारूप शत्रुओंके वशमें न होंगे। अर्थात् सबके सब इंद्रिय सत्कर्ममें प्रवृत्त हों और असन्मार्गसे निवृत्त हों। इस प्रकार विचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग ज्ञात हो सकता है। पर निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये। निर्भयता अन्दरसे होती है बाहरसे नहीं।

कल्याण प्राप्तिकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४८

(ऋषिः – अंगिरा, प्रचेताः। देवता – मन्त्रोक्ताः।)

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे। स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ १ ॥
ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे। स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ २ ॥
वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रभे। स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ – हे देव ! (गायत्र-छन्दाः श्येनः असि) सबकी प्राण रक्षाका संकल्प धारण करनेवाला तू श्येनके समान गतिशील है। इसलिये (त्वा अनु आरभे) तेरे लिये हम सत्कार्यका प्रारंभ करते हैं। (जगत्-छन्दाः ऋभुः असि) तू जगत्की भलाईका संकल्प धारण करनेवाला बड़ा कर्मकुशल है इसलिये (अनु०) तेरे लिये हम इस यज्ञका प्रारंभ करते हैं। (त्रिष्टुप्-छन्दाः वृषा असि) तीनों-अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत संबंधी-साम्यसाधनका धारण करनेवाला तू महाबलवान् बैलके समान सामर्थ्यशाली हो। इसलिये (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञको उत्तम समाप्ति तक (मां स्वस्ति सं वह) मुझे सुखसे ले चल, (स्व-आ-हा) मैं अपनी शक्तिका सबकी भलाईके लिये त्याग करता हूं ॥ १-३ ॥

कल्याणके लिये यत्न

कांड ६, सूक्त ९९

(ऋषि – अथर्वा। देवता – इन्द्रः सोमः सविता च।)

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे। ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥
यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन्न उदीरते। इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

अर्थ – हे इन्द्र ! (पुरा अंहुरणात्) पाप कर्म होनेके पूर्व ही (वरिमतः त्वा त्वा अभि हुवे) श्रेष्ठ होनेके कारण तेरी ही सब प्रकारसे पुकार करते हैं। तथा (उग्रं चेत्तारं) शूरवीर चेतना देनेवाले (एकजं पुरुनामानं ह्वयामि) अकेले परंतु अनेक नामोंसे संपन्न पुरुषकी हम प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥ (यः अद्य सेन्यः वधः) जो आज सेनाका शस्त्र हमें मारनेके लिये (उत् ईरते) ऊपर उठता है, (तत्र इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दध्मः) उस समय हम प्रभुके बाहुओंको अपने चारों ओर धरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ – जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो श्रेष्ठ कर्म करता है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिये। इसी प्रकार जो शूरवीर, जनताको चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे यश प्राप्त करनेवाला है, उसीका गुणगान करना योग्य है ॥ १ ॥

परि॑ द॒द्म इन्द्र॑स्य बा॒हू स॑म॒न्तं त्रा॒तुस्त्राय॑तां नः ।
देवं॑ सवितः॒ सोम॑ राजन्त्सु॒मन॑सं मा कृणु स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दद्मः) प्रभुके बाहुओंको अपने चारों ओर हम धरते हैं, (त्रातुः नः त्रायतां) उस रक्षकके बाहू हमारी रक्षा करे । हे (सोम राजन् देव सवितः) सोम राजा देव ! प्रभो ! (स्वस्तये मा सुमनसं कृणु) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस समय सेनासे हमला होता है और शस्त्रसे वीर एक दूसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसंगोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें । मनुष्य यदि सचमुच कल्याण चाहता है तो वह अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे ॥ ३ ॥

कल्याणका मुख्य साधन

इस सूक्तमें जो कल्याणका मुख्य साधन बताया है वह देखने योग्य है—

स्वस्तये सुमनसम् । (मं० ३)

' कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम मन होना चाहिये ' मनके उत्तम शुभ संकल्पोंसे युक्त होनेपर ही मनुष्यका सचमुच कल्याण हो सकता है । मनमें दोषोंके रहनेपर अवश्य ही कष्ट होंगे । इसी प्रकार हमेशा मनमें यह विश्वास रखना चाहिए कि चाहे कितनी भी बडी विपत्ति आवे, उस प्रभुका हाथ हमेशा हमारे ऊपर है । इस विषयमें देखिये—

सेन्यः वधः जिघांसन् उदीरते ।

तत्र इन्द्रस्य बाहुः समन्तं नः त्रायताम् ॥ (मं० २, ३)

' जब सेनाके शस्त्र वधकी इच्छासे ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे । ' प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको बडी शान्ति देता है और बल भी बढाता है ।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहिये, (१) पाप न करना, (२) श्रेष्ठ कर्म करना और (३) उग्र बनकर जनताको श्रेष्ठ कर्म करनेकी प्रेरणा करना । ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ और यशस्वी बनता है ।

अपनी पवित्रता

कांड ६, सूक्त ६२

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - रुद्रः, मन्त्रोक्ताः ।)

वै॒श्वा॒न॒रो र॒श्मिभि॑र्नः पुनातु॒ वातः॑ प्रा॒णेने॑षि॒रो नभो॑भिः ।
द्यावा॑पृथि॒वी पय॑सा॒ पय॑स्वती ऋ॒ताव॑री य॒ज्ञिये॑ नः पुनीताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः रश्मिभिः नः पुनातु) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी शुद्धि करे । (वातः प्राणेन) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे । (इषिरः नभोभिः) जल अपने विविध रसोंसे हमारी शुद्धता करे । (पयस्वती ऋतावरी) रसवाले, जलयुक्त, (यज्ञिये द्यावापृथिवी) पूजनीय द्युलोक और भूलोक (पयसा नः पुनीतां) अपने पोषक रससे हमें पवित्र करें ॥ १ ॥

भावार्थ— अग्नि वाणीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविधरसके रूपसे, तथा द्युलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे अर्थात् ये देवताएं हमारे शरीरमें आकर रह रही हैं और उन्होंने यहां ये रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

वैश्वानरीं सूनृतामा रंभध्वं यस्या आशास्तन्वो॑ वीतपृष्ठाः ।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥
वैश्वानरीं वर्चस आ रंभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (सूनृतां वैश्वानरीं आरभध्वं) सत्य और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित ईश स्तुतिको प्रारंभ करो (सधमादेषु) सब मिलकर आनन्दित होनेके अवसरमें (वीतपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः) पृष्ठ भागसे रहित दिशायें जिन वाणियोंके शरीर है ऐसे (तया गृणन्तः वयं) उस वाणीसे स्तुति करते हुए हम सब (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी हों ॥ २ ॥

(शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः) शुद्ध, पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाले होकर (वैश्वानरीं वर्चसे आरभध्वं) सब मनुष्योंको ईश्वस्तुतिरूप वाणीको तेजस्विताके लिये बोलना आरंभ करो । (इह इडया सधमादं मदन्तः) यहां स्तुतिरूप वाणीसे साथसाथ आनन्दित होते हुए हम (ज्योक् उच्चरन्तं सूर्य पश्येम) चिरकालतक ऊपर उठे हुए सूर्यको देखते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब मनुष्य सत्य भाषण करें और ईश्वरके गुणगान करें । इस प्रकारकी वाणीके लिये अमर्यादित स्थान है । हम उक्त प्रकारके वचन कहते हुए धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

हम अन्तर्बाह्य शुद्ध हों, साथवालोंको पवित्र बनावें, शुभ वाणी बोलें और सब मिलकर आनन्दित होते हुए दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

मनुष्य शरीरमें सब देवताएं अंशरूपसे रहती हैं । यहां अग्निने वाणीका रूप लिया है, वायुने प्राणका रूप लिया है, जलने रसनाका रूप लिया है, द्युलोक सिरके स्थानमें है, पांवके स्थानमें पृथिवी है, इसी प्रकार अन्य अवयवोंमें अन्य देवता रह रहे हैं । ये सब देवता अनृतसे युक्त न हों, सदा सत्यमें स्थिर रहें और हमारी पवित्रता करें । सत्य वाणी, सत्य विचार और सत्य आचारके लिये जितना चाहिये उतना विस्तृत कार्यक्षेत्र है । इस सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य करते हुए, सत्यसे पवित्र बनकर धर्ममार्गसे धन कमावें और धनी बनें । शरीरकी शुद्धि करें, अन्तःकरणको पवित्र करें और अपने विचार, उच्चार और आचारसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने उद्धारका मार्ग आक्रमण करें । सत्यसे निर्भय होनेवाले और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बनानेवाले लोग निःसंदेह दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और पूर्ण आयुकी समाप्तितक आनन्दके साथ रहते हैं । इसलिये मनुष्य अपनी पवित्रताका साधन करे और कृतकृत्य बने ।

उत्तम मार्गसे जाना

कांड ६, सूक्त ५५

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - विश्वेदेवाः, रुद्रः ।)

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥

अर्थ— (ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके आनेजानेके बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा संचरन्ति) द्युलोक और भूलोकके बीचमें बसते रहते हैं । (तेषां यतमः अज्यानिं वहाति) उनमेंसे जो मार्ग समृद्धि लाता है, हे (सर्वे देवाः) सब देवो ! (इह तस्मै मा परि धत्त) यहां उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार धारण करो ॥ १ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान् सज्जनोंके आने जानेके अथवा व्यवहार करनेके जो अनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्दोष मार्ग हों, उसीपरसे चलना उचित है ॥ १ ॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात ।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम ॥ २ ॥
इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त और शिशिर ये सब ऋतुएं (नः स्विते दधात) हमें उत्तम अवस्थामें धारण करें। (नः गोषु प्रजायां आभजत) हमें गौओं और प्रजाओंमें सुखका भागी बनाओ। (वः इत् निवाते शरणे स्याम) तुम्हारे साथ निश्चयसे हम वातादिके उपद्रवरहित घरमें रहें ॥ २ ॥

(इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय) क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्षोंके लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत अन्न उत्पन्न करो। (तेषां यज्ञियानां सुमतौ) उन यज्ञकर्ताओंकी उत्तम बुद्धिमें तथा (सौमनसे भद्रे अपि स्याम) उत्तम मनमें तथा कल्याणमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छहों ऋतुओंसे उत्तम सुख लाभ हो, गौओं और प्रजाओंसे हितका साधन हो और घरमें कोई रोग न हो ॥ २ ॥

हरएक वर्ष उत्तम अन्न पर्याप्त प्रमाणमें उत्पन्न कर और जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है उनके उत्तम शुभ संस्कारयुक्त मन और बुद्धिमें रह अर्थात् तेरे विषयमें उनकी संमति उत्तम रहे ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

' संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर ' ये संवत्सरोंके पांच नाम क्रमशः प्रभवसे लेकर हरएक पंचयुगीके हैं। इसी प्रकार ' कृत, त्रेत द्वापर और कलि ' ये चतुर्युगीके नाम हैं।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके शुभमार्गोंमें भी जो मार्ग सबसे श्रेष्ठ है उस पर चलना चाहिये। अपने आचरणके उत्तम रहने पर सब ऋतुओंसे लाभ होता है और अपने अंदर रोगके होने पर हानि होती है। हरएकको ऐसा उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हों। हरवर्ष खेतीसे इतना धान्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये पर्याप्त हो सके।

अन्तर्बाह्य शुद्धता

कांड ६, सूक्त ५१

(ऋषिः – शन्तातिः। देवता – आपः, वरुणः।)

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥
आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥ २ ॥

अर्थ— (वायोः पवित्रेण पूतः) वायुके पवित्रीकरणके साधन द्वारा शुद्ध हुआ हुआ (प्रत्यङ् अति द्रुतः सोमः) प्रत्यक्ष छाना हुआ सोम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्रशक्तिका योग्य मित्र है ॥ १ ॥

(मातरः आपः अस्मान् सूदयन्तु) माताके समान हितकारी जल हमें शुद्ध करे। (घृतप्वः नः घृतेन पुनन्तु) पवित्र करनेवाला जल हमें जलके द्वारा पवित्र करे। (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) दिव्य जल सब दोष बहा देता है, (आभ्यः उत् इत् शुचिः पूतः आ एमि) इनसे ही शुद्ध और पवित्र होकर मैं आगे चलता हूं ॥ २ ॥

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे वरुण ! (मनुष्याः यत् किंच इदं अभिद्रोहं) साधारण मनुष्य जो कुछ भी दुराचार (दैव्ये जने चरन्ति) दिव्यजनोंके विषयमें करते हैं (च इत् अचित्त्या तव धर्म युयोपिम) और जो बिना जानते हुए तेरे बताये धर्मको तोडते हैं, हे देव ! (नः तस्मात् एनसः मा रीरिषः) हम सबको उस पापसे नष्ट मत कर ॥ ३ ॥

सोमका महात्म्य

सोमका वर्णन प्रथम मन्त्रमें है। यह सोम प्रथमतः छाना जाता है, पश्चात् उसको दूध देनेके लिये एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें डाला जाता है; जब इस प्रकार यह सिद्ध होता है, तब यह अपने अन्दर रहनेवाली इन्द्र शक्तिको बढानेवाला होता है। अर्थात् इसके पीनेसे शरीरकी इन्द्रशक्ति बढती है।

जलका महात्म्य

द्वितीय मन्त्रमें जलका महात्म्य कहा है। जल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, शरीरके सब दोषोंको दूर करता है और अन्तर्बाह्य शरीरको शुद्ध करके बडा आरोग्य देता है।

द्रोह न करना

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीसे द्रोह और अपराध न करे। न जानते हुए भी जो द्रोह हुआ हो उसकी परमेश्वरकी प्रार्थना करके क्षमा मांगनी चाहिये।

इन तीनों मन्त्रोंमें शुद्धि द्वारा शक्तिवृद्धि करनेका उपदेश है। सोम शुद्ध होकर इन्द्रशक्तिकी सहायता करता है, जल शुद्धता करके आरोग्य देता है और अहिंसावृत्तिसे आत्मशुद्धि होकर आत्मिक बल बढ जाता है। तीनों मन्त्रोंका यह आशय देखने योग्य है। शुद्धि द्वारा बलकी वृद्धि होती है यह सबका तात्पर्य है।



पुष्टिकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४८

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — राका ।)

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

अर्थ— (सुहवां सुष्टुती राकां अहं हुवे) उत्तम बुलानेयोग्य और स्तुति करनेयोग्य पूर्ण चन्द्रमाके समान आल्हाददायिनी देवीको मैं बुलाता हूं। (शृणोतु) वह मेरी पुकार सुने और (सुभगा नः त्मना बोधतु) वह उत्तम ऐश्वर्यवाली देवी हमें अपनी शक्तिसे जगावे। (अच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु) कभी न टूटनेवाली सुईसे वह अपने कपडे सीनेके काम करे और (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) वह प्रशंसनीय सैंकडों दान देनेवाले वीर पुत्रको हमें प्रदान करे ॥ १ ॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

अर्थ– हे (राके) शोभा देनेवाली देवी ! (याः ते सुपेशसः सुमतयः) जो तेरे उत्तम सुन्दर सुमतियां हैं, (याभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनसे तू दाताको धन देती है । हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त देवी ! (ताभिः रराणा सुमनाः) उन शक्तियोंसे शोभनेवाली उत्तम मनवाली देवी तू (अद्य नः सहस्रपोषं उपागहि) आज हमें हजारों पुष्टिको समीप स्थानमें लाकर दे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रमायुक्त राका होती है । इससे जैसी प्रसन्नता प्राप्त होती है वैसी ही प्रसन्नता ईश्वरके तेजसे कई गुना बढकर होती है । इस अनुभवसे उस अनुभवका अनुमान पाठक कर सकते हैं । इस सूक्तमें पूर्ण चन्द्रप्रभाके वर्णनके बहानेके आध्यात्मिक परमात्माकी शक्तिका वर्णन किया है । यह परमात्मशक्ति हमें ज्ञान देवे, अज्ञानसे जगाकर प्रबुद्ध करे, और ज्ञान द्वारा हमारी उन्नति करे । इसी प्रकार हमें पुष्टि और उत्तम वीरसंतति देवे और हमारी सब प्रकार की उन्नति करे ।

सुखकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४९

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – देवपत्न्यः ।)

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥
उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

अर्थ– (उशतीः देवानां पत्नीः नः अवन्तु) हमारी इच्छा करनेवाली-देवोंकी पत्नियां हमारी रक्षा करें । वे (तुजये वाजसातये नः प्रावन्तु) सन्तान और अन्नकी विपुलताके लिये हमारी रक्षा करें । (याः पार्थिवासः) जो पृथ्वीपर स्थिर और (याः अपां व्रते अपि) जो जलोंकी नियमव्यवस्थामें स्थित हैं, (ताः सुहवाः देवीः) वे उत्तम प्रशंसित देवियां (नः शर्म यच्छन्तु) हमें सुख देवें ॥ १ ॥

(उत देवपत्नीः ग्नाः व्यन्तु) और देवोंकी पत्नियां ये देवियां हमारे हितकी इच्छा करें । (इन्द्राणि) इन्द्रकी पत्नी, (अग्नायी) अग्निकी पत्नी, (अश्विनी राट्) अश्विनी देवोंकी पत्नी रानी, (रोदसी) रुद्रकी पत्नि, (वरुणानी) जलदेव वरुणकी पत्नी, (आशृणोतु) हमारी पुकार सुनें । (जनीनां यः ऋतुः) स्त्रियोंका जो ऋतुकाल है उस समय (देवीः व्यन्तु) ये देवियां हमारा हित करें ॥ २ ॥

देवताओंकी शक्तियां देवोंकी पत्नियां हैं । अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु आदि अनेक देव हैं, उनकी शक्तियां भी विविध हैं । येही इनकी पत्नियां हैं । पत्नी पालन करनेवाली होती है । अग्नि शक्ति अग्निका पालन करती है, वायुशक्ति वायुका पालन करती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी शक्तियां अन्य देवोंको उनके स्वरूपमें रखती हैं, जितने देव हैं उतनी उनकी पत्नियां हैं । ये सब देवशक्तियां हम सब मनुष्योंको सुख और शान्तिका प्रदान करें ।

उत्तम ज्ञान

कांड ७, सूक्त ५२

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सांमनस्यं, अश्विनौ ।)

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः । संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥
सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (नः स्वेभिः संज्ञानं) हमें स्वजनोंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । तथा (अरणेभिः संज्ञानं) निम्न श्रेणीके जो लोग हैं उनके साथ भी हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । (इह) इस संसारमें (युवं अस्मासु संज्ञानं नियच्छतं) तुम दोनों हम सबमें उत्तम ज्ञान स्थापित करो ॥ १ ॥

(मनसा संजानामहै) हम मनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, (चिकित्वा सं) ज्ञान प्राप्त करके एकमतसे रहें । (मा युष्महि) परस्पर विरोध न करें । (दैव्येन मनसा) दिव्य मनसे हम युक्त होवें । (बहुले विनिर्हते घोषा मा उत् स्थुः) बहुतोंका वध होनेके पश्चात् दुःखके शब्द न उत्पन्न हों । (आगते अहनि) आगे आनेवाले समयमें (इन्द्रस्य इषुः मा पप्तत्) इन्द्रका बाण हमपर न गिरे ॥ २ ॥

बंधनसे छूटना

कांड ६, सूक्त १२१

(ऋषिः - कौशिकः । देवता - मन्त्रोक्ताः ।)

विषाणा पाशान्वि ष्याध्यस्मद्य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
यद्दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद्भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।
अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये अधमाः उत्तमाः ये वारुणाः) जो अधम और उत्तम वरुण देवके पाश हैं उन (पाशान् विषाणा अस्मत् अधि विष्य) पाशोंको तोडता हुआ हमसे उन पाशोंको दूर कर । (दुष्वप्न्यं दुरितं अस्मत् नि ष्व) बुरे स्वप्न और पाप हमसे दूर कर । (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) और हम पुण्यलोकको जावें ॥ १ ॥

(यत् दारुणि यत् च रज्जां बध्यसे) जो काष्ठस्तंभमें और रस्सीमें बांधा जाता है और (यत् भूम्यां) जो भूमिमें (यत् च वाचा बध्यसे) वाणीसे बांधा जाता है, (तस्मात्) उस बंधनसे (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह गार्हपत्य अग्नि (नः सुकृतस्य लोकं इत् उत् नयाति) हमें सुकृतके लोकमें ले जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— निम्नस्थान, मध्यस्थान और उत्तम स्थानपर जो पाश हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न कर । मनुष्य पापरहित होवे और उत्तम स्वप्न वह देखे । इस प्रकार वह निर्दोष होकर पुण्यलोकको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

जो अनेक प्रकारके बंधन हैं वे सब ईश्वरकी कृपासे दूर हो जांय और हमें पुण्यलोक प्राप्त होवे ॥ २ ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥
वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥ ४ ॥

अर्थ— (भगवती विचृतौ नाम तारके) भाग्य देनेवाले, पाशोंसे छुडानेवाले और तारण करनेवाले दो देवता (उदगातां) उदयको प्राप्त हुए हैं । वे दोनों (अमृतस्य प्रयच्छतां) अमृतका भाग देवें जिससे यह जीव (बद्धक-मोचनं प्रैतु) बद्ध अवस्थासे छूटनेका प्रयत्न करे ॥ ३ ॥

(विजिहीष्व) विशेष प्रगति कर, (लोकं कृणु) अपने लिये योग्य स्थान बना । (योन्याः प्रच्युतः गर्भः इव) योनिसे बाहर आये बालकके समान (बन्धात् बन्धकं मुञ्चासि) बंधनसे बन्धके कारणको अलग कर । (सर्वान् पथः अनु क्षिय) सब मार्गोंमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भावार्थ— बंधनसे मुक्तता करनेवाली और रक्षा करनेवाली दो शक्तियां हमें अमृतका भाग देवें, जिससे हम बधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जांय ॥ ३ ॥

विशेष प्रगति कर, पुण्यस्थान प्राप्त कर, बधनसे मुक्त हो, जैसा पूर्ण हुआ बालक माताके उदरसे छूटकर बाहर आता है और इस जगतमें अनुकूल परिस्थितिमें बढता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनोंसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये । इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जावे । कभी पापका विचारतक न करे । विचारोंके दृढ होनेसे स्वप्न भी उत्तम आने लगेंगे और कभी बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे । सब बंधन पापसे मुक्त होनेसे ही दूर हो सकते हैं और उस मनुष्यको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं । पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आत्मरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इससे ही आगे अमृतका लाभ भी हो सकता है और पूर्णतया बधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका लाभ प्राप्त हो सकता है ।

इसलिये हे मनुष्य ! तू विशेष प्रयत्नसे उन्नतिलाभ कर, पुण्यवान् बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्यको प्राप्त कर और जगत् में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके आनंदके साथ विराजमान हो ।

बंधनसे मुक्ति

कांड ७, सूक्त ७७

(ऋषिः – अंगिराः । देवता – मरुतः ।)

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन । अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सां-तपनाः मरुतः=मर्-उताः) अच्छी प्रकार शत्रुको तपानेवाले मरनेके लिये तैयार वीरो ! (इदं तत् हविः जुजुष्टन) इस हवि-अन्नका सेवन करो । हे (रिश-अदसः) शत्रुओंका नाश करनेवालो ! (अस्माकं ऊती) हमारी रक्षा करो ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुको ताप देनेवाले वीर हमारे द्वारा दिये गए अन्न भागको स्वीकार करके, शत्रुओंका नाश कर, हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

यो नो॒ मर्तो॑ मरुतो दुर्हृणा॒युस्ति॒रश्चि॒त्तानि॑ वसवो॒ जिघां॑सति ।
द्रुहः॒ पाशा॒न्प्रति॒ मुञ्चतां॒ सस्तपि॑ष्ठेन॒ तप॑सा हन्तना॒ तम् ॥ २ ॥
सं॒वत्स॒रीणा॑ म॒रुतः॑ स्व॒र्का उ॑रु॒क्षयाः॒ सग॑णा॒ मानु॑षासः ।
ते अ॒स्मत्पाशा॒न्प्र मु॑ञ्च॒न्त्वेन॑सः सांतप॒ना म॑त्स॒रा मा॑दयि॒ष्णवः॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (वसवः मरुतः) निवासक मरुतो ! (यः नः मर्तः दुर्हृणायुः) हममेंसे जो मनुष्य दुष्ट भावसे युक्त होकर (चित्तानि तिरः जिघांसति) हमारे चित्तोंको छिपकर नाश करना चाहता है । (सः द्रुहः पाशान् प्रतिमुञ्चतां) उसपर द्रोहके पाश छोडो और (तं तपिष्ठेन तपसा हन्तन) उसको तापदायक तपनसे मार डालो ॥ २ ॥

(संवत्सरीणाः सु-अर्काः) वर्ष भरतक प्रकाश करनेवाले (सगणाः उरुक्षयाः) सेनासमूहके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, (मानुषासः) मानवी वीर (सांतपनाः मादयिष्णवः मत्सराः) शत्रुको सताप देनेवाले हर्ष बढानेवाले प्रसन्न (ते मरु-उतः) वे मरनेतक लडनेवाले वीर (एनसः पाशान् अस्मत् प्रमुञ्चंतु) पापके पाशोंको हमसे छुडावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— हममेंसे कोई दुष्ट मनुष्य यदि छिपकर हमारे मनोंका नाश करना चाहे, तो उसको पाशोंसे बांध कर मार डालो ॥ २ ॥

सालभर रहनेवाले, तेजस्वी, अनुयायियोंके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, शत्रुको ताप देनेवाले, मानवी वीर पापसे हमें बचावें ॥ ३ ॥

इसमें क्षत्रियधर्म बताया है । क्षत्रिय शत्रुको ताप देनेवाला शूरवीर हो, स्वजनोंकी रक्षा करे, अपनेमें यदि कोई दुष्ट मनुष्य निकल आवे, तो उसको भी दण्ड देवे, सबको निर्भय बनावे और पापसे जनोंको दूर रखे ।

बंधमुक्तता

कांड ७, सूक्त ७८

(ऋषि - अथर्वा । देवता - अग्निः ।)

वि ते॑ मुञ्चामि रश॒नां वि योक्त्रं॒ वि नि॒योज॑नम् । इ॒हैव त्वमज॑स्र एध्यग्ने ॥ १ ॥
अ॒स्मै क्ष॒त्राणि॑ धा॒रय॑न्तमग्ने यु॒नज्मि॑ त्वा॒ ब्रह्म॑णा॒ दैव्ये॑न ।
दी॒दि॒ह्य॒१॒॑स्मभ्यं॒ द्रवि॑णे॒ह भ॒द्रं प्रेमं वो॑चो हवि॒र्दां दे॒वता॑सु ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (ते रशनां विमुञ्चामि) तेरी रस्सीको मैं खोलता हूं । तेरे (योक्त्रं वि) बन्धनको भी मैं छोडता हूं । (नियोजनं वि) खींचकर बांधनेवाले तेरे बन्धनको भी मैं छोडता हूं । (इह एव त्वं अजस्रः एधि) यहीं तू अहिंसित होकर रह ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (अस्मै क्षत्राणि धारयन्तं त्वा) इसके लिये यहां क्षात्रधर्मके धारण करनेवाले तुझको (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्यज्ञानके साथ (युनज्मि) युक्त बनाता हूं । (अस्मभ्यं इह द्रविणा दीदिहि) हमारे लिये यहां धन दे । (इमं देवतासु हविर्दां प्रवोचः) इसका वर्णन देवताओंमें हवि समर्पण करनेवालेके रूपमें किया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— पहिला, बीचका और निचला इस प्रकार तीनों बन्धनोंको मैं खोलकर तुझे मुक्त करता हूं, इस प्रकार तू मुक्त होकर यहां रह ॥ १ ॥

क्षात्रधर्म धारण कर, दिव्यज्ञानसे युक्त हो, धन समर्पण कर, देवताओंमें हवि अर्पण कर, इसीसे तेरा यश बढेगा ॥ २ ॥

तीन बंधन

बंधन तीन प्रकारके होते हैं, एक मनका बंधन, दूसरा अथवा बीचका प्राणीका और तीसरा अथवा निचला देहका। इन तीन बंधनोंसे मनुष्य बंधा हुआ है अर्थात् बद्ध हुआ है। इससे उसको मुक्त होना है। ये बंध जब खोले जाते हैं तब वह मुक्त होता है, तबतक उसकी बद्धकी स्थिति होती है।

बंधन छूटनेके लिये श्रम अर्थात् पुरुषार्थ करनेका सामर्थ्य अवश्य चाहिये। इसके बिना कोई मनुष्य बंधनमुक्त होनेका यत्न भी नहीं कर सकता। इसके पश्चात् ज्ञान चाहिये। ज्ञानके बिना बंधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती (मोक्षे धीर्ज्ञान) बंधन मुक्त होनेका उपाय जानना ही ज्ञान है। पुरुषार्थ द्वारा धन आदि प्राप्त करना और उस प्राप्त धनका ईश्वरार्पण बुद्धिसे समर्पण करना, मनुष्यको योग्य है। इसीसे मनुष्यके बंधन दूर होते हैं। विशेष कर अपने धनका समर्पण अर्थात् त्याग, (देवतासु हविर्दा) देवताओंके लिए करनेसे मनुष्य बंधनसे मुक्त हो सकता है।

क्रोधका शमन

कांड ६, सूक्त ४२

(ऋषि. - भृग्वंगिरा (परस्परचित्तैकीकरणकाम)। देवता - मन्युशमनम् ।)

अयं दुर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च । मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥
अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति । दुर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥
वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि । यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं दर्भः स्वाय चारणाय च विमन्युकः) यह दर्भ अपने लिये और अन्यके लिये भी क्रोधको हटानेवाला है, (अयं मन्योः विमन्युकस्य) यह क्रोधीके क्रोधको दूर करनेवाला और (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(यः अयं भूरिमूलः) जो यह बहुत जडोंवाला और (पृथिव्या उत्थितः दर्भः) भूमिसे उगा हुआ दर्भ (समुद्रं अवतिष्ठति) समुद्रके समीप होता है वह (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

(ते हनव्यां शरणिं वि) तेरे हनुके आश्रयसे रहनेवाला क्रोधका चिन्ह हम दूर करते हैं, (मुख्यां विनयामसि) तेरे मुखमें जो क्रोध है उसको भी हम दूर करते हैं (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल हो और (अवशः न वादिषः) परवश होकर क्रोधी भाषण न करे ॥ ३ ॥

दर्भ

यहां इस सूक्तमें दर्भको क्रोधको शान्त करनेवाला कहा है। यह खोजका विषय है। वैद्यकग्रंथोंमें दर्भका यह गुण नहीं लिखा है। यदि वैद्यलोग इसका अधिक विचार करेंगे और समुद्रतीरपर उगनेवाले दर्भ नामक घासकी जडोंकि इसमें यह गुण है, या और किस वनस्पतिमें यह गुण है इसका निश्चय करेंगे, तो क्रोधी मनुष्योंको शान्त स्वभावी बनानेका उपाय ज्ञात हो सकता है।

कौशीतकी सूत्र (कौ० सू० ४।१२) में 'अथ दर्भ इत्यौषधिवत्' ऐसा कहा है। इससे पता लगता है कि समुद्रतीरपर उगनेवाले दर्भका मूल निकालकर उसको सिर पर अथवा शरीरपर धारण करने अथवा इसके सेवन करनेका विधान इस सूक्तमें है। संभव है दर्भकी जडोंमें मस्तिष्कको शान्त करके क्रोधको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो। यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है।

सिद्धिकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४६

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – सिनीवाली ।)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥
या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी । तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥
या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सिनीवालि पृथु-ष्टुके) अन्नपूर्ण और बहुतों द्वारा प्रशंसित देवी ! (या देवानां स्वसा असि) जो तु देवोंकी भगिनी है। हे देवि ! तू (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये आहुतियोंको स्वीकार कर। और (नः प्रजां दिदिड्ढि) हमें उत्तम सन्तान दे ॥ १ ॥

(या सुबाहुः स्वङ्गुरिः) जो उत्तम बाहुवाली और उत्तम अंगुलियोंवाली, (सुषूमा बहुसूवरी) उत्तम भगवाली और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ है, (तस्यै विश्पत्न्यै सिनीवाल्यै) उस प्रजापालक अन्नयुक्त देवताके लिये (हविः जुहोतन) हवि प्रदान करो ॥ २ ॥

(या विश्पत्नी इन्द्रं प्रतीची असि) जो प्रजापालन करनेवाली तू प्रभुके सन्मुख रहती है। तथा (सहस्र-स्तुका देवी अभियन्ती) हजारों कवियों द्वारा प्रशंसित तू देवी आगे बढती है। हे (विष्णोः पत्नि) विष्णुकी पत्नी ! हे देवि ! (तुभ्यं हवींषि राता) तेरे लिये मैं हवन अर्पित करता हूं। हमारी (राधसे पतिं चोदयस्व) सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपने पतिको प्रेरित कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें ' विष्णु ' अर्थात् व्यापक देवकी पत्नी अर्थात् उसकी शक्तिकी प्रार्थना है। यह व्यापक ईश्वरकी शक्ति संपूर्ण अन्य देवताओंमें जाकर कार्य करती है, सब जगत्का पालन इसी शक्तिसे होता है। हजारों ज्ञानी जन इस शक्तिका अनुभव करते हैं, और वे इसकी विविध प्रकारसे स्तुति करते हैं। यह शक्ति अपने पति सर्वव्यापक ईश्वरको प्रेरित करे और वह हमें सब प्रकारकी सिद्धि देवे।

युद्धसाधन रथ

कांड ६, सूक्त १२५

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – वनस्पति ।)

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) वृक्षसे बने हुए रथ ! (विड्डु+अंगः हि भूयाः) तू सुदृढ अवयवोंसे युक्त हो। तू (अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः) हमारा मित्र तारण करनेवाला और उत्तम वीरोंसे युक्त है। तू (गोभिः संनद्धः असि) गौके चर्मकी रस्सियोंसे खूब कसकर बंधा हुआ है। तू (वीडयस्व) हमें सुदृढ कर और (ते आस्थाता जेत्वानि जयतु) तुझपर चढनेवाला वीर विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

भावार्थ— रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है। यह रथ हमारा सच्चा मित्र है, क्योंकि यह युद्धकी आपत्तिसे हमें पार कराता है। यह रथ गोचर्मकी रस्सीसे दृढ बांध गया है। इस सुदृढ रथसे हमारी विजय निःसन्देह होगी ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ २ ॥
इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ३ ॥

अर्थ— (दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्भृत) द्युलोक और पृथ्वीलोकका बल इस रथके रूपसे प्राप्त किया है और (वनस्पतिभ्यः सहः पर्याभृतं) वृक्षोंसे यह सामर्थ्य संगृहीत किया है। (अपां आज्मानं गोभिः परि आवृतं) जलोंसे बने आत्मारूप वृक्षसे उत्पन्न हुए गौके चर्मसे बांधे गए (इन्द्रस्य वज्रं रथं) इन्द्रके वज्रके समान सुदृढ रथको (हविषा यज) अन्नसे युक्त कर ॥ २ ॥

हे (देव रथ) दिव्य रथ ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रका बल है, तू (मरुतां अनीक) मरुतोंका सेनासमूह (मित्रस्य गर्भः) मित्रका गर्भ और (वरुणस्य नाभिः) वरुणकी नाभि है। (सः रथ) वह तू (नः इमां हव्यदातिं जुषाणः) हमारे इस अन्नदानका सेवन करता हुआ (हव्या प्रति गृभाय) हवनीय अन्नका ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी और द्युलोकका बल और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है। जलसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है; इसलिये यह जलोंकी आत्मा ही है, इसको गोचर्मकी रस्सियोंसे बांधकर दृढ बनाया है। अब यह इन्द्रके वज्रके समान दृढ है। इस रथमें अन्नादि पदार्थ भरपूर रख ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका बल, मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नाभि है। अर्थात् देवोंका सत्वरूप रथ है। यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे, अर्थात् इस रथके साथ रहनेवाले वीर हमारे अन्नसे पुष्ट और सन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

युद्धमें रथ बडे महत्वका साधन है। वीर लोग इसपर चढकर युद्ध करते और विजय पाते हैं। यह रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है और गौके चर्मकी रस्सीसे बांधकर सुदृढ बनाया जाता है। पृथ्वी पर रथ एक बडी भारी शक्ति है मानो, इसमें देवोंका बल भरा हुआ है। इसलिये रथको अच्छी अवस्थामें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंको यथायोग्य अन्नसे पुष्ट करना चाहिये।

दुंदुभि

कांड ६, सूक्त १२६

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – दुन्दुभिः।)

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगारे ! तू (पृथिवीं उपश्वासय) पृथ्वीमें (उत द्यां) और द्युलोकमें भी जीवन उत्पन्न कर (पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ते वन्वतां) बहुत प्रकारसे विशेष रूपमें स्थित जगत् तेरे आश्रयसे रहे। (सः इन्द्रेण देवैः सजूः) वह इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला तू (दूरात् दवीयः) दूरसे दूर (शत्रून् अप सेध) शत्रुओंका नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ— दुन्दुभीके शब्दसे लोगोंमें एक प्रकारका नवचैतन्य उत्पन्न होता है। इसलिये वीरोंको युद्धमें चेतना देनेके लिये इस नगारेका उपयोग करते हैं। इसमें दिव्य शक्ति है इसलिये यह शत्रुओंको दूरसे ही भगा देता है ॥ १ ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ २ ॥

प्रामूं जयाभीऽमे जयन्तु केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाडे ! (आक्रन्दय) शत्रुसेनाको रुला । (नः ओजः बलं आधाः) हमारे अंदर वीर्य और बल धारण करा । (दुरिता बाधमानः अभि स्तन) पापोंको बाधित करता हुआ गर्जना कर । (दुच्छुनां इतः अपसेध) दुःख देनेवाली शत्रुसेनाको यहांसे भगा । तू (इन्द्रस्य मुष्टिः असि) इन्द्रकी मुष्टि है, तू (विडयस्व) दृढ हो ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (अमुं प्र जय) इस शत्रुसेनाको पराजित कर (इमे अभि जयन्तु) ये वीर विजय प्राप्त करें । (केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु) झण्डेसे युक्त नगारा बहुत बडा नाद करे । (नः नरः अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे वीर घोडोंसे युक्त होकर हमला करें और (अस्माकं रथिनः जयन्तु) हमारे रथी वीर जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुन्दुभिका भयानक शब्द सुनकर शत्रुसेना घबडा जाती है और अपने सैन्यमें बल और वीर्य उत्पन्न होता है । अपने सैन्यके दोष दूर होते हैं और शत्रु भाग जाते हैं । अर्थात् यह दुन्दुभि एक प्रकारका बल है, इसलिये यह दुन्दुभि हमें बल देवे ॥ २ ॥

यह दुन्दुभि शत्रुसेनाका पराजय करे और हमारे सैन्यको विजय होवे । अपने राष्ट्रीय झण्डेके साथ दुन्दुभि बडा शब्द करे । उस शब्दके साथ हमारे घुडसवार शत्रुपर चढाई करें । और हमारे रथी जयको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके स्थानपर नगारेका शब्द सेनामें बडा उत्साह बढाता है । इसलिये हरएक सेनाके साथ रणभेरी अर्थात् बडी बडी दुन्दुभियां रहती हैं । यह एक विजय प्राप्तिका साधन है ।

दुन्दुभिका घोष

कांड ५, सूक्त २०

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवताः - वनस्पतिः, दुन्दुभिः ।)

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

अर्थ— (उच्चैर्घोषः सत्वनायन्) ऊंचे शब्दवाली और बल बढानेवाली (वानस्पत्यः दुन्दुभिः) वनस्पतिसे बनी हुई दुन्दुभि (उस्रियाभिः संभृतः) गोचर्मोंसे वेष्टित (वाचं क्षुणुवानः) शब्द करती हुई (सपत्नान् दमयन्) शत्रुओंको दबाती हुई और (सिंह इव जेष्यन्) सिंहके समान विजय चाहती हुई यह ढोल (अभिसंस्तनीहि) गर्जती रहे ॥ १ ॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव ।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥
वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव संधनाजित् ।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥
संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥
दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥
पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद्वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥
अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

अर्थ— (द्रुवयः विबद्धः) वृक्षसे निर्मित और विशेष प्रकार बंधी हुई तू (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान गर्जती है (वासितां वृषभः अभिक्रन्दन् इव) गौके लिये जैसे बैल गर्जता है, उसी प्रकार तू भी गरजती है। (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते सपत्नाः वध्रयः) तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभि मातिषाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूथे गव्यन् वृषा इव) गौवोंके समूहमें गौकी कामना करनेवाले सांडके समान (सहसा संधनाजित्) बलसे विजय प्राप्त करनेवाली और (विदानः) ज्ञानी हुई तू (अभिरुव) गर्जना कर। (परेषां हृदयं शुचा विध्य) शत्रुओंका हृदय शोकसे युक्त कर। (शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यन्तु) शत्रु गांवोंको छोडकर गिरते पडते भाग जावें ॥ ३ ॥

हे दुन्दुभे ! (ऊर्ध्वे-मायुः पृतनाः संजनयन्) ऊंचा शब्द करनेवाली, शत्रुसेनाओंको पराजित करती हुई (गृह्याः गृह्णानः बहुधा विचक्ष्व) ग्रहण करने योग्योंको लेनेवाली तू बहुत प्रकार देख। (दैवीं वाचं आगुरस्व) दिव्य शब्द उच्चारण कर। (वेधाः शत्रूणां वेदः आभरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके धन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्तीं) दुन्दुभिके स्पष्ट निकलते हुए (वाचं आशृण्वती घोषबुद्धा) शब्द सुननेवाली और गर्जनासे जागी हुई (भीता नाथिता अमित्री नारी) डरी हुई दुःखी शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे हुए वीरोंके पुत्रोंके। हस्तगृह्य धावतु) हाथ पकडकर भाग जावे ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे ! (पूर्वः वाचं प्रवदासि) सबसे पहिले तू शब्द करती है। (भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशती हुई तू शब्द कर। हे ढोल ! (अमित्रसेनां अभिजञ्जभानः) शत्रुसेनाका नाश करती हुई तू (द्युमत् सूनृतावत् वद) प्रकाशित होती हुई सत्य बोल ॥ ६ ॥

(इमे नभसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें तेरा घोष होवे। (ते ध्वनयः शीभं पृथक् यन्तु) तेरी ध्वनियां शीघ्र चारों दिशाओंमें फैले। (उत्पिपानः श्लोककृत्) बढनेवाली और यश करनेवाली (मित्रतूर्याय स्वर्धी) और मित्रहितके लिये तत्पर होती हुई (अभिक्रन्द, स्तनय) शब्दकर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥
संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद्बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥ ९ ॥
श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥
शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद्वदेह ॥ ११ ॥
अच्युतच्युत्समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥

अर्थ—(धीभिः कृतः वाचं प्रवदाति) बुद्धिके द्वारा बनायी हुई ढोल शब्द करती है। (सत्वनां आयुधानि
उद्धर्षय) वीरोंके आयुधोंको ऊपर उठा। (इन्द्रमेदी सत्वनः निह्वयस्व) शूरको आनन्द देनेवाली तू वीरोंको बुला
और (मित्रैः अमित्रान् अव जङ्घनीहि) मित्रोंके द्वारा शत्रुओंको मार डाल ॥ ८ ॥

(संक्रन्दनः प्र-वदः) शब्द करनेवाली और घोषणा करनेवाली, (धृष्णुसेनः प्रवेदकृत्) विजयी सेनासे
युक्त, चेतना देनेवाली, (बहुधा ग्रामघोषी) अनेक प्रकारसे ग्राममें घोषणा करनेवाली, (श्रेयः वन्वानः) कल्याण
प्राप्त करानेवाली, (वयुनानि विद्वान्) सब घोषणाके कार्य जाननेवाली तू दुन्दुभि (द्वि-राजे) दो राजाओंमें होनेवाले
युद्धमें (बहुभ्यः कीर्तिं विहर) बहुत मनुष्योंके लिये कीर्ति प्राप्त करा ॥ ९ ॥

हे (दुन्दुभे) ढोल ! तू (श्रेयःकेता वसुजित्) क्षेम करनेवाली, धन जीतनेवाली, (सहीयान् संग्राम-
जित्) बलवान् युद्धोंको जीतनेवाली, (ब्रह्मणा संशितः असि) ज्ञानके द्वारा तैयार की गई है। (अधिषवणे अद्रिः
ग्रावा अंशून् इव) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पत्थर सोमपर नाचते हैं, उसी प्रकार तू (गव्यन् वेदः
अधिनृत्य) भूमि जीतनेकी इच्छा करनेवाले शत्रुके धनपर नाच ॥ १० ॥

(शत्रूषाड् नीषाड्) शत्रुको जीतनेवाली, नित्यविजयी, (अभिमातिषाहः गवेषणः) वैरियोंको वशमें
करनेवाली खोज करनेवाली, (सहमानः उद्भित्) बलवान् और उखेडनेवाली, तू ढोल (वाग्वी मंत्रं इव) जैसे वक्ता
उपदेशको श्रोताओंमें भर देता है। (वाचं प्रभरस्व) उसी प्रकार शब्दको सर्वत्र भर दे। (संग्राम-जित्याय इह
इषं उत् वद) संग्रामको जीतनेके लिये यहां अन्नके विषयमें घोषणा कर ॥ ११ ॥

(अच्युत-च्युत्) न गिरे हुए शत्रुओंको गिरानेवाली (स-मदः गमिष्ठः) आनंदयुक्त, यात्रा करनेवाली,
(मृधः-जेता) युद्धोंको जीतनेवाली, (पुर-एता अयोध्यः) आगे बढनेवाली और युद्ध करनेके लिये कठिन,
(इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्र द्वारा रक्षित, (विदथा निचक्यत्) युद्धकर्मोंको जाननेवाली, (द्विषतां हृद्-द्योतनः) शत्रुओंके
हृदयोंको घबरानेवाली, तू ढोल (शीभं याहि) शीघ्र शत्रुपर चढाई कर ॥ १२ ॥

दुन्दुभिका घोष

कांड ५, सूक्त २१

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवताः - वनस्पतिः, दुन्दुभिः, आदित्यादयः ।)

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥
उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च । धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥
वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः । प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥
यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥
यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ५ ॥
यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) ढोल ! तू (अमित्रेषु विहृदयं वैमनस्यं वद) शत्रुओंके हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदासीनताको जाहिर कर दे। (विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु निदध्मसि) द्वेष, कशमकश, दुष्टता और भय शत्रुओंमें भर दे। हे दुन्दुभे ! (एनान् अव जहि) इनको मार दे ॥ १ ॥

(आज्ये हुते) संग्रामके शुरू होते ही (अमित्राः प्रत्रासेन) शत्रु घबराहटसे (मनसा चक्षुषा हृदयेन च बिभ्यतः) मन, आंख और हृदयसे डरते हुए (धावन्तु) भाग जावें ॥ २ ॥

(वानस्पत्यः उस्रियाभिः संभृतः) वनस्पतिसे अर्थात् लकडीसे उत्पन्न चमडेकी रस्सियां बनी (विश्व-गोत्र्यः) सब प्रकार भूमिको रक्षक और (आज्येन अभिघारितः) घृतसे सींची हुई तू (अमित्रेभ्यः प्रत्रासं वद) शत्रुओंमें त्रासोंकी घोषणा कर ॥ ३ ॥

(यथा आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते) जिस प्रकार वनके मृग मनुष्योंसे डरकर भागते हैं, (एवा त्वं अमित्रान् अभिक्रन्द) उसी प्रकार तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे और (अथो चित्तानि मोहय) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा अजावयः वृकात् बहु बिभ्यतीः धावन्ति) जिस प्रकार भेड बकरियां भेडियोंसे डरकर भाग जाती हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा पतत्रिणः श्येनात् संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं और (यथा स्तनथोः सिंहस्य अहः-दिवि) जिस प्रकार पशु गर्जनेवाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं (एवा त्वं अमित्रान्०) उसी प्रकार हे दुन्दुभि ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे, (अथो चित्तानि) और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च । सर्वे देवा अतित्रसन्ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥
यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह । तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥
ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः । सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥
आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥
एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

अर्थ—(ये संग्रामस्य ईशते) जल युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवा) सब देव (हरिणस्य अजिने दुन्दुभिना च) हरिणके चर्मसे बने हुए नगाडेसे ही (अमित्रान् परां अतित्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७॥

(इन्द्रः यैः पद्- घोषैः) इन्द्र जिन पादघोषोंसे और (छायया सह) छायारूप सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है, (तैः नः अमीः अमित्राः त्रसन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको त्रास होवे कि (ये अनीकशः यन्ति) जो सेनाकी पंक्तियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

(ज्या-घोषाः दुन्दुभयः) धनुष्यकी डोरीके शब्दके साथ ढोल (याः दिशः अभिक्रोशन्तु) जितनी दिशाएं हैं उन सबमें शब्द करें । जिससे (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी सघशः पराजित हुई हुई सेना भाग जावे ॥ ९ ॥

हे (आदित्य) सूर्य ! (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुकी दृष्टि हर ले । (मरीचयः अनुधावत) प्रकाश किरण हमारे अनुकूल होवें । (बाहुवीर्ये विगते) बाहु वीर्य कम होनेपर (पत्-संगिनीः आ सजन्तु) पांवोंको बांधनेकी रस्सियां शत्रुओंके पांवमें बांधी जावें ॥ १० ॥

(पृश्निमातरः उग्राः मरुतः) हे भूमिको माता माननेवाले, शूर, मरनेके लिये सिद्ध हुए वीरो ! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत) इन्द्र अर्थात् शूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार डालो । सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन्द्र ये सब शूरोंकी सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥

(सूर्य केतवः एताः देवसेनाः) सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवाली ये दिव्य सेनाएं (सचेतसः) उत्तम चित्तसे युक्त होकर (नः अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका पराभव करें । विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगाडा

ये दोनों सूक्त नगाडेका वर्णन कर रहे हैं । यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

आर्योंका ध्वज— बारहवें मंत्रमें सूर्य चिन्ह युक्त केतुका वर्णन है । यह वर्णन देखनेसे आर्योंका ध्वज सूर्य चिन्ह युक्त था यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

राजाकी स्थिरता

कांड ६, सूक्त ८७

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - ध्रुवः।)

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् । इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥
इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा । तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वा आहार्षं) तुझको यहां राजगद्दीपर बिठाता हूं। (अन्तः भूः) तू हम सबके अंदर रह। (ध्रुवः अविचाचलत् तिष्ठ) स्थिर और अविचलित होकर यहां बैठ। (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सब प्रजाजन तुझको चाहें। (राष्ट्रं त्वत् मा अधिभ्रशत्) राष्ट्र तुझसे भ्रष्ट न हो ॥ १ ॥

(इह एव एधि) यहीं बढ। (मा अपच्योष्ठाः) कभी गिर मत, (पर्वतः इव अविचाचलत्) पर्वतके समान अविचलित और (इन्द्रः इव ध्रुवः) इन्द्रके समान स्थिर होकर (इह तिष्ठ) यहां बैठ और (राष्ट्रं उ धारय) राष्ट्रका पालन कर ॥ २ ॥

(इन्द्रः ध्रुवेण हविषा) इन्द्र स्थिर समर्पणसे (एतं ध्रुवं अदीधरत्) इसको स्थिररूपसे धारण करता है। (तस्मै सोमः) उसको सोमने और (अयं च ब्रह्मणस्पतिः) इस ज्ञानपतिने (अधिब्रवत्) उपदेश दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तुझको हम सब लोगोंने चुनकर इस राजगद्दीपर बिठाया है, अब तू इस राजसभामें आ और यहांका कार्य स्थिर होकर कर। चंचलता छोड दे। सब दिशाओंमें रहनेवाले तेरे प्रजाजन विषयमें संतोष प्रकट करें। तुझसे इस राज्यकी कभी अधोगति न होवे ॥ १ ॥

इस राज्यपर स्थिर रह, यहांसे मत गिर। स्थिर होकर यहांका कार्य कर। अपने स्थानसे पदच्युत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्द्रने भी आत्मसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसको ज्ञानी ब्रह्मणस्पतिने उत्तम उपदेश दिया था, इस प्रकार तूभी आत्मसमर्पणसे इस राज्यका शासन कर और यहांके ज्ञानी जन जिस प्रकार सलाह दें, उस प्रकार इस राष्ट्रका शासन कर ॥ ३ ॥

राजाकी स्थिरता

राजा राजगद्दीपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस बातका उपदेश बडी उत्तमतासे इस सूक्तमें दिया है।

(१) राजाका सब प्रजाजनों द्वारा चुनाव होना चाहिये, (२) राजाको इस प्रकारका राज्यशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और उन्नतिको प्राप्त करें, (३) राजामें चंचलवृत्ति नहीं होनी चाहिये, (४) प्रजाके मनको आकर्षित करनेवाला राजा हो, (५) उसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अवनति न हो, (६) राजा राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिसे राज्यशासन चलावे। इस प्रकार राजा व्यवहार करेगा तो वह राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा पदच्युत होगा। इस उपदेशसे पता लग सकता है कि कौनसे दुर्गुण रहनेसे राजा राष्ट्रसे भ्रष्ट होता है, देखिये—

(१) प्रजाकी अनुमतिके बिना जो राजगद्दीपर बैठता है, (२) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता, (३) जो चंचल वृत्तिका होता है, (४) जिसका अहित प्रजा चाहती है, (५) जिससे राज्यशासनसे राष्ट्रकी अधोगति होती है। (६) जो राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिके विरुद्ध राज्यशासन चलाता है। इस प्रकारका जो राजा होता है वह राज्यसे गिरता है।

इस सूक्तके मननसे पता लग सकता है कि उत्तम राजा कौनसा है और अधम कौनसा है; किसको राजगद्दीपर रखना चाहिये और किसको नहीं। राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी स्थिरता होगी और किस कारण राज्यसे निरावट होगी। राजा और प्रजा इन दोनोंको इस सूक्तसे उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है।

शूर वीर

कांड ७, सूक्त ६२

(ऋषिः – मरीचिः काश्यपः। देवता – अग्निः।)

अ॒यम॒ग्निः सत्प॑ति॒र्वृद्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत्पु॒रोहि॑तः।
नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णुतां॒ ये पृ॑त॒न्यवः॑ ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं अग्निः) यह अग्निके समान तेजस्वी पुरुष (सत्पतिः वृद्धवृष्णः) सज्जनोंका पालक, महाबलवान्, (पुरः-हितः) सबका अग्रणी (रथी इव पत्तीन् अजयत्) महारथी जैसे पैदल सैनिकोंको जीतता है, वैसे ही जीतता है। (पृथिव्यां नाभा निहितः) भूमिपर केन्द्रमें रखा है, (दविद्युतत्) वह प्रकाशता है, वह (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुतां) जो सेना लेकर चढाई करते हैं उनको पांवके नीचे करे ॥ १ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी पुरुष सज्जनोंका रक्षक करे, बलवान् बने, जनोंका अग्रणी बने, शत्रुसेनाका पराभव करे, महारथी होवे, पृथ्वीके केन्द्र स्थानपर आरूढ होवे, तेजसे प्रकाशित होवे और सैन्य लेकर चढाई करनेवालोंको पांवके तले दबा देवे ॥ १ ॥

मनुष्य इस प्रकार अपने गुण कर्म प्रकाशित करे और अपने राष्ट्रके केन्द्रमें विराजमान रहे।

वीर पुरुष

कांड ३, सूक्त ६

(ऋषिः – जगद्बीजं पुरुषः। देवता – वानस्पत्यः, अश्वत्थः।)

पुमा॑न्पुं॒सः परि॑जातो॒ऽश्वत्थः॑ खदि॒रादधि॑। स ह॑न्तु॒ शत्रू॑न्माम॒कान्यान॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम् ॥ १ ॥

अर्थ— जैसा (खदिरात् अधि अश्वत्थः) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुरुषसे वीर पुरुष उत्पन्न होता है। (सः मामकान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्) जिनसे मैं द्वेष करता हूं और जो मुझसे द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषसे वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है। ऐसे वीर हमारे वैरियोंको हटा देवें ॥ १ ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः । इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे । एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः । तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥
सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः । अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥
यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान् । एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् । न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा । प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैबाधदोधतः शत्रून्) विविध प्रकारकी बाधायें उत्पन्न करनेवाले द्रोही शत्रुओंको तू (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरभनः) जैसे बडे समुद्रमें तू भेदन करता है, (एव) उसी प्रकार (यान् अहं द्वेष्मि ये च मां) जिनसे मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं (तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि) उन सबको छिन्न भिन्न कर ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला (ऋषभः इव सासहानः) बैलके समान बलवान् होकर (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया वयं सपत्नान् सहिषीमहि) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करें ॥ ४ ॥

हे अश्वत्थ ! (यानहं द्वेष्मिः) जिनसे मैं द्वेष करता हूं और जो मुझसे द्वेष करते हैं (एनान् मामकान् निर्ऋतिः मृत्योः अमोक्यैः पाशैः शत्रून् सिनातु) इन मेरे शत्रुओंको आपत्ति मृत्युके न टूटनेवाले पाशोंसे बांध देवे ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुष) जैसे तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्द्धि) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड दे और (सहस्व च) उसको जीत ॥ ६ ॥

(बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे छूटी हुई नौकाके समान (ते अधराञ्चः प्रप्लवतां) वे अधोगतिके मार्गसे बहते चले जावें (वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः लौटना नहीं होता ॥ ७ ॥

(एनान् मनसा प्रनुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूं । (चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूं । (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एनान् प्र नुदामहे) इनको हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥

हे शूर ! जिस प्रकार नौकासे लोग समुद्रको पार कर जाते हैं, उसी प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥

हे शक्तिमान् ! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पडें ॥ ५ ॥

जिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है, उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवें और उनके सिर तोड देवें ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जावें । ऐसे एकबार गिरकर वे फिर कभी न उठें ॥ ७ ॥

मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूं ॥ ८ ॥

वीर पुरुष

अश्वत्थकी अन्योक्ति

यह सूक्त अश्वत्थकी अन्योक्ति है। अन्योक्ति अलंकार पाठक जानते ही हैं। एकका प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरेके ही विषयमें कहनेका नाम अन्योक्ति है। इसी प्रकार यहां अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर पुरुषका वर्णन किया है। इसलिये यह अश्वत्थान्योक्ति है।

'अश्वत्थ' शब्दके बहुत अर्थ हैं— (१) पीपल वृक्ष, (२) [अश्व-स्थ] अश्वके समान बलवान् बनकर रहनेवाला वीर, (३) [अ-श्व-स्थ] जो कल रहेगा ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, नश्वर; (४) सूर्य, (५) अश्विनी नक्षत्र इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं। यहां पहले दो अपेक्षित हैं।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है, 'यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् अधरान् कृण्वे। (म० ६)' इस दृश्यपर काव्य दृष्टिसे यह अलंकार हो सकता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बडा भारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पांवके नीचे दबाता है और अन्य वृक्षोंके सिरपर अपना पांव रख कर खडा हो जाता है। जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रुके सिरको अपने पांवके नीचे दबाता है, उसी प्रकार मानो पीपलका यह कृत्य है। इसलिये अश्वत्थवृक्षकी अन्योक्तिसे इस, सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है।

आनुवंशिक संस्कार

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रमें ही कहा है कि 'पुंसः पुमान् परिजातः,' वीरसे वीर संतान उत्पन्न होती है। वीरके कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य कुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते, अपितु यहां वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहां रहता है यही दिखाया है। बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करनेके कारण वीरके संतानका वीरतासे युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मन्त्रोंमें कहा है और मन्त्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शत्रुका लक्षण

इस सूक्तमें 'वै-बाध' (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होनेका लक्षण कहा है (म० २, ७)। वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन क्षेत्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी खडी करते हैं। ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। शत्रुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा एनान् प्र नुदे।
(म० ८)

'मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये। मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करनी चाहिये कि जिससे शत्रु भी यहीं नष्ट हो जावे। तात्पर्य यह कि हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये।

गिरावटका मार्ग

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो उपद्रवी होते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं। उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मन्त्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है—

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराञ्चः प्र प्लवन्ताम्।
वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति॥ (म ७)

'बंधनसे नौका जैसे छूटती है और जल प्रवाहसे बहती जाती है, उसी प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्टलोग अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जाते हैं। उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है।

इस मन्त्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्रका अवलोकन करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट

देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाति दूसरी जातिको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो यह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती। जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं। साम्राज्यमदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसे दबे हुएको वहां दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबानेवालेको भी वहां ही रहना पडता है। इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी जाति, जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है। यह जानकर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे। दूसरेपर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिका मार्ग खुला रह सकता है।

विजयकी तैयारी

इस सूक्तमें 'सहमान, सासहान' (मं० ४) ये दो शब्द हैं, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, असह्य' ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर भी जो अपना स्थान नहीं छोडता।

२ असह्य, सासहान- इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संमुख ठहर नहीं सकता।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये। तभी विजय होगी।

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

सुभाषित

(अथर्व. १२।१)

१. सत्यं बृहद् ऋतं उग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (मं. १)- सत्य, बृहद्भाव, सरलता, उग्रता, दक्षता, तप, कष्ट सहन करनेकी शक्ति, ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृभूमिको धारण करते हैं (सज्जनोंका सत्कार करना, परस्पर संगठन करना और निर्बलोंको दान देना यज्ञ है)।

२. सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु (१)- वह मातृभूमि हमारे भूतकालकी रक्षा करनेवाली थी, उसी प्रकार वह हमारे भविष्यकालकी रक्षा करनेवाली भी है और सब परिस्थितियोंमें हमें वह सुरक्षित रखनेवाली है। वह हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र प्रदान करे।

३. असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु (२)- हमारी मातृभूमिमें रहनेवालोंमें ऊंच-नीचकी असमानताके साथ ही समता भी बहुत है।

४. पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः (२)- यह मातृभूमि हमारा यश सब जगह फैलावे।

५. यस्यां अन्नः कृष्टयः संबभूवुः (३-४)- इस मातृभूमिमें किसान आपसकी सहायता एवं संगठनसे बहुतसा अन्न पैदा करें।

६. सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु (३)- वह हमारी मातृभूमि हमें खाने पीनेकी बहुतसी सामग्री देवे।

७. सा नो भूमिः गोष्वप्यन्ने दधातु (४)- वह हमारी मातृभूमि हमें गाय और अन्न देवे।

८. यस्यां पूर्वे पूर्वजनाः विचक्रिरे (५)- जिस मातृभूमिमें हमारे पूर्वजनोंने विशेष पराक्रम किया।

९. यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् (५)- जिस मातृभूमिमें देवोंने असुरोंको पराजय करके उन्हें भगा दिया।

*

१०. गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु (५)- हमारी मातृभूमि गाय घोडे और पशु-पक्षियोंके रहनेके लिये भी स्थान देती है, वह हमें भी भाग्य और तेज देवे।

११. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवशनी द्रविणे नो दधातु (६)- सबका भरणपोषण करनेवाली, धनके खानोंको अपने अन्दर छुपाकर रखनेवाली, सोनेके खानोंवाली, चराचरको आधार देनेवाली यह मातृभूमि हमें भरपूर धन दे।

१२. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादं, सा नो मधुप्रियं दुहां, अथो उक्षतु वर्चसा (६)- आलस न करनेवाले देव प्रमाद न करते हुए हमारी मातृभूमिकी रक्षा करते हैं। वह प्रिय मधुररस देकर हमें तेजसे युक्त करे।

१३. यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः (८)- ज्ञानी मनुष्य अपनी शक्तियोंसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं।

१४. सा नो भूमिः त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे (८)- वह हमारी मातृभूमि हमारे राष्ट्रमें तेज और बल स्थापित करे।

१५. यस्यां आपः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति (९)- मातृभूमिके सेवक जल प्रवाहके समान दिन रात भ्रमण करते हुए लोगोंकी सेवा करते हैं।

१६. सा नो भूमिः भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा (९)- वह हमारी मातृभूमि हमें अनेक धारोंसे दूध देकर हमें तेज युक्त करे।

१७. यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे, इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः, सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः (१०)- अश्विनौ

देवोंने जिसे मापा, विष्णुने जिस पर पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्रने जिसे शत्रुरहित किया, वह हमारी मातृभूमि अपने पुत्रों (हम) को दूध देवे।

१८. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु (११)- हे मातृभूमि ! तेरे पर्वत, हिमशिखर और जंगल हमें सुख देनेवाली हों।

१९. अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् (११)- अविजित, न मरनेयोग्य, क्षतादिसे रहित मैं इस पृथ्वीका अध्यक्ष होकर रहूं।

२०. यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः। तासु नो धेहि, अभि नः पवस्व (१२ -तुझपर जिन वीरोंने जन्म लिया है, उनमें हमें स्थापित कर और हमारी रक्षा कर।

२१. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२)- यह भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूं।

२२. सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१३)-यह भूमि स्वयं भी बढती हुई हमारा संवर्धन करे।

२३. यो नो द्वेषत् पृथिवि, यः पृतन्यात्, योऽभिदासान्मनसा, यो वधेन, तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि (१४)- हे मातृभूमि ! जो हमसे द्वेष करते हैं, जो सेना लेकर हम पर हमला करते हैं, जो मनमें हमें दास बनानेकी इच्छा करते हैं, जो वध करके हमारा नाश करना चाहते हैं, हे अपूर्व कार्य करनेवाली हमारी मातृभूमि ! तू उनका नाश कर।

२४. त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः (१५)- तुझपर जन्मे हुए मनुष्य तेरी पीठ पर सवार करते हैं। तू ही दोपायों और चौपायों को धारण करके उनका भरण पोषण करती है।

२५. तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति (१५)-ये पांच प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं, जिनके लिए सूर्य उदय होकर अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है।

२६. ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् (१६)- हे हमारी मातृभूमि ! यह हमारी प्रजा एकत्र होकर आपसमें मीठे शब्द बोले और मुझसे भी मीठे शब्द बोले।

२७. पृथिवीं धर्मणा धृतां शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा (१६)- धर्मके द्वारा धारण की गई इस मातृभूमि की सेवा हम हमेशा करते रहें।

२८. महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादं (१८)- महान् इन्द्र प्रमाद रहित होकर तेरी रक्षा करता है।

२९. सा नो भूमे प्ररोचय (१८)- हे मातृभूमि ! तू हमें तेजस्वी कर।

३०. मा नो द्विक्षत कश्चन (१८, २३, २५)- हमसे कोई भी द्वेष न करे।

३१. पृथिव्यासितज्ञुः त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु (२१)- पृथ्वीपर जो अग्नि है, वह मुझे तेजस्वी और प्रसिद्ध करे। (असित-ज्ञुः)= उल्टे मार्गसे जानेवाली अग्नि।

३२. भूम्यां मनुष्याः जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः (२२)- पृथ्वीपर मनुष्य धारणशक्ति बढानेवाले अन्नसे जीवित रहते हैं।

३३. भूम्यां देवेभ्यो ददाति यज्ञं हव्यं अरंकृतम् (२२)- मातृभूमिपर देवोंके लिए अलकृत हवनसामग्रीसे यज्ञ करता हूं।

३४. सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु, जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु (२२)- वह हमारी मातृभूमि हमें प्राण और आयु देवे और वृद्धावस्थातक हमें रहने योग्य बनावे।

३५. तेन मां सुरभिं कृणु (२३-२४)- उससे मुझे सुगंधित कर।

३६. तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (२६)- अपने अन्दर सोनेको धारण करनेवाली मातृभूमिको मैं नमस्कार करता हूं।

३७. पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि (२७)- सबको धारण करनेवाली मातृभूमिके विषयमें हम हमेशा अच्छे शब्द ही बोलें।

३८. मा व्यथिष्महि भूम्याम् (२८)- मातृभूमिको हम दुःख न दें।

३९. रक्षाभि नि षीदेम भूमे (२९)- हे मातृभूमि ! हम तेरे आश्रयसे रहें।

४०. शुद्धा नः आपः तन्वे क्षरन्तु (३०)-हमारे शरीरकी शुद्धताके लिए साफ पानी बहता रहे।

४१. यो नः सेदुरप्रिये तं निदध्मः (३०)-जो हमें कष्ट देता है, उन्हें यह मातृभूमि दुःख देती है।

४२. पवित्रेण पृथिवी मोत्पुनामि (३०)- हे मातृभूमि ! पवित्रतासे मैं अपनेको पवित्र करता हूं।

४३. या प्रदिशः स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु

(३१)– सब दिशायें सब जगह संचार करनेवाले मेरा कल्याण करनेवाली हों।

४४. मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः (३१)- जहां हम रहते हैं, वहां हमारा पतन न हो।

४५. स्वस्ति भूमे नो भव (३२)– हे मातृभूमि! हमारे लिए तू कल्याण करनेवाली हो।

४६. मा विदन् परिपन्थिनः (३२)– शत्रु मुझे न जान सकें।

४७ वरीयः यावया वधम् (३२)–हमारे श्रेष्ठ वीर हमारे शत्रुओंका वध करनेके लिये जावें।

४८. मे चक्षुः मा मेष्ट उत्तरामुत्तरां समाम् (३३) – मेरे नेत्र वृद्धावस्थामें भी प्रकाश देते रहें।

४९. ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् (३६)–'हे मातृभूमि! तुझ पर होनेवाले सब ऋतु और दिन रात मेरे लिए सुखदायक पदार्थ दें।

५०. यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह (३९)– जिस हमारी भूमिमें प्राचीन समयमें अद्भुत कार्य करनेवाले ऋषि, मुनि, तप, यज्ञ आदि सत्रमें स्तुति गाते थे।

५१. सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे (४०)–वह मातृभूमि हमें यथेच्छ धन देवे।

५२. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां (मर्त्याः) (४१)–जिस मातृभूमिमें मनुष्य आनन्दसे गाते और नाचते हैं।

५३. युध्यन्ते यस्यां आक्रन्दो यस्यां वदति दुंदुभि (४१)–जिस मातृभूमिके लिए वीर पुरुष युद्ध करते हैं और युद्धके समय नगाड़ेकी आवाज गूंजती है।

५४. सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्, असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु (४१)– वह हमारी मातृभूमि शत्रुओंको दूर करके मुझे शत्रुरहित करे।

५५. यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्यामिमाः पञ्च कृष्टयः (४२) जिस मातृभूमिमें चावल और जौ उत्पन्न होते हैं और पांच प्रकारके लोग जिसकी पीठपर रहते हैं।

५६ यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (४३)– जिस मातृभूमिमें देवोंके द्वारा बसाये गए नगर हैं और जिस क्षेत्रमें वीर पुरुष विशेष पराक्रम करते हैं।

५७. प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भां आशामाशां रण्यां नः कृणोतु (४३)– प्रजापति सबको अपने गर्भमें धारण करनेवाली इस हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशाओंमें रमणीय करे।

५८. निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (४४)– हमारी मातृभूमि अनेक प्रकारके धन अपनेमें धारण करती है, वह हमें रत्न और सोना देवे।

५९. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (४५)– हमारी मातृभूमि अनेक भाषा बोलनेवाले और अनेक धर्मावलम्बी मनुष्योंको एक घरके मनुष्योंके समान धारण करती है।

६० सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती (४५)– लात न मारनेवाली गायके समान यह हमारी मातृभूमि हमें हजारों धाराओंसे धन दे।

६१. यस्ते सर्पो वृश्चिकः तृष्टदंश्मा ... मोप सृपत् (४६)– जो सर्प, बिच्छू आदि प्राणि पृथ्वीकी पीठ पर रहते हैं वे मेरे पास न आवें।

६२. यच्छिवं तेन नो मृड (४६, ४७) जो कल्याणकारक है, उसकी सहायतासे हमें सुखी कर।

६३. ये ते पन्थानो बहवो जनायना, रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे, यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रं अतस्करम् (४७)– तेरी पीठपर लोगोंके आने जानेके और रथके मार्ग हैं, जिनसे पापी और पुण्यशाली लोग आते जाते हैं, उन रास्तोंको शत्रुरहित और चोररहित कर, ताकि हम विजयी हों।

६४. रक्षो अप बाधयास्मत् (४९)– राक्षसोंको हमसे दूर कर।

६५. पिशाचान्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय (५०)– हे मातृभूमि! सब पिशाचों और राक्षसोंको हमारे पाससे दूर कर।

६६. सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि (५२)– वह मातृभूमि हमें हमारे प्रिय घरोंमें कल्याणपूर्वक सुरक्षित रखे।

६७. अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः (५४) – मैं विजयी, उच्चतर और श्रेष्ठ होकर मातृभूमिमें रहता हूं, मैं सब ओरसे विजयी होकर शत्रुको पराजय करता हूं।

६८ ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते (५६)- जो गांव, जो जंगल और जो सभायें हमारी मातृभूमिमें हैं और जो युद्ध होते हैं, इन सब स्थानोंमें तेरे बारेमें हम उत्तम यशका ही कथन करें।

६९ यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि (५८)- जो मैं बोलूं वह मीठा ही बोलूं।

७० त्विषीमानस्मि जूतिमान् अवान्यान् हन्मि दोधतः (५८)- मैं तेजस्वी ज्ञानी हूं, जो घातक कृत्य करते हैं, उनका नाश करता हूं।

७१ यत् त ऊनं तत्त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य (६१) तुझमें जो न्यूनता हो, वह प्रजापालक और सत्यका प्रथम प्रवर्तक पूर्णता करेगा।

७२ उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः (६२)- तुझसे उत्पन्न हुए हुए हम नीरोग एवं आरोग्य सम्पन्न होकर हे मातृभूमि! तेरे समीप उपस्थित रहें।

७३ दीर्घं न आयुः (६२)- हमारी आयु दीर्घ हो।

७४ प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम (६२)- ज्ञानी होकर हम तेरे लिए बलि देनेवाले होवें।

७५ भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् (६३)- हे मातृभूमि! मुझे उत्तम रीतिसे कल्याणपूर्वक प्रतिष्ठित कर।

७६. संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् (६३)- हे ज्ञानी! मुझे हमेशा ज्ञानयुक्त और सम्पन्नता कर और ऐश्वर्योंमें भी हमें और ज्यादा ऐश्वर्यवान् कर।

विराट् (कां. ८।१०)

१. विराड् वा इदमग्र आसीत्, तस्या जातायाः सर्वमबिभेद् इयमेवेदं भविष्यतीति (१)- प्रथम सब जगह राजविहीन स्थिति थी, अतः इस अवस्थासे सबको भय हुआ कि कहीं यह राजविहीन स्थिति हमेशा तो नहीं रहेगी।

२. सोऽदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् (२)- वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होकर गृहस्थाश्रमके रूपमें परिणत हुई।

३. सोऽदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् (८)- वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होकर ग्रामसभामें परिणत हुई।

४ सोऽदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् (११)- वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होकर राष्ट्रसमितिमें परिणत हुई।

५ सोऽदक्रामत् सा मन्त्रणे न्यक्रामत् (१२)- वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होकर मन्त्रिमण्डल में परिणत हुई।

राष्ट्रीदेवी (कां. ४।३०)

१. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (१)- मैं राष्ट्रीयशक्ति हूं, मैं धन एकत्रित करती हूं, मैं ज्ञानी और पूजनीयोंमें भी पूजनीय हूं।

२ तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः (२)- बहुत उत्साह बढानेवाले देव सर्वत्र विद्यमान मुझ राष्ट्रशक्तिको अपने अन्दर विशेष रूपसे धारण करते हैं।

३ अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् (३)- मानवों और देवोंमें यह शक्ति आदरणीय है, यह मैं स्वयं कहता हूं।

४ यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं तं सुमेधाम् (३)- मैं राष्ट्रशक्ति जिसको उन्नत करना चाहती हूं उसे उग्रवीर, ब्राह्मण, ऋषि और उत्तम बुद्धिमान् करती हूं।

५. मया सोऽन्नमत्ति, यो विपश्यति, यः प्राणिति, य ईं शृणोत्युक्तम् (४)- मेरी कृपासे वह अन्न खाता है, देख सकता है, जीवित रह सकता है और हमारी बातोंको सुनता है।

६. अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि, श्रुत, श्रद्धेयं ते वदामि (४६)- मेरा (राष्ट्रशक्तिका) जो अपमान करता है, वह विनाशको प्राप्त होता है। हे विद्वान् पुरुष! यह सुन। श्रद्धाके योग्य उपदेशोंको मैं तुझे देती हूं।

७ अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ (५)- मैं रुद्र (उग्र, भयंकर) वीरोंको धनुष तानकर तैयार कर देती हूं, इस कारण ज्ञानसे द्वेष करनेवाले दुष्टोंका नाश होता है।

८ अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश (५)- मैं लोगोंके लिए हर्षदायक पदार्थ देती हूं, मैं द्युलोकसे पृथ्वीतक फैली हुई हूं।

९. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् (७)- मैं इस राष्ट्र के लिए राष्ट्र रक्षकका निर्माण करती हूं।

राष्ट्रसभाकी अनुमति (कां ७।१२)

१ सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने (१)– सभा और समिति य दोनों राजाकी पुत्रियां ह और राजाका सरक्षण करती ह।

२ येना सगच्छा उप मा स शिक्षात् (१ – जिन सभासदोंसे म मिलू, वे मुझ उत्तम सलाह द।

३ चारू वदानि पितर सगतेषु (१)– हे सभा सदो ! म सभामें उत्तम भाषण करू।

४ ये त के च सभासद ते मे सन्तु सवाचस (२)– तेरे जो सभासद ह, वे मेरे साथ मधुर बोलनवाले हो

५ विद्म त सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि (२) – हे सभा ! तेरा नाम हम जानते ह तेरा नाम अहिंसक है।

६ एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे (३)– इन सभासदोंके पाससे म तेज और ज्ञान प्राप्त करता हूं।

७ अस्या सर्वस्या ससदो मामिन्द्र भागिन कृणु (३)– हे इन्द्र ! इन सभी सभाओंका मुझे भागीदार बना।

(कां ७।९१)

१ बाधतां द्वेषो अभय न कृणोतु (१) शत्रुओं में भीति उत्पन्न कर हमें निर्भय करो।

२ सुवीर्यस्य पतय स्याम (१)– उत्तम वीरत्वके हम स्वामी होकर रहे।

(कां. ७।९२)

१ अस्मदाराद्द्वेष सनुतर्युयोत (१)– हमसे द्वष करनेवाले हमारे शत्रु दूर हों।

२ वय भद्रे सौमनसे स्याम (१ – हम कल्याण कारक मनकी उत्तम स्थितिम रहें।

(कां ७।९३)

१ इन्द्रेण मन्युना वयमभिष्याम पृत यत घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति (१)– उत्साहरूपी इन्द्रके साथ रहकर हम चढाई करनेवाले शत्रुको जीतते ह और घरनवाले शत्रुओंको सैन्य सहित मार डालते हैं।

(कां ७।९४)

१ क्षत्रभृत् दीदिहीह (१)– क्षत्रियोंका भरण-पोषण कर यहां प्रकाशित हो।

२ त्रिध्या अमावा प्रमुञ्चन् (१)– सब रोगोंको दूर कर।

३ मानुषाभिरद शिवाभिरद्य पारपाहि नो गयम् (१) मनुष्योंके कल्याणदायक सगठनसे हमारे घरोंका सरक्षण कर।

४ अपानुदो जनममित्रयन्त (२ – शत्रुओंके सहा यकोंको दूर करो।

५ उरु देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् (२)– दिव्य जनोंके लिए विस्तृत स्थान तयार करो।

६ सूक्ष्म सशाय पविमिन्द्र तिग्म वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व (३)– वाण और वज्र तीक्ष्ण कर शत्रु ओंको मार और हिंसकोंको दूर कर।

(कांड ६।८८)

१ ध्रुवो राजा विशामय (१)– इन प्रजाओंम राजाको स्थिर कर।

२ राष्ट्र धारयतां ध्रुवम् (२)– राष्ट्रको स्थिरतासे धारण कर।

३ ध्रुवोऽच्युत प्रमृणीहि शत्रून्, शत्रुयतोऽध रान् पादयस्व (३)– अवनतिकी ओर न जाते हुए स्थिर होकर शत्रुका नाश कर और हमसे शत्रुत्व करनेवाले दुष्टों को नीचे गिरा दे।

४ ध्रुवाय त समिति कल्पतामिह (३)– तेरी स्थिरताके लिए राष्ट्रसमिति समर्थ हो।

(कां ६।५४)

१ अस्य क्षत्र श्रिय मही वृष्टिरिव वर्धया तृणम् (१ – जिस प्रकार वर्षा धन धान्य और घास आदि बढाती है, उसी प्रकार इस राजाके क्षात्रतेजसे धन और भूमि बढ।

२ इम राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुत युज उत्तरम् (२) – इस राजाको राष्ट्रके मुख्य पुरुषोंम योग्य और अधिक श्रेष्ठ करो।

३ सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्मान् अभिदासति सर्वं त रन्धयामसि (३)– जो हमारा भाई अथवा और कोई दूसरा मनुष्य हम दास बनाना चाहता है उन सबका ना। हम करते ह।

(कां ४।८)

१ (यो) भूतेषु पय आदधाति स भूतानाम धिपतिर्बभूव (१)– जो प्राणिमात्रको दूध सदृश उपयोगी पदार्थ देता है, वह प्राणियोंका अधिपति होता है।

२ स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् (१ – वह राजा इस राष्ट्रका अनुमोदन करे।

३ अभिप्रेहि, माप वेन, उग्रश्चेता सपत्नहा (२) – आगे बढ पीछे मत हट, तू उग्रवीर, चेतना देनेवाला और शत्रुओंका नाश करनेवाला हो।

४ आतिष्ठ मित्रवर्धन (२)– हे मित्र बढाने वाले ! तू अपने स्थान पर स्थिर हो।

५ श्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः (३)– सम्पत्ति प्राप्त करके अपने तेजसे वह संचार करता है।

६ विक्रमस्व दिशो महीः (४)– महान दिशाओंमें तू पराक्रम कर।

७ विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (४)– सारी प्रजायें तुझे चाहें, तुझसे प्रेम करें।

(कां. ३।५)

१ वर्ली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् (१)– अपने बलसे जो शत्रुका नाश करते हैं वे ही वास्तवमें बलवान् होते हैं।

२ मयि धारयताद्रयिम् (२)– मुझमें धन धारण करो।

३ अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः (२)– मैं राष्ट्रमें और हितकारी पुरुषोंमें उत्तम और उनका अपना होकर रहूं।

४ अस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे (३)– दीर्घायुष्यके साथ भरणपोषणके लिए देव उसे हमें दे।

५ तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (४)– मैं अत्यंत तेजस्वी होकर सबको दीर्घायु प्राप्त हो इसलिए उनका प्रिय करता हूं।

६ ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् (६)– जो बुद्धिमान्, रथकार और लोहार हैं, उन सबको हे पर्णमणे ! तू मेरे सामने उपस्थित कर।

७ ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृणु, अभितो जनान् (७)– जो सरदार, राजा निर्माण करनेवाले सूत और ग्रामनेता हैं, उन्हें तू मेरे पास उपस्थित कर।

(कां. ३।४)

१ आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि (१ – तेरे पास जो राज्य आया है, उसमें तू तेजके साथ उदयको प्राप्त हो।

२ प्राङ् विशांपतिरेकराट् त्वं विराज (१)– प्रजाका एक प्रमुख स्वामी एक राजा होकर तू विराजमान हो।

३ सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु (१)– हे राजा ! सब दिशाओंमें रहनेवाली तेरी प्रजा तुझे बुलावे।

४ उपसद्यो नमस्यो भवेह (१)– पास जाने योग्य और नमस्कारके लायक हो।

५ त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वां इमाः प्रदिशः पञ्च देवीः (२)– इन सब दिशाओंमें रहनेवाली तेरी पांच प्रकारकी प्रजायें तुझे राज्यके लिए पसन्द करें।

६ वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि (२)– राज्यमें ऊंचे स्थान पर आरूढ होकर, शूर वीर होकर हमें धन बांट।

७ जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति-पश्यासं उग्रः (३)– पत्नी और पुत्र उत्तम मनके हों, उग्रवीर होकर (प्रजासे) तू कर इकट्ठा कर।

८ पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य, वरीयस्ते अक्रन् (७)– समानतासे चलनेवाली, धनयुक्त अनेक स्वरूपकी सब प्रजायें मिलकर तेरे लिए श्रेष्ठ स्थान तैयार कर रहा है।

९ तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु (७)– वे सब प्रजाजन एकमतसे तेरी प्रशंसा करें।

१० दशमीमुग्रः सुमना वशेह (७)– सौ वर्षकी पूर्णायु प्राप्त कर उत्तम मनका होकर यहां तू अपने वशमें होकर रह।

(कां. ६।९८)

१ इन्द्रो जयाति न पराजयातै (१)– इन्द्र विजय प्राप्त करता है। वह कभी भी पराजित नहीं होता।

२ अधिराजो राजसु राजयातै (१ – तू राजाओंमें अधिक तेजस्वी होकर अधिराजा हो।

३ चर्कृत्य ईड्यः वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह (१)– शत्रुओंके नाश करनेवालेके रूपमें स्तुति करने योग्य, वंदनीय, प्रणामके योग्य और पास जाने योग्य होकर यहां रह।

४ श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् (२)- तू कीर्तिमान और लोगोंको समृद्ध करनेवाला हो।

५. स्वं वैश्योर्विश इमा विराज (२)- तू न विश्व प्रजाजनोंपर विराजमान हो।

६. आयुष्मत् क्षत्रं अजरं ते अस्तु (२)- तू दीर्घायु हो, तेरी आत्मशक्ति कभी बूढी न हो।

(का. ३।३)

१. ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रतिमित्रा अवृषत (५)- प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे मददके लिए बुलावें, मित्र तेरा बल बढावें।

२. विश्वेदेवास्ते विशि क्षेममदीधरन् (५)- सब देव तेरी प्रजाका कल्याण करें।

(का. २।५)

१. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष (३)- पर्वत पर रहनेवाले अहिको उसने मारा, उसके लिए त्वष्टाने तीक्ष्ण वज्र तैयार किया।

(कां. १।२१)

१. स्वस्तिदा विशांपतिः (१)- प्रजाको सुख देनेवाला राजा हो।

२. नीचैः यच्छ पृतन्यतः (२)- सैन्यके साथ आक्रमण करनेवाले शत्रुओंको नीचे गिरा दे।

३. अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति (२)- जो हमें दास बनानेकी इच्छा करता है, उन्हें घोर अंधकारमें डाल।

४. वि रक्षो वि मृधो जहि (३)- राक्षसों और दुष्टोंका वध कर।

५. अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् (४)- द्वेष करनेवाले मनको द्वेषसे दूर कर और हमारी आयुके नाश करनेवालेको दूर कर।

६. वि महच्छर्म यच्छ (४)- हमें महान् सुख दे।

७. वरीयो यावया वधम् (४)- वध करनेवालोंको दूर कर।

(का. १।३१)

१. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु, स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः (४)- हमारे मातापिताओंका कल्याण हो, गाय, प्राणी और पुरुषोंके लिए कल्याण प्राप्त हो।

२. विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु (४)- सब प्रकारकी उत्तम स्थिति हमें प्राप्त हो।

३. ज्योगेव दृशेम सूर्यम् (४)- हम सूर्यको चिरकाल तक देखते रहें।

(कां. १।२९)

१. अस्मिन् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय (१)- हे ब्रह्मणस्पते ! हमें राष्ट्रके लिए बढा, हमारी वृद्धि और उन्नति कर।

२ अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः, अभि पृतन्यन्तं तिष्ठ, अभि यो नो दुरस्यति (३)- शत्रुओंको पराजित कर, दुष्टोंको दूर कर, सेना लेकर चढाई करनेवालोंसे मुकाबला कर और दुःख देनेवालोंका सामना कर।

३ राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे (४)- *राष्ट्रके हितके लिए और शत्रुओंको हटानेके लिए यह मणि मेरे शरीर पर बांधो।*

४. यथाहं शत्रुहोऽसानि असपत्नः (५)- मैं शत्रुओंको पराजय करके और शत्रुओंका वध करके शत्रुरहित होऊं।

५. सपत्नक्षयणो वृषाऽभिराष्ट्रो विषासहिः यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च (६)- शत्रुओंका नाश करनेवाला, बलवान् अपने राष्ट्रका हित करनेवाला, और शत्रुका पराभव करनेवाला होकर इस लोकमें और वीरोंमें मैं तेजस्वी होऊं।

(कां. ३।२९)

१. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः (१)- नियमानुसार चलनेवाले इस राजाकी सभाके सभासद उत्पादनका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं।

२. अविस्तस्मात् प्रमुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा (१)- यह कर प्रजाकी रक्षा करता है, उसे विनाशसे बचाता है और स्वयकी धारणाशक्ति बढाता है।

३. यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितं, स नाकमभ्यारोहति, यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे (३)- जो लोग इस रक्षक करको देते हैं, वे ऐसे स्वर्गमें जाते हैं, जहां निर्बलको बलवान्के लिए कुछ देना नहीं पडता।

(कां. ८।३)

१. स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् (१)- वह हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावे।

२. परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षसो हरसा शृणीहि (१३)- यातना देनेवालोंको अपने तपसे नष्ट कर। हे अग्ने! अपने तेजसे राक्षसोंका नाश कर।

३. यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसाऽपि वृश्च (१५)- जो मनुष्यों अथवा घोडोंका मांस खाते हैं, जो गायका दूध भरकर चुरा ले जाते हैं, उन दुष्टोंके सिर बलसे तोड डाल।

(कां. ८।४)

१. तपतं रक्ष उब्जतं, न्यर्पयतं, वृषणा तमोवृधः (१)- हे बलवान् वीरो! राक्षसोंको कष्ट देकर उन्हें मार डालो, अन्धकार बढानेवाले दुष्टोंको नीचे गिरा दो।

२. परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः (१)- जो अन्तःकरणरहित दुष्ट हैं, उनका नाश करो, उनको नष्ट करो, मारो, भगा दो, दूसरोंको खानेवालोंको निर्बल करो।

३. ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने (२)- ज्ञानसे द्वेष करनेवालों, कच्चे मांस खानेवालों और क्रूर दृष्टिके खाऊ लोगोंसे द्वेष करो।

४. दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतं (३)- दुष्कर्म करनेवालोंको अगाध अन्धकारमें डाल दो।

५. यतो नैषां पुनरेकश्चनो दयत् (३)- दुष्ट लोगोंमें एक भी फिर न उठें, ऐसा कर।

६. अघशंसाय तर्हणं (४)- पापियोंकी ओर विनाशक अस्त्रोंको फेंको।

७. तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छव (३)- वह तुम्हारा उत्साह युक्त बल शत्रुओंके दमनके लिए हो।

८. येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः (४)- जिससे बढनेवाले राक्षसोंका नाश हो, ऐसा करो।

९. हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः (७)- द्रोहकारी और विनाशक राक्षसोंको मारो।

१०. यो मा पाकेन मनसा चरन्तं अभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः (८)- पवित्र मनसे व्यवहार करनेवाले मेरी जो असत्यवचनोंसे निन्दा करते हैं, उन्हें दूर करो।

११. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् (१२)- ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्यको बताया जाता है, कि सत्य और असत्य भाषणमें स्पर्धा होती है। उसमें जो सत्य और सरल है उसकी सोम रक्षा करता है और असत्यका नाश करता है।

१२. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति (१३)- सोम कपटियोंकी सहायता नहीं करता।

१३. न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तं (१३)- मिथ्याचारी क्षत्रियोंकी सोम सहायता नहीं करता।

१४. हन्ति रक्षो, हन्त्यासद् वदन्तम् (१३)- राक्षस और असत्य बोलनेवालोंको वह मार देता है।

१५. यदि वाहमनृतदेवो अस्मि, मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे (१४)- यदि मैं असत्यकी उपासना करूं और यदि देवोंकी व्यर्थ प्रार्थना करूं, तो हे अग्ने! क्या तू मुझपर नाराज होगा?

१६. द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् (१४)- द्रोहयुक्त वचन बोलनेवालोंका विनाश हो।

१७. अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि (१५)- यदि मैं दूसरोंको यातना देनेवाला होऊं तो आज ही मैं मर जाऊं।

१८. अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह (१५)-जो मुझ अहिंसकको हिंसक कहता है, वह दसों वीरोंसे वियुक्त हो जाए। (उसकी दसों इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो जाए)

१९. यो मायातुं यातुधानेत्याह, यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह, इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन, विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट (१६)- जो मुझ अहिंसकको हिंसक कहता है, जो राक्षस होकर भी स्वयंको शुद्ध और पवित्र कहता है इन्द्र उसे महान् शस्त्रसे मार डाले, सब प्राणियोंमें वह नीच अवस्थामें पहुंचे।

२०. गृभायत रक्षसः संपिनष्टन (१८)- राक्षसोंको पकडो और उनको पीस दो।

२१. प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन (१९)- सामने, पीछे, आगे, नीचे और ऊपरके राक्षसोंको पर्वतास्त्रसे मारो।

२२. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानं उत स्त्रियं मायया शाशदानाम्। विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु, मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् (२४)- हे इन्द्र! यातना देनेवालोंका नाश कर, तथा कपट व्यवहार करनेवाली स्त्रियोंका भी नाश कर। मूर्ख उपासकोंके सिर तोड दिए जाए और वे उगते हुए सूर्यको भी न देख सकें।

(कां. १।१९)

१. दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् विविध्यत (२)- देवों और मनुष्योंके द्वारा छोडे गए बाण शत्रुओंपर जाकर गिरें।

२. यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्टयः यो अस्मानभिदासति रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् विविध्यतु (३)- जो स्वकीय या परकीय, अपनी जातिका या नीच जातिका मनुष्य हमें दास बनाना चाहता है, उसे रुद्र अपने बाणोंसे मार दे।

३. यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् (४)- जो शत्रु या मित्र हमसे द्वेष करते हैं, हमें शाप देते हैं, सब देव उनका नाश करें। मेरे अन्दर ज्ञानका कवच है।

(कां ६।१३५)

१. यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे स्कन्धानमुष्य शातयन् (१)- मैं जो खाता हूँ, उससे अपना बल बढाता हूँ, इसी प्रकार मैं अपने हाथोंमें वज्र धारण कर शत्रुओंके कंधों और बाहुओंको तोडता हूं।

(कां. ७।१४)

१. स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आददे (१)- द्वेष करनेवाली स्त्री या पुरुषके तेजको हरता हूँ।

(कां. ६।९७)

१. इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रं इन्द्रं सखायो अनुसंरभध्वं ग्रामजितं, गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा (१)- हे मित्रो ! हे उग्रस्वभाववाले वीरो ! गांव और गाय जीतनेवाले, वज्रके समान सुदृढ बाहुओंवाले, विजयी और ओजस्वितासे शत्रुओंको मारनेवाले इन्द्रके अनुकूल व्यवहार करो।

(कां. ६।६६)

१. निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि (३)- शत्रु हाथोंसे रहित हों, मैं उनके अंगोंको निर्बल करता हूँ।

(कां. ६।६७)

१. मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् (१)- शत्रुसेना मोहित होकर दूर भाग जाए।

२. मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः (२)- शत्रु पागलोंके समान होकर भटकते रहें और बेसिरवाले सांपोंके समान हों।

३. तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् (२)- उस भ्रान्त हुई हुई शत्रुसेनामेंसे श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकों को इन्द्र मारे।

(कां ४।३)

१. परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः, परेण दत्वती रज्जुः, परेणाघायुरर्षतु (२)- भेडिया दूर भाग जावे, चोर दूर भाग जावें, नागिन दूर चले जायें और पापी भी दूर भाग जायें।

(कां. ७।९०)

१. ओजो दासस्य दम्भय (१)- हिंसकोंके बलको नष्ट कर।

(कां. १।७)

१. वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः (३)- कष्ट, यातना देनेवाले खाऊ और लुटारु रोवें।

२. ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य (४)- सब दुष्ट पास आकर स्वीकार करें कि वे दुष्ट हैं।

३. यातुधानान् विलापय (५)- दुष्टोंको रुला।

४. यातुधानानुपबद्धां इहा वह, अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु (७)- दुष्टोंको बांधकर यहां ला और इन्द्र वज्रसे उनके सिर काट दे।

(कां. ३।१)

१. विद्वान्भविदद्भिभि शस्तिमरातिम् (१)- हमारे विद्वान् आपसमें मारपीट करनेवाले शत्रुओंको जला दें।

२. स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः (१)- वह अग्नि शत्रुकी सेनाको मोहित करे और उसे हाथोंसे रहित करे।

३. ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् (४)- तेरा वज्र शत्रुको मारते हुए आगे बढे।

४. इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् (५)- हे इन्द्र ! शत्रुसेनाको मोहित कर।

(कां. ३।२)

१. असौ या सेना मरुतः परेषां अस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् (६)- हे मरुतो ! यह शत्रुसेना

*

जो स्पर्धा करते हुए हम पर आक्रमण करती हुई चली आती है, उसे तमसास्त्रसे बाँध दो, जिससे कि वे सैनिक एक दूसरेको पहचान न सकें।

(कां. १।१०)

१. शतं जीवाति शरदस्तथायम् (२)- यह तेरा मनुष्य सौ वर्षतक जीवित रहे।

(कां. ७।११५)

१. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् (१)- जो पुण्यकारक लक्ष्मी है, वह आनन्दसे यहां रहे और जो पापी भावनाएं हैं, वे नष्ट हो जाएं।

(कां. ६।११५)

१. यद्विद्वांसो यदविद्वांसो एनांसि चकृमा वयं यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः (१)- जाने अथवा अनजाने हमने यदि कुछ पाप किया हो तो हे विश्वेदेवो ! तुम एकमत होकर हमें उस पापसे छुडाओ।

२. यदि जाग्रत् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरं, भूतं मा तस्मात् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् (२) - जागते हुए या सोते हुए मैंने यदि कुछ पाप किया हो, तो जिस प्रकार खम्भेसे बंधे हुए पशुओंको मुक्त करते हैं, उसी प्रकार हे देवो ! मुझे भूत और भविष्यकालके पापोंसे मुक्त करो।

३. द्रुपदादिव मुमुचानः, स्विन्नः स्नात्वा मलादिव, पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः (३)- बन्धनसे जिसप्रकार पशुओंको मुक्त करते हैं, स्नानसे जिस प्रकार मल दूर करते हैं और जिस प्रकार घी को छान कर शुद्ध करते हैं, उसी प्रकार सब देव मुझे पापोंसे मुक्त करके शुद्ध करें।

(कां. ४।३३)

१. अप नः शोशुचदघम् (१-५)- हमसे पाप दूर रहे।

(कां. ५।२६)

१. वशी सम्मृडयासि नः (१)- स्वयंको वशमें रखनेवाला तू हमें सुखी करता है।

(कां. १६।२)

१. मधुमती वाक् ऊर्जा (२।१)- मीठी वाणी बल-बढानेवाली होती है।

२. मधुमतीं वाचमुदेयम् (२।२)- मैं मीठी वाणी बोलूं।

३. सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम् (२।४)- मेरे दोनों कान सुन्दर बातें सुनें, दोनों कान सुन्दर बोली सुनें, मैं भी कल्याणकारक काव्य सुनूं।

४. मूर्धाहं रयीणां, मूर्धा समानानां भूयासम् (३।१)- धनियोंमें मैं ऊंचा होऊं और अपने समानस्तरके लोगोंमें भी श्रेष्ठ होऊं।

५. असंतापं मे हृदयम् (३।६)- मेरा हृदय शांत रहे।

६. मां मा प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् (४।३)- प्राण और अपान मुझे छोडकर न जायें।

७. अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् (५।१) - आज हमने विजय प्राप्त करली है और जो कुछ पाना था वह पा लिया है। हम निष्पाप हो गये हैं।

८. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् (८।१)- हम विजय, उदय, सरलता, तेज, ज्ञान, आत्मतेज, यज्ञ, पशु, प्रजा और वीरोंसे युक्त हों।

(कां. १७।१)

१. विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसं, सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्, ईड्यं नाम ह इन्द्रमायुष्मान्भूयासम् (१)- अत्यन्त सामर्थ्यवान्, बलवान्, विजयी, शत्रुओंको दबानेवाले ओजस्वी, दिग्विजयी, अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, भूमि और धन जीतनेवाले इन्द्रको मैं प्रार्थना करता हूं, उससे मैं दीर्घायुवाला बनूं।

२. प्रियो देवानां भूयासम् (२)- मैं देवोंका प्रिय बनूं।

३. प्रियः प्रजानां भूयासम् (३)- मैं प्रजाओंका भी प्रिय बनूं।

४. प्रियः समानानां भूयासम् (५)- अपने समानस्तरके मनुष्योंका भी प्यारा बनूं।

५. द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम् (६) - द्वेष करनेवाले मेरे अधिकारमें रहें, पर मैं शत्रुओंके अधिकारमें कभी न रहूं।

६. सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् (१९)- मेरे लिए परम आकाशमें अमृत रख।

७. ऊतिभिः शिवाभिः शंतमो भव (१०)- तू अपने कल्याणकारक संरक्षणके साधनोंसे हमें सुख देनेवाला हो।

८. रुचिरसि रोचोऽसि (२१)- तू तेजस्वी और प्रकाश युक्त है।

९. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि (२०)- तू वीर्यवान् और तेजस्वी है।

(कां. ८।८)

१. यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः (१) – शत्रुओंके हजारों सैनिकोंको हम मारें।

२. अमित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् (२)- शत्रुओंके हृदयोंमें हमारा भय रहे।

३. हन्त्वेनान्वधको वधैः (३-४)- मारनेवाला शस्त्रोंसे उन दुष्टोंको मारें।

४. तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् (६)- शत्रुओंको सब ओरसे अधिकारमें ला और उनमेंसे किसीको भी भागने मत दे।

५. नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य (११)- हे मृत्युदूत और यमदूतो ! उन्हें ले जाओ, वे हजारोंकी सख्यामें मारे जाएं। ईश्वरकी बुद्धिके अनुसार उनका नाश करो।

६. मामीषां मोचि कश्चन (१९)- इन शत्रुओंमेंसे कोई छूट न पाये।

७. अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम्। अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि (२०) – उनके शस्त्र नीचे गिर जाएं, प्रतिपक्षीके बाण सहनेमें वे असमर्थ हों। अब बहुत डरे हुए उन शत्रुओंके मर्मस्थानोंको हमारे बाणोंसे बींध दो।

८. इतो जयेतो वि जय सं जय जय (२४)- यहां से आगे अब विजय प्राप्त हो, यहांसे जीत हो और उन्हें उत्तम प्रकारसे विजय मिले।

९. इमे जयन्तु परामी जयन्तां (२४)- उन्हें विजय मिले और उनके शत्रुओंको पराजय मिले।

१०. स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः (२४)- उन (सज्जनों) के लिए शुभवचन हों और शत्रुओंके लिए शाप हो। स्वाहा= शुभाशीर्वाद; दुराह= शाप, बुरे शब्द।

(कां. ५।३)

१. मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम (१)- चारों दिशाएं मेरे सामने झुक जाएं, तेरे समान अध्यक्षके साथ रहकर हम शत्रुसेनाको जीते।

२. अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः (५)- हम उत्तम वीर होकर शरीरसे सुरक्षित रहें।

३. मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या (६)- दुष्ट शत्रु हमें न जानें।

४. मा नो रीरिषो मा परा दाः (८)- हमारा नाश न हो, तुम हमारा त्याग न करो

५. ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु (१०)- हमारे जो शत्रु हैं, वे दूर हों।

(कां. १।२७)

१. असमृद्धा अघायवः (२-३)- पापी समृद्ध न हों।

(कां. ७।५०)

१. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (८)- कर्तव्य मेरे दांये हाथमें और जय मेरे बांये हाथमें हो।

२. गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् (८) – मैं गाय, घोडे, धन और सोने जीतनेवाला होऊं।

(कां. ३।२२)

१. येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु (३)- जिस तेजसे देवोंको देवत्व प्राप्त हुआ उस तेजसे आज मुझे तेजस्वी कर।

(कां. ३।१९)

१. संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलं संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः (१)- मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा यह बल तेजस्वी है, यह मेरा तेजस्वी क्षात्रतेज क्षीण न हो जिनका मैं पुरोहित हूं।

२. समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्। वृश्चामि शत्रूणां बाहून् (२)- मैं उनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, मैं उनका सामर्थ्य, वीर्य और बल तेजस्वी करता हूं और शत्रुओंके बाहू तोडता हूं।

३. नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यात् (३)- जो हमारे ज्ञानियों और धनिकों पर सैन्य भेजता है, वह अवनत हो।

४. क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् (४) – मैं शत्रुओंको क्षीण करता हूं और अपने बान्धवोंको ज्ञानसे उन्नत करता हूं।

५. तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत । इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः (४)- जिनका में पुरोहित हूं, उनके शस्त्र कुल्हाडीको अग्नि और इन्द्रके वज्रको अपेक्षाभी तेज करता हूं।

६. एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। (५)- उनके शस्त्र में तीक्ष्ण करता हूं और उनके राष्ट्रोंको उत्तम वीरोंसे युक्त करके बढाता हूं।

७. एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः (५)- उनका क्षात्रतेज क्षीण न हो, वह विजयी हो उनके चित्तोंको सब देव सुरक्षित रखें।

८. उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः। (६)- उनकी सेना उत्साह युक्त हो, जीतनेवाले वीरोंका जयघोष महान् हो।

९. पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् (६) - झण्डा लेकर चलनेवाली सेनाका जयघोष बहुत ऊंचा हो।

१०. प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः (७) - आगे बढो, विजय प्राप्त करो, हे शूरवीरो। आपकी बाहुएं जय प्राप्त करनेवालीं और वीरतापूर्ण हों।

११. तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबला- नुग्रबाहवः (७)- तीक्ष्ण बाण से युक्त, तीक्ष्ण शस्त्रों- वाले तथा दृढ और मजबूत भुजाओंवाले वीर कमजोर धनुषवाले निर्बल सैनिकोंको मारें।

१२. जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन (८)- शत्रुसेनामेंसे अच्छे अच्छे सैनिकोंको मार डाल, उनमेंसे किसीको भी न छोड।

(कां ३।२०)

१. नो वर्धया रयिम् (१)- हमारा धन बढे

२. प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् (२) हे प्रजाजनोंके स्वामी ! हमें धन दे। तू हमें धनोंको देनेवाला है।

३. सूनृता रयिं देवी दधातु मे (३)- सत्य, सरल, स्वभावसे देवी मुझे धन देवे।

४. सर्वे इजनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत् (६)- सब मनुष्य सहयतासे लिए उत्तम मनके और उत्तम दान देनेवाले हों।

५. रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ (८)- सब पुत्र- पौत्रादि युक्त धन हमें दो।

६. प्राप्येयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च (९)- मनसे और हृदयसे सब संकल्प हम प्राप्त करें।

(कां. ६।५३)

१. पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु। (२)- प्राण, आत्मा, चक्षु और जीवनशक्ति हमें फिर प्राप्त हो।

२. सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा स शिवेन। (३)- तेज, दूध, शरीर और शुभसंकल्प- युक्त मनसे हम युक्त हों।

(कां. ६।४१)

१. अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः (३)- सब देव मनुष्योंमें रहें और हम दीर्घ- जीवनके लिए दीर्घायु धारण करें।

(कां. ४।२२)

१. इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् (१)- हे इन्द्र ! इस मेरे राजा (क्षत्रिय) को बढा और उसे सब प्रजाओंमें बलवान् कर।

२. निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु (१)- उसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और उन शत्रुओंको मुकाबलेमें नष्ट कर।

३. वर्ष्मन् क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै (२)- क्षत्रियोंमें यह राजा मध्य हो, हे इन्द्र ! उसके सब शत्रुओंका नाश कर।

४. अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा। (३)- वह धनका धनपति हो, यह राजा प्रजाका स्वामी हो।

५. अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य (३)- हे इन्द्र ! उनमें महान् तेज स्थापित कर और उसके शत्रुओंको निस्तेज कर।

६. येन जयन्ति न पराजयन्ते (५)- जिससे हमेशा जीत हो मिलती है, पराजय कभी नहीं होती।

७. यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् (५)- जो तुझे सब मनर्ष्योंमें श्रेष्ठ, उत्तम बलवान् और मानवोंके राजाओंमें उत्तम करता है।

८. उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते। (६)- तू उच्च हो, तेरा शत्रु नीचे गिरे, जो भी शत्रु हों, वे अधोगतिको जाएं।

९. सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् (७)- सिंहके समान तू प्रजासे सब भागोंको प्राप्त कर, बाघके समान सब शत्रुओंको तू सब शत्रुओंको हैरान करनेवाला हो।

१०. एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाँ छत्रूयतामा छिदा भोजनानि (७)- तू ही एकमात्र बलवान् होकर विजयी हो तुझसे शत्रुता करनेवालोंका भोजन छीन ले।

(कां. ६।१९)

१. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया, पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा (१)- दिव्य जन मुझे पवित्र करें, मननशील लोग मुझे पवित्र करें, विश्वकी समस्त प्रगति मेरी पवित्रताकी रक्षा करे, वायु मेरी पवित्रताको सुरक्षित रखे।

(कां. ६।१५)

१. सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः (२)- हमारे रिश्तेदार, भाई अथवा शत्रु अथवा जो हमारा नाश करना चाहता है, उन सबमें मैं उसी प्रकार उत्तम होऊं, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें सोम।

(कां. ६।४०)

१. अनमित्रं नो अधराद् अनमित्रं न उत्तरात् इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रः पुरस्कृधि (३)- इन्द्र नीचेसे, उपरसे, पीछेसे, आगेसे और सब ओरसे हमें शत्रुरहित कर।

(कां. ७।५२)

१. सं जानामहै मनसा, सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन (२)- मनसे हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, ज्ञान प्राप्त करके एक मतवाले होकर रहें। दिव्य मनसे युक्त होकर हम आपसमें एक दूसरेसे द्वेष न करें।

(कां. ५।२०)

१. शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्। वाग्वीव मंत्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्याय इषमुद् वदेह (११)- जिस प्रकार उपदेशक सभाको अपनी आवाजसे भर देता है, उसी प्रकार शत्रुओंको जीतनेवाला, नित्य विजयी, शत्रुओंको वशमें रखनेवाला, शत्रुओंको खोजनेवाला, बलवान् और शत्रुको उखाड देनेवाला तू अपने शब्दसे आकाश और पृथ्वीको भर दे और संग्राम जीतनेके लिए अन्न और बलकी घोषणा कर।

(कां. ५।२१)

१. विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे, विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु नि दध्मसि (१)- शत्रुके मनमें उदासीनता और व्याकुलता निर्माण कर, विद्वेष, कलह और भय शत्रुओंमें उत्पन्न कर।

१. एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः अमित्रान् नो जयन्तु (१२)- यह देवसेना सूर्यचिन्हवाली ध्वजा लेकर एकमतसे शत्रुओंको जीते।

(कां. ६।८७)

१. आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठ अविचाचलत्, विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् (१)- तुझे राजगद्दी पर बिठाया है। स्थिर हो, अन्दर आ, चंचलता छोड दे, सब प्रजायें तुझे चाहें तेरे कारण राज्य नष्टभ्रष्ट न हो।

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

उ प मा सू ची

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

कांडक्रमानुसार सूक्तोंकी

अनुक्रमणिका

*

अथर्ववेद---

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

कांड-सूक्त-विषय-मंत्र-ऋषि-देवताओंकी

अनुक्रमणिका

अथर्ववेद-

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

वर्णानुक्रम-मंत्रसूची

*


BHARATIYA VIDYA BHAVAN
BOMBAY-7
LIBRARY